विषय वस्तु

प्रकाशक की टिप्पणी

1. उपनिवेशवाद और अंतरजातीय कम्युनिस्ट आंदोलन
2. भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का गठन
3. कम्युनिस्ट आंदोलन का विस्तार और औपनिवेशिक राज्यों का दमन
4.जनसंघर्षों का उभार – क्रांति की राह पर एक कदम
5. दक्षिणपंथी अवसरवादी कार्यदिशा
6. कट्टरपंथी वामपंथी साहसवादी कार्यदिशा
7. तेलंगाना कार्यदिशा
8. संशोधनवादी कार्यदिशा
9. नवसंशोधनवाद का पर्दाफाश

परिशिष्ट

1. अनौपनिवेशीकरण पर विवाद
2. भाकपा और संयुक्त मोर्चा
3. भाकपा और द्वितीय विश्वयुद्ध
4. भाकपा और राष्ट्रीयता के प्रश्न
5. सारणियाँ

टिप्पणियाँ

1917 की विजयी अक्टूबर क्रांति ने उपनिवेशों और नवउपनिवेशों के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के इतिहास में एक नया अध्याय प्रारंभ कर दिया था। साम्राज्यवाद के युग में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन वैश्विक साम्यवादी आंदोलन का एक अविभाज्य अंग हो गया था। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात सारी ही दुनिया के उपनिवेशों और अर्धउपनिवेशों में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों की जबर्दस्त लहरें उठ खड़ी हुई थीं। उन राष्ट्रीयताओं को, जो अभी तक राष्ट्रों के बंदीगृह – जारकालीन रुस द्वारा निर्दयतापूर्वक दमित थीं, अक्टूबर क्रांति के परिणामस्वरूप आत्मनिर्णय का अधिकार प्राप्त हो गया था। पहले रुसी कम्युनिस्टों ने और आगे चलकर कोमिण्टर्न ने राष्ट्रीय आंदोलनों का खुला समर्थन किया और उन्हें हर संभव मदद प्रदान की थी। इस प्रकार अक्टूबर क्रांति ने, औपनिवेशिक दुनिया में चल रहे संघर्षों में जबर्दस्त तेजी ला दी थी और उन पर अमिट प्रभाव छोड़ा था। राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों में वाम शक्तियाँ उभर आई थीं और उनके बीच अपना प्रभाव फैलाने लगी थीं। युद्ध के दौरान ही, औपनिवेशिक विश्व में सर्वहारा एक नई ऐतिहासिक शक्ति के रूप में उठ खड़ा हुआ था और अब वह इन राष्ट्रों के भाग्य निर्णय में अपनी निर्णयकारी भूमिका निभा सकता था। लेनिन ने और कोमिण्टर्न ने औपनिवेशिक विश्व में कम्युनिस्ट पार्टियों के निर्माण की तीव्र आवश्यकता को पहचान लिया था और पूरी तत्परता के साथ इस काम में लग गये थे।

पिछड़े औपनिवेशिक विश्व में कम्युनिस्ट पार्टियों का जन्म और विकास; बोल्शेविज्म की प्रेरणा से राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों में आये उफान के बीच हुआ था। औपनिवेशिक देशों का बड़ा पूंजीपति वर्ग अपनी प्रकृति से ही दलाल था और यह दिन–प्रतिदिन अधिकाधिक प्रतिक्रियावादी होता जा रहा था। वे अपने सामने एक चुनौतीपूर्ण वस्तुगत परिस्थिति को उभरता हुआ देख रहे थे, जिसके अंतर्गत उपनिवेशवाद और सामंतवाद के उन्मूलन के लक्ष्य वाला जनवादी क्रांति का कार्यभार, सर्वहारा खुद अपने हाथों में उठा लेने वाला था।

यह थी वह परिस्थिति, जब भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का हमारे देश में जन्म और विकास हुआ था। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के जन्म के समय, हमारे देश में किसानों और अन्य उत्पीड़ित वर्गों ने सामंतवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध वीरतापूर्ण और अनथक संघर्ष छेड़ रखा था। एक तरफ, राष्ट्रवादी क्रांतिकारियों ने अपनी त्रुटिपूर्ण समझ और कार्रवाइयों के बावजूद ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के दिलों में आतंक पैदा कर रखा था तो दूसरी तरफ समूचे देश में विशाल जनसमुदाय साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रीय आंदोलन में बढ़–चढ़कर हिस्सा लेने लगे थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (आई एन सी) के भेष में दलाल पूंजीपति वर्ग ने राष्ट्रीय आंदोलन पर अपना नेतृत्व स्थापित कर रखा था और वे इसे मात्र पराजय की ओर लिए चले जा रहे थे। इन ऐतिहासिक स्थितियों में ही कम्युनिस्ट पार्टी आफ इंडिया का जन्म हुआ था। इन ऐतिहासिक परिस्थितियों को पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर ही, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की भूमिका को समझा जा सकता है और उनका समुचित मूल्यांकन किया जा सकता है, जो इसने आधुनिक भारत की इस विप्लवी उथल–पुथल से भरे इस वीरतापूर्ण और कई बार अस्त–व्यस्त और त्रासद अवधि में निभाई, जिसके परिणाम में सत्ता का हस्तांतरण हुआ था और भारतीय जनता का सामंतवाद तथा साम्राज्यवाद की दासता से मुक्ति पाने की अभिलाषा अपूर्ण ही रह गई थी।

स्वतंत्रता आंदोलन की विभिन्न धारायें

साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन, जो बीसवीं सदी की शुरुआत से लहरदार गति से आगे बढ़ा था, दरअसल संघर्ष की विभिन्न धाराओं का संगम था। जनाधार वाली पार्टी के रूप में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के उदय के पहले से ही निम्न पूंजीवादी प्रकृति के राष्ट्रीय

आंदोलनकारी औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध संघर्षरत थे। राष्ट्रीय आंदोलन के विकास के साथ ही साथ राष्ट्रवादी क्रांतिकारियों की गतिविधियाँ भी जोर पकड़ने लगी थीं और राष्ट्रीय आंदोलन का महत्वपूर्ण हिस्सा बन रही थीं। इससे भी आगे बढ़कर क्रांतिकारियों ने जनता की भूमिका को पहचानना शुरू कर दिया था और वे समाजवादी विचारधारा तथा बोल्शेविज्म की तरफ आकर्षित होने लगे थे। दूसरी तरफ सर्वहारा, साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष का एक जुझारू अंग बन गया था। चूंकि सर्वहारा अपने वर्गहित और अपनी राष्ट्रीय आंदोलन का उसकी सम्पूर्णता में नेतृत्व करने में सक्षम वर्ग के रूप में उभरकर सामने आ रहा था। किसान संघर्ष और आदिवासी संघर्ष, जो ब्रिटिश शासन के प्रारंभ से ही जारी थे, बीसवीं सदी में भी जंगली आग की तरफ फैलते जा रहे थे, और साम्राज्य विरोधी राष्ट्रीय आंदोलन के महत्वपूर्ण प्रेरक शक्ति वर्ग बने हुए थे। अंग्रेजी भाषा में शिक्षित मध्य वर्ग भी, जो बुर्जुआ आदर्शों से प्रेरित थे, इस आंदोलन में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे थे।

यहाँ तक कि दलाल पूंजीपति वर्ग ने भी इस आंदोलन में भाग लिया था, निश्चय ही इसमें उनका अपना गुप्त मंसूबा था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का नेतृत्व जो दलाल पूंजीपति और सामंती वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व करता था, उपरोक्त क्रांतिकारी सामाजिक शक्तियों के विपरीत कभी भी साम्राज्यवादी उत्पीड़न और लूट की पूर्ण समाप्ति का आकांक्षी नहीं रहा था, क्योंकि साम्राज्यवाद के साथ उनका संबंध कत्तई शत्रुतापूर्ण नहीं था। मूलतः उनका और साम्राज्यवादियों का हित समान था और इसीलिए उन्होंने कभी भी सम्पूर्ण स्वतंत्रता की वास्तविक मांग नहीं की। वे हमेशा से कुछ रियायतें चाहते रहे थे, ज्यादा से ज्यादा वे सत्ता में अपनी हिस्सेदारी चाहते थे। लेकिन वे इतने बुद्धिमान तो थे ही कि इस सच्चाई को पहचान सकें कि अपनी विभिन्न धाराओं के साथ, देशव्यापी जनवादी क्रांतिकारी उत्थान न केवल साम्राज्यवाद के लिए ही बल्कि देशी सामंती और दलाल पूंजीपति वर्गों के वजूद के लिए भी खतरनाक थे। यही कारण है कि कांग्रेस के नेतृत्व, साम्राज्यवादियों की सांठ–गांठ में राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व करने के बहाने हर तरह से इस आंदोलन से घात करने में और इस प्रकार अर्धसामंती तथा औपनिवेशिक संबंधों की सुरक्षा करने में लगे रहे। कांग्रेसी नेतृत्व ने पूरे राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान ही, आंदोलन के प्रत्येक अग्र कदम पर, नेतृत्व के लिए सामने आ जाने की और आंदोलन के चरम पर पहुंचते ही, मुंह छुपा लेने की, पीछे हट जाने की कपटनीति रखी थी। इसने साम्राज्यवाद विरोधी जन उभार का साम्राज्यवादियों के साथ सौदेबाजी करने और कुछ रियायतें हासिल करने में इस्तेमाल किया।

औपचारिक इतिहासकारों के लिए राष्ट्रीय आंदोलन को कांग्रेस द्वारा, खास तौर से गांधी, नेहरु जैसे इसके सर्वोच्च नेताओं द्वारा उत्पन्न किया हुआ बताने का सामान्य चलन रहा है। लेकिन हकीकत में यह किसान, सर्वहारा, आदिवासी और निम्न पूंजीपति वर्ग की तथा क्रांतिकारियों की ताकत थी, और उनके अनथक संघर्षों द्वारा उत्पन्न शक्तिशाली दबाव था, जिसने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के गठन को और एक ऐसे संगठन के उदय को प्रेरित किया, जो व्यापक जनसमुदाय को नियंत्रित करने, झुकाने और डांवाडोलन करने में समर्थ था; जो शक्तिशाली साम्राज्य विरोधी जन विद्रोह के शीर्ष पर नेतृत्व के रूप में मान्य था, सिर्फ आंदोलन के साथ विश्वासघात करने के लिए; और जो आगे चलकर नारों में पूर्ण स्वराज की मांग करने वाला भी था। बीसवीं शताब्दी के स्वतंत्रता संग्राम को भलीभांति समझने के लिए यह आवश्यक है कि इसे उन साम्राज्य विरोधी और सामंतविरोधी संघर्षों के तारतम्य में ही देखा जाए, जो किसानों, आदिवासियों और अन्य उत्पीड़ित जनों द्वारा भारत में ब्रिटिश शासन के पैर जमाने के साथ ही छेड़े गये थे। और इसी के साथ, हमें शोषण और उत्पीड़न के उन तमाम नये रूपों पर भी ध्यान देना होगा, जो ब्रिटेन ने, औद्योगिक पूंजीवाद

की मंजिल से वित्तीय पूंजीवाद की मंजिल में संक्रमण के दौरान, भारत में अपनाये थे। हमें ब्रिटेन के नये साम्राज्यवादी हितों, नीतियों और इसके परिणामस्वरूप हमारे देश में, वर्ग संबंधों में आये परिवर्तनों पर भी ध्यान देना होगा।

ब्रिटिशों की औपनिवेशिक नीतियां

ब्रिटिश पूंजीवाद के औद्योगिक पूंजीवादी चरण से साम्राज्यवाद, अर्थात् वित्तीय पूंजी के चरण में बदल जाने से हमारे देश की आबादी पर औपनिवेशिक लूट का भार और अधिक बढ़ गया। ब्रिटिश वित्तीय पूंजी के शासन के अधीन औद्योगिक पूंजी इस द्वारा किये जा रहे शोषण के अतिरिक्त हमारे देश को वित्तीय पूंजी के औपनिवेशिक दमन–उत्पीड़न का सामना करना पड़ा। औद्योगिक पूंजी के चरण में उपनिवेशवादी मुख्यतः कच्चे माल और प्राकृतिक संशाधनों को लूटते थे। परंतु वित्तीय पूंजी के चरण में उन्होंने भारत में आधुनिक उद्योगों की स्थापना करना शुरू कर दिया जैसे कि जूट और कपड़ा उद्योग, तथा बागबानी में भी निवेश किया। आधुनिक उद्योगों की स्थापना, यद्यपि कि साम्राज्यवादियों के हित में की गई थी, परंतु इसने भारत में नई ऐतिहासिक शक्ति– आधुनिक औद्योगिक सर्वहारा को भी जन्म दिया। दलाल व्यापारिक वर्ग बड़ा पूंजीपति बनने के लिए उछाल भरने लगा। इस आधुनिक भारतीय बुर्जुआ के हित अपने जन्म के साथ ही साम्राज्यवादियों के हितों से अंतर्बद्ध थे अतः यह अपने जन्म से ही दलाल था। औपनिवेशिक शासन ने भी इसे अपने भरोसेमंद सामाजिक अवलंब के रूप में पहचान लिया था। इसका अर्थ यह नही है कि इस दलाल बुर्जुआ का साम्राज्यवाद के साथ कोई अंतर्विरोध हीं नहीं होता, बल्कि कहने का आशय यही है कि यह शत्रुतापूर्ण नहीं होता।

यह भलीभांति ज्ञात तथ्य है कि किसानों और आदिवासियों ने ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के स्थापित होने के समय से ही सामंतवाद और उपनिवेशवाद, दोनों के विरुद्ध विद्रोह संगठित किये थे। ये विद्रोह जो अलग–अलग सामने आते थे, दमित कर दिये जाते थे। परंतु 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम ने ब्रिटिश शासन की बुनियादों को हिला कर रख दिया था। परंतु मुख्यतः, नेतृत्व में सामंती ताकतों के काबिज होने की वजह से इस शानदार संघर्ष को असफलता ही हाथ लगी। निश्चय ही औपनिवेशिक शासकों ने भी अपने सबक हासिल किये थे थे और उन्होंने भारत में अपने शासन के लिए मित्रवत देशी ताकतों की जरूरत महसूस की थी जो उनके शासन के अवलंब बन सकें, उसे सहारा दे सकें और इसीलिए उन्होंने जमींदारों, राजाओं और नवाबों जैसे सामंतों के साथ मित्रतापूर्ण संबंध स्थापित किये। छः सौ के करीब राजसी राज्यों के सामंती प्रभु विशेष रूप से अंत तक ब्रिटिश मुकुट के प्रति स्वामी भक्त बने रहे थे।

औपनिवेशिक शासकों को यहां तक विश्वास था कि देशी सामंतों, दलाल पूंजीपतियों तथा साम्राज्य के प्रति उनकी अटल स्वामी भक्ति के बल पर, भारत में ब्रिटिश शासन स्थाई बना रहेगा। इस आत्मविश्वास के साथ ब्रिटेन ने भारत को अपने औपनिवेशिक साम्राज्य का प्रधान स्तंभ बनाया तथा इसने भारतीय सेना का आधुनिकीकरण तथा विस्तार किया और अपने साम्राज्य के विस्तार तथा उसकी सुरक्षा के लिए इसका इस्तेमाल किया। यह भारत की औपनिवेशिक सेना ही थी जिसने उत्तर–पूर्व तथा वर्मा में ब्रिटेन के विस्तारवादी युद्ध लड़ा था। ब्रिटेन ने मिस्र और सूडान में भी भारतीय सेना का इस्तेमाल किया था। इस तरह औपनिवेशिक भारतीय सेना भारत के खजाने पर भारी बोझ बन गई थी। 1904–05 तक ब्रिटिश भारत के सैन्य खर्च का बजटीय अनुपात 1881–82 के 41.9 प्रतिशत से बढ़कर 51.

1 प्रतिशत हो गया था। स्वाभाविक रूप से औपनिवेशिक सरकार ने तीव्रगति से बढ़ते हुए सरकारी खर्च को पूरा करने के लिए जनता पर भारी कर लगाये।

भूराजस्व जो सरकार की आय का बड़ा स्रोत था, 1881–82 से 1901–02 की अवधि में, इस दौर की भीषण अकाल की स्थिति के बावजूद, 19.67 करोड़ रुपये से बढ़कर 23.99 करोड़ रुपये हो गया। किसान वर्ग जो पहले से ही दिवालिया हो चुका था, कर्ज के जाल में जकड़ गया और भारी कर के बोझ से दबकर और भी कंगाल हो गया। जमींदारी और रैयतबारी दोनों ही इलाकों में किसानों के उपद्रव और भारी करों, ऊंचे किरायों और साहूकारी के विरुद्ध संघर्ष उठ खड़े हुए थे। ये किसान संघर्ष तथा आंदोलन बीसवीं सदी में भी जारी थे।

औपनिवेशिक शासकों ने जंगल और जंगली उत्पादों पर आदिवासियों के प्राकृतिक एवं परंपरागत अधिकारों पर रोक लगा दी और अपने कराधार में वृद्धि के लिए वन कानूनों के द्वारा इन्हें हड़प लिया। 1867 के बाद से 'सुरक्षित वनों' में स्थानांतरी जुताई पर मनाही और रोक लगा करके वन उपज पर एकाधिकार स्थापित करके आदिवासियों को उनकी परंपरागत जीविका से वंचित कर दिया गया। आदिवासी किसानों को मरणांतक संघर्ष के लिए बाध्य होना पड़ा क्योंकि उनका अस्तित्व ही खतरे में था। भारत के उपनिवेश–विरोधी संघर्षों के इतिहास में आदिवासी जनों ने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध, अपने निरंतर और दुर्दांत विद्रोहों के हस्ताक्षरों से, एक गौरवशाली वीरतापूर्ण अध्याय रच डाला। आदिवासियों के निरंतर संघर्षों की यह परम्परा 1857 के बाद तक जारी रही।

आदिवासी संघर्ष

वन क्षेत्रों पर औपनिवेशिक शासकों की गिरफ्त के और भी कसे जाने से 1870 के और 1880 के वर्षों में आदिवासी विद्रोहों की एक और लहर उठ खड़ी हुई थी। विख्यात संथाल विद्रोह के दमन के बाद से 1870 में सफाहार या खेखाार आंदोलन/1868 में गुजरात के नायकदा की जंगली जनजाति का विद्रोह, 1882 में कछार के काछा नागाओं का विद्रोह उठ खड़ा हुआ था। विशाखापट्टनम एजेंसी (आंध्रप्रदेश) में, आदिवासियों ने एक कोंडा डोरा/कोरी मल्लैई के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया। 1879–80 में पुनः विख्यात रम्पा/पितुरी/नामक विद्रोह उठ खड़ा हुआ। इसी एजेंसी के/कोया और/कोंडा डोरा आदिवासी 1840, 1845, 1858, 1861 में भी विद्रोह में उठ खड़े हुए थे। बहरहाल 1872 का रम्पा 'पितुरी' सबसे बड़ा विद्रोह था। इसी क्षेत्र में आदिवासियों ने इस बार रामा डांडू नामक विद्रोह का संगठित किया था। 1916 में रम्पा पुनः उठ खड़ा हुआ था।

बहरहाल इस अवधि का सबसे प्रधान विद्रोह 1899–1900 में बिरसा मुंडा के नेतृत्व में छोटानागपुर में हुआ था। 1883 में कोलियों ने विद्रोह कर दिया था। जगदलपुर के आदिवासियों ने बस्तर राजा के खिलाफ विद्रोह कर दिया था। 1914 में उड़ीसा में कोंडा जनजाति ने दसपन्ना के राजसी राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। 1914 में ही ओरांव और मुंडा आदिवासी छोटा नागपुर में उठ खड़े हुए थे। 1917 में मणिपुर की जनजातियों ने तथा मयूरगंज के संथालों ने विद्रोह छेड़ दिया था। 1913 में राजस्थान के भील, भील राजा के विरुद्ध उठ खड़े हुए थे।

इन सभी आदिवासी किसानों के संघर्षों का उद्देश्य जंगल और जंगली उत्पादों पर उनके परंपरागत अधिकारों की रक्षा करना था। उन्होंने ब्रिटिश शक्ति को अपने अधिकार और राजनीतिक सत्ता को पुनः स्थापित करने के लिए चुनौती दी थी। इन आदिवासी विद्रोहों का

नेतृत्व सामान्यतः परम्परागत मुखियाओं ने किया था। 20वीं सदी के राष्ट्रीय आंदोलन ने इनमें से कुछ को अवश्य प्रभावित किया था।

किसान संघर्ष

औपनिवेशिक शासन के अधीन, आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था के बिखराव, और उपनिवेश्वादियों द्वारा स्थापित नये सामंती संबंधों की वजह से शोषण तथा उत्पीड़न में होने वाली विकराल वृद्धि ने किसानों को पूरी तरह से कंगाल कर दिया था। नकदी फसलों और मुद्रा–आधारित सामंती संबंधों ने किसानों को ऋणजाल में जकड़ दिया था। साहूकारी, किसानों के शोषण का प्रधान रूप हो गई थी और और कर्ज देने वाले साहूकार जो अब ग्रामीण भारत के भयानक तत्व बन गये थे, किसानों का खून चूस रहे थे।

ग्रामीण व्यवस्था में आये इन सारे ही बदलावों ने किसानों के भीतर काफी हताशा पैदा कर दी थी और वे आंदोलित हो उठे थे। 1859–60 में, बंगाल के नील किसानों के बीच एक जबर्दस्त विप्लव उठ खड़ा हुआ। मालाबार के मोपला मुसलमान, मुस्लिम पट्टाधारी और जोतदार, उन सवर्ण हिंदू जमींदारों के विरुद्ध 1882–1885 तथा 1896 में उठ खड़े हुए थे, जिन्हें ब्रिटिशों का संरक्षण प्राप्त था। मोपलाओं ने 1839 और 1919 के बीच बाइस बार विद्रोह छेड़ा था। दक्षिणी मालाबार के हिंदू किसानों ने भी इन जमींदारों के विरुद्ध 1860 और 1870 के वर्षों में विद्रोह किया था। दकन महाराष्ट्र में नकदी फसलों के शिकार किसानों के कर्जजाल से जकड़े हुए, दीवालिए कपास उपजाने वालों ने 1875 में भू लगान और साहूकारी में होने वाली भीषण बढ़ोत्तरी के खिलाफ बगावत छेड़ दी। इसी तरह पब्ना के जूट का उत्पादन करने वाले किसानों ने भी साहूकारों और जमींदारों के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया था। अगले दो दशकों में, इसी तरह के आंदोलन पूर्वी बंगाल के अनेक जिलों में उठ खड़े हुए थे। 1879 में महाराष्ट्र के नीची जाति वाले रामोजी भी फड़के के नेतृत्व में बागी हो गये थे और इनके सक्रिय संघर्षों को किसानों का समर्थन भी प्राप्त था।

अकाल पीड़ित दकन महाराष्ट्र के किसानों ने 1896–97 में लगान माफी की मांग करते हुए लगान–नहीं आंदोलन चलाया। 1899–1900 के अकाल के बाद लगान–नहीं आंदोलन सूरत, नासिक, खेड़ा और अहमदाबाद जिलों में फैल गया। ऐसे ही लगान–नहीं आंदोलन 1893–94 आसाम के कामरुप, दरांग जिलों में फैल गये थे।

आदिवासी संघर्षों की तरह ही किसान संघर्षों का नेतृत्व भी परंपरागत जाति प्रमुखों और धार्मिक संतों–महंथों के हाथों में ही था। यद्यपि अक्सर ही ये आंदोलन सीधे–सीधे साम्राज्यवाद या सामंतवाद के विरुद्ध लक्षित नहीं होते थे, फिर भी ये सामंती और औपनिवेशिक लूट और उत्पीड़न के विरुद्ध ही उठ खड़े होते थे। इसलिए इन संघर्षों को उपनिवेशवाद विरोधी और सामंतवाद विरोधी मानना ही पूर्णतः सही है। 20वीं शताब्दी के बाद से किसान संघर्षों पर आधुनिक उदार बुर्जुआ का और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसस का प्रभाव परिलक्षित होने लगा था।

अंग्रेजी शिक्षित वर्ग

19वीं शताब्दी के अंत तक अंग्रेजी शिक्षित भारतीयों की तादाद काफी तीव्र गति से बढ़ रही थी। 1880 में दसवीं तक पढ़े–लिखों की संख्या 50,000 तक पहुंच गई थी। अंग्रेजी भाषा का अध्ययन कर रहे लोगों की तादाद 1957 के 2,98,000 से बढ़कर 1887 में 5,05,000 हो गई थी। बढ़ता हुआ शिक्षित वर्ग बुर्जुआ जनवाद के विचारों से अधिकाधिक प्रभावित होता जा रहा था। ''बुद्धिजीवी वर्ग ने जो रंग और रक्त से भारतीय था, परंतु रुचियों, खयालातों तथा नैतिकता और बुद्धि से अंग्रेज था'', अंग्रेजी और मैकाले की शिक्षा नीति द्वारा

सावधानीपूर्वक पल्लवित था कुछ हद तक बुर्जुआ उदारता और राष्ट्रवादी आदर्शों के प्रसार में अपना योगदान दिया था। परंतु इस शिक्षित वर्ग का अधिकांश उच्च और धनी वर्गों से तथा काफी हद तक सामंती वर्गों से संबंधित था। बहरहाल मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी ने भी उभरना शुरू कर दिया था। यद्यपि वे संख्या में कम थे फिर भी, उपनिवेशिक शासक बुद्धिजीवियों खासतौर पर मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों के प्रति सतर्क हो गये थे। वह इस संभावना से बेचैन हो गया था कि भारत के मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी अपने आधुनिक खयालातों के साथ राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग न लेने लगे जैसा कि ऐसे ही बुद्धिजीवियों ने यूरोप में किया था, इसलिए उन्होंने शिक्षा और नौकरी के अवसरों को कम कर दिया था। निश्चय ही इससे भारतीय बुद्धिजीवियों में रोष उठ खड़ा हुआ और उसने ब्रिटिश शासकों से इन अवसरों को बढ़ाये जाने की प्रार्थना करते रहे थे। ब्रिटिश शासकों में उन भारतीय बुद्धिजीवियों द्वारा भविष्य में निभाई जा सकने वाली भूमिका को लेकर चिंता व्याप्त थी जो 1857 में प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में ब्रिटिश शासकों के साथ खड़े थे।'

दलाल पूंजीपति

19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत में आधुनिक उद्योगों की स्थापना की शुरुआत हुई। लेकिन इस बात से बेखबर नहीं रहा जा सकता कि भारत में औद्योगिक पूंजी का विकास औपनिवेशिक संबंधों के चौखटे के भीतर ही हुआ था। यह दलाल, व्यापपारी और साहूकार वर्ग ही थे जो उपनिवेशवादियों पर निर्भर थे और जो उनसे प्राप्त दलाली और कमीशन के बल पर ही फल–फूल रहे थे और इसी दलाली और कमीशन से उन्होंने अपनी औद्योगिक पूंजी इकट्ठी की थी। ये दोनों ही वर्ग ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन और भारत की लूट का अवलम्ब थे।

बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में टाटा ने भारत का पहला लोहे और इस्पात का उद्योग स्थापित किया। प्रथम विश्व युद्ध के बाद से औद्योगिकीकरण ने गति पकड़ ली। हम इसकी तुलना यूरोप के औद्योगिकीकरण से नहीं कर सकते क्योंकि यह प्रक्रिया जो 1947 के बाद तक चलती रही थी, भारतीय अर्थव्यवस्था कि कृषि–प्रधानता को नहीं बदल सकी थी। इसके अतिरिक्त, यह औद्योगिकीकरण बेड़ियों में जकड़ा हुआ था और यह साम्राज्यवाद पर निर्भर था तथा उनके हितों का साधने वाला था। इस प्रकार इसकी संभावनायें बहुत सीमित थी और यह उत्पादन संबंधों में क्रांतिकारी बदलाव लाने में असफल रहा।

इस प्रक्रिया से जन्म लेने और विकसित होने वाला बड़ा बुर्जुआ अपनी प्रकृति से ही दलाल था और इसके तथा औपनिवेशिक शासकों के हितों के बीच बुनियादी एकता थी। अक्सर ही ब्रिटिश शासकों द्वारा लादे गये टैक्सों को लेकर यह काफी चिढ़ा हुआ रहता था। इसका परिणाम यह होता था कि कई बार यह वर्ग भी अपने विकास के लिए अधिक अवसरों की मांग करते हुए आगे आ जाता था।

परंतु यह बड़ा पूंजीपति अन्य देशों के पूंजीपतियों के विपरीत अपने को सुगठित और मजबूत कर सकने में तथा किसानों और अन्य उत्पीड़ित जनों को, सामंतवाद को उखाड़ फेंक कर अपने जनवादी क्रांतिकारी कार्यभार को तथा औपनिवेशिक दमन–उत्पीड़न का खात्मा करके अपने राष्ट्रीय मुक्ति के कार्यभार को पूरा कर सकने के लिए नेतृत्व दे सकने में नपुंसक था।

अपनी इस विकलांगता की वजह से ही तो बीसवीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में, जब ऐसा शक्तिशाली जनउभार, उरुज पर था जो सामंतवाद और उपनिवेशवाद दोनों को एक साथ ही उखाड़ फेंकने में समर्थ था। अपने उरुज पर था, तब भारत का यह बड़ा पूंजीपति इसका

नेतृत्व करने में और इस प्रकार अपना जनवादी क्रांतिकारी कार्य को पूरा कर सकने में असफल सिद्ध हुआ था। इसीलिए विभिन्न सामाजिक वर्गों और तबकों की आकांक्षाओं के अनुरुप जन्म लेने वाले विभिन्न जन संघर्ष, अलग–अलग धारा के रूप में ही चलते रहे। इस प्रकार एक ऐसी वस्तुगत परिस्थिति निर्मित हो गई कि सर्वहारा को भारत में जनवादी क्रांति के इन दोनों ही कार्यभारों को अपने हाथों में लेना पड़ा।

औद्योगिक सर्वहारा

भारत में आधुनिक सर्वहारा की उत्पत्ति के चिन्ह 1853 में रेलपथों को निर्माण की शुरुआत में ही देखे जा सकते हैं। लेकिन इससे आगे चलने वाली औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया को तब महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता जब इसे ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत चलने वाली अनौद्योगिकीकरण की प्रक्रिया के बरक्स रखकर देखा जाये। 1770 के वर्षों से ही खनन कार्य प्रारंभ हो गया था। पहली जूट मिल की स्थापना 1854 में हुई। आधुनिक भारतीय सर्वहारा वर्ग के उदय की दशायें 1851–1857 की अवधि में निर्मित हुई जब आधुनिक उद्योग स्थापित हुए। 1990 तक कारखानों और खनन क्षेत्रों में 3 लाख मजदूर कार्यरत थे। इनके अलावा 2 लाख अन्य मजदूर जूट और कपड़ा उद्योगों में कार्यरत थे। करीब 800 मील लम्बे रेल बिछाई गई थी। 19वीं शताब्दी के अंत तक जूट तक्षा कपड़ा मिलों का काफी विकास हुआ और मजदूरों की घनी आबादी के साथ कलकत्ता और बंबई औद्योगिक नगरों के रूप में उभरने लगे।

चाय बागानों में, जो 1839 से ही विकसित हो रहे थे 1919 तक 9 लाख मजदूरों (अस्थाई मजदूरों सहित) के काम पर लगाया जा चुका था। इसके अतिरिक्त 1903 में 82 हजार मजदूर काफी बागानों में काम कर रहे थे। इन बागानों में काम करने वाले मजदूरों की दशायें इतनी दयनीय थीं कि इनकी तुलना दास–मजदूरों के साथ ही की जा सकती है।

औपनिवेशिक शासन की वजह से विघटित हो चुकी आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था की प्रक्रिया में बरबाद हो चुके मजदूरों और कंगाल हो चुके किसानों के पास शहरों में पलायन करने और वहां मजदूर बन जाने के अलावा अन्य कोई चारा ही नहीं रह गया था। बंबई और कलकत्ता के औद्योगिक मजदूरों को छोड़ दिया जाए तो अन्य सामान्य मजदूरों के अपने गांवों के साथ जिंदा संबंध बरकरार थे और उनकी जड़ें अभी भी देहाती क्षेत्रों में ही जमी हुई थीं। दस्तकारी और छोटी–छोटी व्यक्तिगत सम्पत्तियां भी बहुतायत में मौजूद थी इसलिए भारतीय मजदूर वर्ग द्वारा अपने शैशव से ही कुछ हद तक निम्न पूंजीवादी संकीर्ण मानसिकता प्रदर्शित करना अपरिहार्य था।

औपनिवेशिक अर्थशास्त्र के एक हिस्से के रूप में और औपनिवेशिक हितों के आगे बढ़ाने के उद्देश्य से किये गये औद्योगिकीकरण की धीमी गति की वजह से और सामंती संबंधों के नए रूप में जारी रहने की वजह से भारतीय मजदूर वर्ग के विकास और एक नई ऐतिहासिक शक्ति के रूप में इसके उभर कर आने की गति धीमी थी। फिर भी 20वीं शताब्दी की शुरुआत में मजदूर वर्ग का एक दुर्जेय और नई ऐतिहासिक शक्ति के रूप में उभरना शुरू हो गया था और इसने अपने खुद के संगठन गठित करना और भारतीय तथा विदेशी दोनों ही पूंजीपतियों के विरुद्ध जुझारु संघर्षों द्वारा खुद को सुदृढ़ करना शुरू कर दिया था।

मजदूर वर्ग के आंदोलन का प्रारंभिक चरण

शुरुआती दिनों में मजदूरों की कार्यदिशायें अत्यन्त दयनीय थी। जैसे कि काम के घंटे सामान्यतः 16–18 घंटे हुआ करते थे। मजदूरों को सप्ताह के सातों दिन खटना पड़ता था।

मजदूरी इनती न्यून थी कि मुश्किल से ही वे अपनी जरुरतों को पूरा कर पाते थे। मजदूरों की इस दयनीय दुर्दशा को देखकर स्वाभाविक रूप से कुछ शिक्षित उदारवादियों ओर सुधारवादियों में सहानुभूति पैदा हुई थी और वे मजदूर वर्ग की समस्याओं को सामने लाने और इनके कल्याण करने के प्रयास के लिए आगे बढ़ आये थे। ब्रह्म समाज के एक सदस्य, शशिपाद बनर्जी ने 1870 में भारत में पहले मजदूर वर्गीय संगठन की ''वर्किंग मेंस क्लब'' नाम से स्थापना की। उन्होंने स्वयं ही 1874 से, मजदूरों को शिक्षित करने और उनकी समस्याओं को प्रकाश में लाने के उद्देश्य से 'इंडियन टायलर' (भारतीय श्रमजीवी) नामक पत्र का प्रकाशन शुरू किया। बंबई से भी इसी उद्देश्य के तहत 'दीन बंधु' नामक पत्र का प्रकाशन 1889 में सामने आया। ये सुधारवादी मजदूरों के लिए रात्रिकालीन विद्यालय चलाया करते थे। परंतु ये पहले के संगठनों को न तो मजदूरों की किसी वर्ग दृष्टि की और न ही मजदूर वर्ग की समस्याओं की सही समझ थी।

1862 में हावड़ा स्टेशन के 1200 रेलवे मजदूरों ने 8 घंटों के कार्य दिवस की मांग को लेकर हड़ताल छेड़ दी। यद्यपि कि यह संघर्ष आकार की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं था और अपनी मांग को प्रभावशाली ढंग से उठाने सक्षम नहीं था, परंतु यह तथ्य नोट करने लायक है कि भारतीय मजदूर वर्ग ने अपने शैशवकाल में ही ऐसी मांग, प्रसिद्ध शिकागो कामगार संघर्ष से 24 वर्ष पूर्व ही उठा दी थी। 1853 में कलकत्ता के कुलियों ने और 1862 में बैलगाड़ी चालकों ने हड़तालें संगठित की थीं। 1873 में अहमदाबाद में ईंट भट्ठा के मजदूरों के साथ अन्य मजदूरों ने भी हड़ताल छेड़ दी थी। 1880–1890 के दौरान 25 महत्वपूर्ण हड़तालें बंबई और मद्रास में संगठित हुई थीं।

19वीं शताब्दी के अंत तक औद्योगिक सर्वहारा अक्सर ही कार्य दशाओं, काम के घंटों और मजदूरों के मुद्दों पर हड़ताल छेड़ देने लगा था। परंतु मजदूरों का ट्रेड यूनियनों में संगठित होना अभी भी शुरू नहीं हो सका था। 20वीं शताब्दी में जाकर ही, जब मजदूर वर्ग एक नई दुर्जेय ऐतिहासिक ताकत के रूप में उभरकर सामने आ गया था, ट्रेड यूनियन संघर्ष प्रकट होने लगे थे। यहां यह तथ्य ध्यान में रखने योग्य है कि सभी औपनिवेशिक तथा अर्द्धऔपनिवेशिक देशों की तरह भारत में भी मजदूर वर्ग का उदय उपनिवेशवाद विरोधी और साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रीय उत्थान के बीच में ही हुआ था और इस प्रकार भारत में मजदूर वर्ग का इतिहास राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के साथ गुंथकर ही विकसित हुआ था। मजदूर वर्ग का आंदोलन, 20वीं सदी के प्रथमार्द्ध में साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रीय आंदोलन के देशव्यापी उभार की एक महत्वपूर्ण और मजबूत धारा के रूप में सामने आया था।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना

1870 के बाद से अकाल एक चिरकालिक देशज महामारी का रूप धारण कर चुका था। हर जगह किसानों में बेचैनी व्याप्त थी और इसके परिणामस्वरूप नील किसानों के विद्रोहों, लगान नहीं आंदोलनों से औपनिवेशिक शासकों में भय व्याप्त हो गया था कि कहीं हालात उस 1857 जैसे न हो जाए यह भय उनके मनो मस्तिष्क में एक दुःस्वप्न की भांति मंडराता रहता था। पहले से ही शिक्षित बुद्धिजीवियों के एक हिस्से ने जो अपनी खुद की मांगों के साथ पेशकदमी करने लगा था, नील–किसानों के संघर्षों के साथ अपनी एकबद्धता जाहिर कर दी थी। ब्रिटिश सरकार, किसान जनों और शिक्षित संभ्रांतों और मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों के एक संयुक्त राष्ट्रीय आंदोलन के रूप में एकजुट होकर सामने आने की संभावना से व्याकुल हो उठी थी। अभी तक मुख्यतः सामंती और पुनरुत्थानवादियों का नेतृत्व होने की वजह से उपनिवेश–विरोधी संघर्ष असफल होता आया था। अगर शिक्षित वर्ग अपने

आधुनिक विचारों के साथ उत्पीड़ित जनों का नेतृत्व करने लगें तो भारत में ब्रिटिश शासन के लिए खतरा उत्पन्न हो जायेगा। परंतु अंग्रेजी शिक्षित लोग अभी आबादी का मात्र एक प्रतिशत थे ओर वे मुख्यतः सरकारी नौकरी कर रहे थे या वकालत और अध्यापन जैसे पेशों में लगे हुए थे। एक तरफ इनकी बड़ी बहुसंख्या के हित भूमि मालिकों या सामंती अधिकारों से जुड़े हुए थे तो दूसरी तरफ ये अपनी अंग्रेजी शिक्षा की वजह से, जनवादी और राष्ट्रवादी आदर्शों से प्रभावित थे। यूरोप के विपरीत, भारत में न तो अंग्रेजी शिक्षित लोग औद्योगिक उत्पादन के साथ ही निकटता से जुड़े हुए थे और न ही उद्योगों के पास ही बड़े पैमाने पर इन्हें अपने में समाहित कर लेने की क्षमता थी। परिदृश्य पर प्रकट होने वाले आधुनिक उद्योग प्रधानतः यूरोपियन प्रबंध एजेंसी द्वारा परिचालित थे। इसलिए वास्तव में तो अंग्रेजी शिक्षित लोगों में से अधिकांश के हित सामंतवाद से और औपनिवेशिक राज्य से मेल खाते थे। दरअसल उच्च शिक्षित लोग और सरकारी नौकरों का ऊपरी हिस्सा खुद को सामान्य लोगों की विशाल बहुसंख्या से भिन्न सामाजिक हैसियत वाला समझता था।

बहरहाल इस शिक्षित वर्ग ने खुद को संगठित करना शुरू कर दिया था। सरकारी कर्मचारी की हैसियत से शिक्षित वर्ग के एक बड़े तबके को काम के सिलसिले में देश के विभिन्न भागों में जाना पड़ता था और इसकी वजह से इस शिक्षित वर्ग के लिए समूचे देश में सुदृढ़ होने का रास्ता साफ हुआ। 1875 में सुरेन्द्र मोहन बनर्जी ने इंडियन एसोशिसन के अखिल भारतीय सम्मेलन का उल्लेख भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के उदय के पूर्वाभास के रूप में किया जाता है।

19वीं शताब्दी की अंतिम चौथाई में 70 लाख से अधिक लोग अकाल से मारे गये थे। विद्रोही दंगों ने दकन को हिलाकर रख दिया था। जैसे–जैसे देशव्यापी जनों में बेचैनी ज्यादा–से–ज्यादा असहनीय होती जा रही थी तथा दिन–प्रतिदिन एक शक्तिशाली देशव्यापी विद्रोह के उठ खड़े होने का खतरा बढ़ता जा रहा था वैसे ही वैसे सरकार इसको दबाने के लिए और अधिक दमन पर आमादा होती जा रही थी। 1878 में आधुनिक मीडिया की आंदोलन को सारे देश में फैला देने की सामर्थ से उत्पन्न हो सकने वाले खतरे को पहचान कर, सरकार ने देशज भाषा प्रेस विधान को लागू करके, प्रेस की स्वतंत्रता का अपहरण कर लिया। भारत के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में हर जगह लोग अपनी पहल पर परंपरागत हथियारों को लेकर उठ खड़े हुए थे। ऐसी ही, किसी बगावत के पुनः उठ खड़े होने की संभावना से सतर्क औपनिवेशिक शासकों ने 1879 का शस्त्र कानून लागू कर दिया, जिसके द्वारा भारत की जनता आत्मरक्षा के लिए हथियार उठाने के अधिकार से वंचित हो गई।

इन परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में एक सेवानिवृत्त आई.सी.एस. अफसर ए.ओ.ह्यूम को देशव्यापी रोष के बारे में गुप्तचर रिपोर्ट के अध्ययन की जिम्मेदारी सौंपी गई। ये सभी रिपोर्टें एक शक्तिशाली देशव्यापी विद्रोह की आशंका व्यक्त करती थी जो भारत से ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंक सकता था। ह्यूम ने ठीक से समझ लिया था कि ऐसी परिस्थिति में शिक्षित देशवासियों का अपने को संगठित करने का प्रयास और उन्हें समर्थन प्राप्त होना भारत में ब्रिटिश शासन के लिए खतरनाक सिद्ध हो सकता था। उसने शिक्षित बुद्धिजीवी वर्ग की पहचान एक ऐसी ताकत के रूप में कर ली थी जो भविष्य में देशव्यापी एकता की आधारशिला रख सकता था। उसने महसूस किया कि यह जरूरी हो गया था कि इस राष्ट्रीय वर्ग को संघर्ष के उस क्रांतिकारी पथ पर आगे बढ़ने से रोका जाए जो ब्रिटिशों के आधारभूत हितों को मिट्टी में मिला सकता था। इसलिए उसने इस राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग को एक ऐसा प्लेटफार्म उपलब्ध कराने का निष्कर्ष निकाला जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हितों के अनुरूप कार्य करे। भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड डफरिन की स्वीकार्यता और प्रोत्साहन के साथ ह्यूम ने

1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांगेस की स्थापना कर दी। उसका विश्वास था कि यह संगठन उस जन रोष के लिए सेफ्टी वाल्व (सुरक्षित निकास) का काम करेगा जो दिन प्रतिदिन बढ़ता ही चला जाता था। इस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा बनाई गई डिजाइन के फलस्वरूप भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना एक ऐसी युक्ति के रूप में हुई थी जो भारतीय जनता के क्रांतिकारी जनउभार से साम्राज्य की सुरक्षा कर सके।

जो ताकतें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म के समय इसका हिस्सा बनी थीं, वे इस देश की एक छोटी सी अल्पसंख्या का ही प्रतिनिधित्व करती थीं, जो प्रकृति से दलाल थी और जो मजबूत सामंती संबंधों से जकड़ी हुई थीं। वह संभ्रांत शिक्षित बुद्धिजीवी वर्ग भी, जिसने कांग्रेस की स्थापना में सक्रिय भूमिका निभाई थी, कुल मिलाकर सामंतवाद से बंधा हुआ था और साम्राज्यवाद पर निर्भर था। कांग्रेस की स्थापना के साथ ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद, उन ताकतों को जिनका साम्राज्यवाद से कोई मूलभूत अंतर्विरोध नहीं था, अपनी तरफ मिलाये रखने के लिए पूरी ताकत के साथ तत्पर था। ठीक उस शिक्षित वर्ग की तरह ही जो उस समय यद्यपि संख्या की दृष्टि से महत्वहीन था, फिर भी 1857 के विद्रोह के पीछे खड़ा हुआ था, इस नव शिक्षित बुद्धिजीवी वर्ग से भी यह अपेक्षा थी कि यह भविष्य में जनता के साथ खड़ा होगा। एक ऐसे संगठन को जिसकी साम्राज्यवाद के साथ मूलभूत एकता थी, राष्ट्रीय आंदोलन के शीर्ष पर नेतृत्व की तरह आरोपित करके, उन्हें उम्मीद थी कि वे अपने औपनिवेशिक शासन को भारत में स्थायित्व प्रदान कर सकते थे।

इसका अर्थ न तो यह है कि उस समय साम्राज्यवादी ने खुद ही इसकी पूर्वकल्पना कर ली थी कि कांग्रेस किस रूप में सक्रिय होगी और भविष्य में और कौन से ठोस नारे गढ़ेगी और संघर्ष के किन रूपों को अपनायेगी। और न ही कांग्रेस का इतिहास उनके द्वारा तैयार पटकथा के अनुरूप विकसित हुआ था परंतु सबसे महत्वपूर्ण बात तो यही थी कि साम्राज्यवाद ने ऐसी ताकतों को जिनका इससे कोई मौलिक मतभेद नहीं था, राष्ट्रीय आंदोलन के शीर्ष पर नेतृत्व के रूप में बिठा दिया था। अन्य सभी चीजें समय–समय पर ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों, जनउभारों, सामाजिक वर्गों के आपसी अंतर्विरोधों और अंतरराष्ट्रीय घटनाओं द्वारा तय की जाती रही थीं।

यहां इस बिंदु पर जोर देने की जरूरत है कि कांग्रेस जो भारत में राष्ट्रीय आंदोलन पर इसकी आगे आने वाली अवधियों में अपनी पकड़ बनाने में और इसे नियंत्रित रखने में सफल सिद्ध हुई थी, अपने जन्म से ही न तो सामंतवाद विरोधी थी और न ही साम्राज्यवाद विरोधी। यही वह मूल कारण है जिसकी वजह से कांग्रेस आजादी के लिए राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व करने का बहाना करते हुए दरअसल अपने ही उन हितों के लिए संघर्षरत थी जो स्वयं राष्ट्रीय जनांदोलन के हितों के विपरीत थे, और यह समय–समय पर जनांदोलन से दगा कर जाती थी और इसने हमेशा से ऐसे सभी आंदोलनों या कार्यक्रमों का विरोध किया करती थी जो सामंतवाद के विरुद्ध होते थे।

1905 में दादाभाई नौरोजी ने इस विचार को इस प्रकार व्यक्त किया– **कुछ लोग ठीक उस समय, जब वे ब्रिटिश झंडे के शासन तले ले आये जाते हैं, स्वतः स्वतंत्र नागरिक बन जाते हैं और देशभक्त ब्रिटिश नागरिक बने रहते हैं। हम भारतीय, जन्माधिकार से ही स्वतंत्र ब्रिटिश नागरिक हो जाते हैं, मानो हमारा जन्म और पालन–पोषण इंग्लैंड में हुआ हो।**

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा था– **हमें ब्रिटिशों के साथ अपने बंधन के प्रति निर्विवाद समर्पण और राजभक्ति के साथ कार्य करना चाहिए : क्योंकि हमारा उद्देश्य यह नहीं है कि हम भारत से ब्रिटिश शासन को हटा दें, बल्कि हमारा उद्देश्य इसके आधार को और अधिक**

विस्तृत करना है, इसकी दृष्टि को और अधिक उदार बनाना है और इसकी प्रकृति को और अधिक संतोषजनक बनाना है।

ये विचार कांग्रेस नेतृत्व की महान स्वामीभक्ति और आज्ञाकारिता को साफ परिलक्षित करते हैं। बाद के दिनों में भी, जब कांग्रेस ने 'स्वराज' और 'संपूर्ण स्वातंत्रता' का नारा अपनाया था, इसके नेतृत्व ने साम्राज्य के प्रति अपनी निर्द्धन्द्व राज्यभक्ति का प्रदर्शन किया था।

अपनी मौजूदगी के शुरुआती वर्षों में कांग्रेस कोई व्यापक जनाधार वाला संगठन नहीं था। इसने कभी भी किसी प्रकार की भी जनजागृति की नीतियां नहीं अपनाई थी, बल्कि इसकी आकांक्षा, ब्रिटिश प्रशासन से कुछ रियायतें प्राप्त कर लेना ही था और इसके लिये भी वे ब्रिटिश मुकुट के दयालु हृदय से प्रार्थना करने मात्र तक सीमित थे। इसकी अधिकतम कोशिश ब्रिटिश प्रशासनिक इकाइयों में भारतीयों की सहभागिता बढ़ाने की होती थी, जिसे प्राप्त करने के लिए यह प्रार्थनाओं, प्रतिनिधि मंडलों और साम्राज्यवादियों से निवेदन के साधन इस्तेमाल करती थी।

20वीं शताब्दी के प्रारंभ में राष्ट्रवादी उफान

19वीं शताब्दी के अंत में जब पूंजीवाद ने अपने साम्राज्यवादी चरण में प्रवेश किया, तब एक तरफ राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के उभार और दूसरी तरफ साम्राज्यवादी देशों में उपनिवेशों की अनपेक्षित लड़खड़ाहट दृष्टिगत हुए। 1896 में इटली को, जिसने अबीसीनिया पर आक्रमण किया था पराजय का मुंह देखना पड़ा। 1899–1902 के बोवर युद्ध में इंग्लैंड को करारी पराजय झेलनी पड़ी। चीन, ईरान और तुर्की जैसे एशियाई देशों में क्रांतिकारी आंदोलन उफान पर थे। 1905 में जापान ने रुस को पराजित कर दिया। इन सभी घटनाओं ने नस्लवादी मिथकों को ध्वस्त कर दिया था, जैसे कि श्वेत लोगों की अपराजेयता का या यह कि श्वेत लोगों का जन्म एशिया और अफ्रीका के लोगों पर शासन करने के लिए ही हुआ है। इन घटनाओं ने लोगों में उत्साह भर दिया था और उपनिवेशों में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के लिए आशा और प्रेरणा जगाई थी।

1905–07 के दौरान विश्व इतिहास में एक नवीन अध्याय का प्रारंभ हुआ जिसकी पहली धमक रुस में सुनाई दी, जहां सर्वहारा ने अन्य उत्पीड़ित जनों के साथ मिलकर जार शासन के विरुद्ध बगावत छेड़ दी थी और विप्लव की लहरों से आप्लावित विश्व के क्षितिज पटलों पर वैश्विक समाजवादी क्रांति की भोर की लाली रंजित कर दी थी। यद्यपि कि रुसी क्रांति पराजित हो गई थी, पर इसने जार की उस तानाशाही की चूलें हिला दी जो अपनी अपराजेय शक्ति की डींगे मारता रहा था और इसने समूचे विश्व के उत्पीड़ित जनों के संघर्षों को महान उत्साह से भर दिया। भारतीय राष्ट्रीय क्रांति पर और राष्ट्रवादियों पर इसका प्रभाव खासतौर से महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय था।

इसके साथ ही, पूंजीवाद का सामान्य सफर अधिकाधिक गंभीर होता जा रहा था। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्रिटेन ने औद्योगि मंदी को सामने खड़ा पाया जो संकट के विकराल होते जाने का श्रापोच्चार कर रहा था। स्वाभाविक है कि ब्रिटेन ने अपने संकट से निपटने की कोशिश इसका बोझ औपनिवेशिक भारत के कांधे पर डाल कर किया। परिणामतः भारत की जनता पर औपनिवेशिक उत्पीड़न और शोषण और भी कष्टकारी हो गया और इसने भारतीय जनों का जीवन और भी दयनीय बना दिया।

इन घटनाओं ने एक तरफ तो विशाल जनसमुदायों को जुझारु संघर्षों के पथ पर धकेल दिया तो दूसरी तरफ कांग्रेस के भीतर एक अतिवादी प्रकृति को जन्म दिया जो ब्रिटिश शासकों पर दबाव डालने के लिए जनांदोलनों की कार्यनीति की वकालत करती थी।

इस समय तक राष्ट्रवादी क्रांतिकारियों ने रुसी नाशवादियों (निहिलिस्टों) से प्रेरणा लेकर, पहले से ही अपनी गतिविधियां प्रारंभ कर दी थी। 1980 के वर्षों में चापेकर बंधुओं और सावरकर ने अपनी क्रांतिकारी गतिविधियां शुरू कर दी थीं। बंगाल में 1905 से क्रांतिकारियों ने *युंगातर* का प्रकाशन शुरू कर दिया था। परंतु इन राष्ट्रीय क्रांतिकारियों की गतिविधियां, जो प्रकृति से निम्न बुर्जुआ थे, मात्र कुछ व्यक्तिगत कार्यवाहियों तक ही सीमित थी। इन क्रांतिकारियों के बीच पल्लवित हिंदू पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति उनके आंदोलन की एक अन्य कमजोरी थी। इन सारी कमजोरियों के बावजूद इन प्रारंभिक क्रांतिकारियों ने उस समय जनता में देशभक्ति और क्रांतिकारी विचारों के प्रसार में काफी योगदान दिया था।

इस मोड़ पर ही कांग्रेस में गर्मदलियों और नर्मदलियों के बीच विभाजन हो गया। गोखले एवं अन्य नेताओं को, जो ब्रिटिश सरकार से निवेदन करने और उन्हें अर्जी भेजने तक ही सीमित थे, नरमदलीय माना जाता था जबकि तिलक व अन्य नेताओं को, जो शासकों पर दबाव डालने के लिए जनांदोलन खड़ा करने की नीति अपनाने की वकालत करते थे, गरम दलीय माना जाता था। इन दोनों दलों के बीच मतभेद मूलतः संघर्ष के तरीकों को लेकर था न कि संघर्ष के उद्देश्यों को लेकर। तिलक जिन्होंने पहले नारा दिया था 'स्वतंत्रता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है' हमेशा ही ब्रिटिशों के अधीन स्वायत्त स्थिति (डोमिनियन स्टेटस) को स्वीकार करने के लिए तैयार थे। एक अन्य महत्वपूर्ण अतिवादी कांग्रेसी नेता, अरविंद घोष, जो बाद के दिनों में गाँधियन राजनीतिक कार्यक्रम, 'स्वदेशी' आंदोलन सविनय अवज्ञा आंदोलन, सामाजिक बहिष्कार आदि की रुपरेखा तैयार किया करते थे। निश्चय ही यह महत्वपूर्ण है कि अरविंद घोष गुमराह करने वाले 'अहिंसात्मक' संघर्ष के हामी नहीं थे, परंतु उन्होंने भी, 'किराया नहीं, कर नहीं' (नो रेंट,नो टैक्स) संघर्ष के आह्वान को इस बिना पर तिरस्कृत कर दिया था कि इससे देशभक्त जमींदारों को चोट पहुंचेगी। इस प्रकार अपने सभी गुटीय मतभेदों और टकरावों के बावजूद कांग्रेस का नेतृत्व हमेशा ही उन मूल हितों की रक्षा में मुस्तैद रहा था जिसके लिए कि कांग्रेस की स्थापना की गई थी, और वे इस चौखटे के भीतर ही अपनी सक्रियता सीमित रखते थे। यहां यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि जब भी गरमदलियों का उग्रवाद हावी होता था, तब कांग्रेसी नेता राजनीति में धर्म का घालमेल करना और छिपे तथा खुले दोनों ही रूपमें हिंदू पुनरुत्थानवाद ने बाद और रूढ़िवाद को अंगीकार करना शुरू कर देते थे।

कांग्रेस के, 1906 में आयोजित कलकत्ता अधिवेशन में गरमदलियों का बहुमत स्थापित हो गया और उन्होंने एक नये कार्यक्रम को सूत्रबद्ध किया जिसके महत्वपूर्ण पहलू ये हैं :

1. पहली बार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने *स्वराज* अर्थात औपनिवेशिक साम्राज्य के अधीन देशवासियों के शासन की प्राप्ति को अपना उद्देश्य निर्धारित किया।

2. विदेशी सामानों का बहिष्कार

3. स्वदेशी आंदोलन अर्थात् देशी उद्योगों को प्रोत्साहन तथा भारत में निर्मित वस्तुओं का इस्तेमाल।

4. राष्ट्रीय शिक्षा के प्रसार का प्रयास।

यह कार्यक्रम स्पष्ट रूप से बड़े दलाल पूंजीपतियों के हितों को प्रदर्शित करता है। भारतीय बुर्जुआ ने, जो ब्रिटिश औद्योगिक मालों से प्रतियोगिता कर पाने में असमर्थ था और जो औपनिवेशिक शासन द्वारा अतिरिक्त भेदभावपूर्ण कराधान से पीड़ित था, विदेशी सामानों

के बहिष्कार और *स्वदेशी* के नारों को अपना कर अपनी सुरक्षा का प्रयास किया था। पूरे ही स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान ये नारे ही केन्द्र में थे। स्वदेशी आंदोलन ने भारतीय पूंजीपति को विकसित होने में मदद पहुंचाई थी। परंतु भारतीय पूंजीपति ने अपनी दलाल प्रवृत्ति की वजह से कभी भी देशी तक्नालाजी के विकास का और साम्राज्यवाद पर उत्पादन के साधनों खासकर मशीनों के लिए निर्भर हुए बिना स्वतंत्र आर्थिक विकास हासिल करने का प्रयास नहीं किया। इस तरह से स्वदेशी मंत्र का जाप करते हुए भी इसने अपनी इच्छा से साम्राज्यवाद पर निर्भर रहना जारी रखा।

इस समय तक बंगाल विभाजन को वापस लेने की मांग के इर्द–गिर्द एक राष्ट्रीय जनांदोलन तीव्र गति से खड़ा होने लगा था। यह बंगाल विभाजन ब्रिटिशों द्वारा वस्तुतः बंगाल की राष्ट्रवादी एकता को भंग करने के निमित्त किया गया था, जो राष्ट्रवादी विचारों का मुख्य केंद्र बना हुआ था। बंगाल राज्य के इस विभाजन ने लोगों में बढ़ते हुए असंतोषा की चिंगारी भड़का दी थी और जिसके परिणामस्वरूप एक विशाल *वंदेमातरम* जनांदोलन उठ खड़ा हुआ था। इस आंदोलन के दौरान ही, *स्वदेशी* का नारा, जो बुर्जुआ हितों का प्रतिनिधित्व करता था, लोकप्रिय हो चला था और पूरे स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान प्रचलन में रहा था।

इसी आंदोलन के दौरान सर्वहारा भी भारत के राजनीतिक मंच पर एक नई ताकत के रूप में सामने आया। बंबई के हजारों मिल मजदूरों ने तिलक की गिरफ्तारी के विरोध में हड़ताल छेड़ दी। यह राजनीतिक संघर्ष तिलक को दी गई छः साल की सजा के लिए, छः दिन तक चलता रहा था। भारतीय सर्वहारा के प्रथमम राजनीतिक संघर्ष की सराहना करता हुए लेनिन ने कहा कि भारतीय मजदूर वर्ग एक राजनीतिक ताकत के रूप में उठ खड़ा हुआ है।

ब्रिटिशों की फूट डालों राज करो की नीति बंगाल विभाजन के मामले में, उल्टे उन्हीं के विरुद्ध आ पड़ी थी। इसने व्यापक जनरोष की आग भड़का दी थी और यह औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध जनगोलबंदी का केंद्रबिंदु बन गया। रूख को भांप कर औपनिवेशिक शासन ने पीछे हटने का और बंगाल विभाजन को वापस लेने का निर्णय ले लिया। परंतु पीछे हटने से पहले उन्होंने कांग्रेस के उग्रवादियों का भीषण दमन किया और उन्हें जेल भेज दिया ताकि इस फैसले का श्रेय उन्हें न मिले। 1911 में जाकर ही, जब आंदोलन ठंडा पड़ गया, उन्होंने विभाजन को निरस्त किया।

मैकियावेली की गाजर और छड़ी की नीति पर पूर्ण भरोसा करते हुए, जब वे कठोर दमन कर रहे थे, तब मिंटो–मार्ले सुधार को भी पेश कर रहे थे जिससे कुछ भारतीयों का अपरोक्ष रीति से चुनाव करते हुए उन्हें केंद्रीय संविधान सभा में एक अल्पसंख्यक के रूप में जगह दिया सकता था। राज्यों की विधानसभाओं में, जिनका प्रशासन और सरकारी आय–व्यय पर कोई नियंत्रण नहीं था, चुने हुए सदस्य बहुसंख्या में हो सकते थे। इन सुधारों का जो सत्ता में किसी प्रकार का भी हिस्सा प्रदान नहीं करते थे, उद्देश्य कांग्रेसी नेतृत्व को सजावटी वैधानिक पद देकर लुभाना मात्र था।

राष्ट्रवादी क्रांतिकारियों की गतिविधियां

देशभक्त मध्यवर्ग के युवाओं ने जिन्हें कांग्रेसी गरमदलियों के कार्यक्रम और तरीकों से भी अरुचि हो गई थी, क्रांतिकारी रास्ते पर कदम बढ़ा दिए। 1902 से ही अनुशीलन समिति ने कलकत्ता में कार्य करना शुरू करना शुरू कर दिया था और इसने 1906 से 'युगांधर' नाम से एक पत्रिका का प्रकाशन शुरू कर दिया था। समिति की गतिविधियां तीव्र गति से बढ़ती जा रही थीं और एक मजबूत नेटवर्क खड़ा हो चला था, खास तौर से पूर्वी

बंगाल में। बंगाल विभाजन के वापस ले लिए जाने के बाद भी क्रांतिकारियों की गतिविधियां जोर पकड़ती जा रही थीं। रासबिहारी बोस एवं अन्य क्रांतिकारियों की गतिविधियां पंजाब, दिल्ली और यूरोप तक पहुंच चुकी थीं। पेरिस, जेनेवा, सैन फ्रांसिस्कों और बर्लिन में प्रवासी क्रांतिकारियों के ग्रुप पहले से ही सक्रिय थे। 1913 में अमेरिका में जन्म लेने वाली गदर पार्टी, अपने व्यापक बौद्धिकता और अपनी प्रगतिशील विचारधारा के बल पर प्रवासी क्रांतिकारी समूहों के बीच सर्वाधिक प्रभावशाली थी। यह बात महत्वपूर्ण है कि इसके पास धर्मनिरपेक्ष सोच मौजूद थी। यह भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की लंबी दीर्घकालिक प्रकृति को समझती थी और यह उपनिवेशवादियों के विरुद्ध संघर्ष चलाने के लिए एक सेना के गठन की आवश्यकता भी स्वीकार करती थी। जब साम्राज्यवाद प्रथम विश्व युद्ध की कगार पर जा पहुंचा था, तब राष्ट्रीय क्रांतिकारियों की गतिविधियां देश के भीतर और बाहर तीव्र गति से विस्तारित होने लगी थीं, जबकि इसी दौरान भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस गहरी सुसुप्ति में चली गई थी।

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान

साम्राज्यवाद के सामान्य संकट के तीव्र और गंभीर होते जाने और इसके फलस्वरूप बाजारों के लिए साम्राज्यवादी छीना झपटी के बढ़ते जाने की परिणति 1914 में प्रथम विश्वयुद्ध में हुई। इस विश्वयुद्ध ने जिसका उद्देश्य प्रमुख साम्राज्यवादी देशों के बीच विश्व बाजार का पुनर्बटवारा था, भारत की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक दशाओं पर काफी महत्वपूर्ण प्रभाव डाला।

युद्ध के दौरान बड़े पूंजीपति ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के साथ दृढ़ता के साथ खड़े हो गये थे और उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने ब्रिटेन के युद्ध प्रयासों को अपना पूर्ण समर्थन और सहयोग दिया था। गांधी, जिन्होंने उस समय तक कांग्रेस की राजनीति में प्रवेश नहीं किया था, दक्षिण अफ्रीका में थे। युद्ध के प्रारंभ होते ही उन्होंने रानी को राजमुकुट की इस संकटपूर्ण घड़ी में, अपना सहयोग देने की तत्परता प्रदर्शित करते हुए एक पत्र लिखा था।

जनता और राष्ट्रवादियों को दबाने के लिए भारत सुरक्षा कानून लागू किया गया और बड़े पैमाने पर क्रांतिकारियों को बंदी बनाकर जेल भेज दिया गया। बड़े भारतीय पूंजीपतियों के लिए तो युद्ध वरदान साबित हुआ और युद्ध के दौरान मिले व्यवसायिक ठेकों का लाभ उठाते हुए उन्होंने अपनी तीवव्र उन्नति की और अपनी दौलत में काफी इजाफा कर लिया। युद्ध के दौरान जबकि सामान्य जनता जरूरत के सामानों की किल्लत और सुरसा के मुंह सी फैलती महंगाई की वजह से हर तरह की कठिनाइयां झेल रहे थे, बड़े पूंजीपति ब्रिटिश साम्राज्यवाद के सबसे बड़े हितैषी के रूप में उनके पूर्ण सहयोग और सेवा में लगे हुए थे और इसके प्रतिफल में उन्होंने अपनी आर्थिक शक्ति में काफी अधिक वृद्धि कर ली थी। युद्ध के परिणामस्वरूप होने वाले औद्योगिक विस्तार ने भारतीय सर्वहारा वर्ग की संख्या में भी काफी इजाफा कर दिया था। 1914 तक पंजीकृत कंपनियों की संख्या, 1900 की संख्या 1360 से बढ़कर 2553 तक जा पहुंची थी और उनकी पूंजी 1900 के 36.82 करोड़ से बढ़कर 1914 में 72.10 करोड़ हो गई थी। युद्ध के दौरान ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने समझ लिया था कि एक न्यूनतम स्तर तक भारत का औद्योगीकरण उनके अपने हित के लिए आवश्यक हो गया था और इसके लिए उन्होंने आवश्यक औद्योगिक आयोग नामक संस्था का गठन कर लिया था। युद्ध के दौरान संयुक्त पूंजी कंपनियों की संख्या 2553 से बढ़कर 3786 हो गई थी और उनकी पूंजी 72.10 करोड़ रु. से बढ़कर 106.61 करोड़ रु. हो गई थी। वस्त्र उद्योग में कामगारों की संख्या 2,60,000 से बढ़कर 2,82,000 तक पहुंच गई थी और वस्त्रोत्पादन में

एक तिहाई की बढ़ोत्तरी हो गई थी। टाटा स्टील कंपनी ने 1915 और 1919 में दो जल विद्युत संयंत्रों की स्थापना की थी। भारतीय औद्योगिक आयोग ने इस बात की गारंटी ली थी कि एक्साइज ड्यूटी में कोई वृद्धि नहीं की जायेगी। भारी नफे की बदौलत पुष्ट होते हुए भारत का पूंजीपति वर्ग यह महसूस कर रहा था कि उनके लिए प्रदत्त निवेश के अवसर बिल्कुल ही अपर्याप्त हैं।

औद्योगिक विस्तार के साथ–साथ, युद्ध के दौरान भारतीय सर्वहारा की संख्या में भी उल्लेखनीय वृद्धि हो चुकी थी। 1919 तक भारी मशीनों का उपयोग करने वाले उद्योगों में सेवारत कामगारों की कुल संख्या 13.65 लाख थी, जिनमें से 3.62 लाख सूती कताई और बनाई मिलों में 1.40 लाख रुई की धुनाई मिलों में 2.76 लाख जूट कारखानों में और 1.26 लाख रेलवे कारखानों में कार्यरत थे। 2.82 लाख के करीब खनन श्रमिक भी थे।

संख्या में वृद्धि के बावजूद भारतीय श्रमिक वर्ग की जीवन दशा युद्ध काल में काफी दुर्दशाग्रस्त होती जा रही थी और इसकी वजह से युद्ध के बाद मजदूरों का एक शक्तिशाली उत्थान सामने आया था।

राष्ट्रवादी क्रांतिकारियों की गतिविधियां

युद्ध का लाभ उठाकर अपने देश की मुक्ति हासिल कर लेने की उद्देश्य से राष्ट्रवादी क्रांतिकारियों ने अपनी गतिविधियां तीव्र कर दी थीं। एक समय तो हमारे देश में मौजूद सैनिकों की संख्या मात्र 15000 रह गई थी। क्रांतिकारियों ने इस स्थिति का लाभ उठाते हुए जर्मनी और तुर्की की मदद से एक विद्रोह करने का प्रयास किया। बाघा जतिन के नेतृत्व में, बंगाल में क्रांतिकारी कार्यवाहियों की बाढ़ सी आ गई थी। रासबिहारी बोस और सचिन सन्याल के नेतृत्व के अधीन क्रांतिकारियों ने अपनी गतिविधियां तेज कर दी थीं। नरेंद्र भट्टाचार्य (एम.एन.राय) को जर्मनी से शस्त्र प्राप्त करने के लिए जावा भेजा गया था परंतु यह प्रयास असफल हो गया। इसी अवधि में, नरेन्द्र चट्टोपाध्याय, भूपेंद्र दत्त और दूसरों ने भारतीय स्वतंत्रता समिति (बर्लिन कमेटी) की बर्लिन में स्थापना की थी।

गदर पार्टी ने, जिसका आधार अमरीका में था और जो अमरीका तथा कनाडा में रहने वाले भारतीयों के बीच क्रांतिकारी गतिविधियों का संचार कर रह थी और बर्लिन कमेटी ने बाघा जतिन और रासबिहारी बोस के साथ मिलकर योजना बनाई और सेना के भीतर एक बगावत उभारने का प्रयास किया। उनकी योजना फौजी बगावत उभारने का प्रयास किया। उनकी योजना फौजी बगावत के साथ ही, पहले पंजाब को मुक्त करा लेने की थी और फिर 1925 तक देश को स्वतंत्र करा लेने के लिए युद्ध संचालित करने की थी। भारतीय क्रांतिकारियों ने गदर पार्टी द्वारा दिये जा रहे आश्वसनों के आधार पर भारी मात्रा में हथियार हासिल करने की उम्मीद लगा रखी थी और इसलिए उन्होने अपनी गतिविधियों को तेज कर दिया था। गदर पार्टी ने भारतीय सेना की विदेश स्थित टुकड़ियों के कुछ रेजीमेंटों के साथ सम्पर्क बना लिये थे। फौजी बगावत के ये प्रयास भारतीय क्रांतिकारियों की आपेक्षिक परिपक्वता का परिचायक था। सामान्य जन की भूमिका को नजरअंदाज कर देने की गंभीर कमजोरी के बावजूद एक फौजी बगावत के जरिये पहले पंजाब को और फिर लम्बे समय तक चलने वाले क्रांतिकारी युद्ध द्वारा पूरे देश को मुक्त करा लेने के लिए आगे बढ़ चलने की उनकी उम्मीद, रणनीति कार्रवाइयों की पहली पीढ़ी की व्यक्तिगत कार्रवाइयों से गुणात्मक रूप में भिन्न थी।

परन्तु यह योजना लागू किये जाने से पहले ही विफल हो गई क्योंकि सरकार सारे विवरणों और नक्शों के साथ, बगावत की समूची योजना का पता कर लेने में सफल हो गई

थी तथा उसने बगावत को उफान शुरू होने से पहले ही कुचल दिया था। सरकार ने पंजाब में, जो क्रांतिकारी विचारों ससे सर्वाधिक प्रभावित था, सभी फौजी रेजीमेंटों से हथियार रखवा लिए और विदेशों से भारत में विद्रोह में भाग लेने के लिए आने वाले अधिकांश क्रांतिकारियों गिरफ्तार कर लिया। फिर भी गदरी क्रांतिकारियों ने भारत में क्रांतिकारी आंदोलन को काफी अधिक प्रेरणा और शक्ति प्रदान की थी। इसी अवधि के कमागाटामारु विद्रोह ने, जो गदरी क्रांतिकारियों के नेतृत्व में संचालित किया गया था, खासतौर से क्रांतिकारियों और देशभक्तों को प्रेरित किया था।

यद्यपि भारतीय क्रांतिकारियों की योजना असफल हो गई थी, फिर भी इसने औपनिवेशिक शासकों के विरुद्ध तीव्र घृणा पैदा करने में और भारतीय जनमानस में सशस्त्र आंदोलन के जरिए देश से बाहर खदेड़ देने के विचार को फैलाने में कामयाबी हासिल कर ली थी। यही वह अवधि थी, जिसके दौरान, अक्टूबर क्रांति के प्रभाव में, भारत के राष्ट्रीय क्रांतिकारी, समाजवाद और साम्यवाद की ओर आकर्षित होने लगे थे। उन्होंने भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना के प्रयास में भी अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया था। बाद के दिनों में स्थापित हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोशिएसन (एच.आर.ए.) ने स्पष्ट रूप से, एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य द्वारा किये जाने वाले शोषण के खात्मे को अपना उद्देश्य निर्धारित किया था। क्रांतिकारियों के बलिदान उनकी बहादुरी और दृढ़ इच्छाशक्ति व्यर्थ नहीं गये थे, इनसे भारतीय जनता में प्रथम विश्व युद्ध के बाद से, पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए महान संघर्ष छेड़ देने के लिए तीव्र आकांक्षा और तत्परता जाग गई थी। राष्ट्रीय क्रांतिकारियों के प्रयासों ने, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (आ.एन.सी.) को अनिच्छा के साथ ही सही, 1920 के शाक्तिशाली जनउभार के दौरान पूर्ण स्वराज्य का नारा देने के लिए बाध्य कर देने में भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान कांग्रेस के गरमदलियों और नरमदलियों की कतारें एक साथ आई थीं, और ब्रिटेन को तथा अहिंसा के पुजारी गांधी को, जो 1945 में महारानी के सुझाव पर भारत लौट आये थे और जो तिलक के साथ जुड़कर युद्ध के लिए योगदान इकट्ठा करने में लग गये थे, अपना खुला समर्थन दे दिया था। उन्होंने खुद के द्वारा प्रदर्शित की जा रही वफादारी के बदले में, औपनिवेशिक शासकों से स्वशासन (होमरूल) प्राप्त होने की उम्मीद भी लगा रखी थी। तिलक ने नरम रुख अख्तियार कर लिया था और उन्होंने एनी बेसेंट के साथ हाथ मिलाकर होमरूल की स्थापना की थी और वे इसके प्रचार–प्रसार में भी लग गये थे। बहरहाल एनी बेसेंट ने मांटेग्यू द्वारा आश्वासन मिल जाने पर होमरूल लीग को त्याग दिया और इसमें तिलक की अभिरुचि भी समाप्त हो गई।

इस विनाशकारी युद्ध में जो साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा पिछड़े हुए देशों की लूट के अधिकार के लिए लड़ा गया था, अहिंसा के पुजारी संत शिरोमणि गांधी ने निःसंकोच ब्रिटिश साम्राज्यवाद का पक्ष लिया था। उन्होंने कभी भी उस साम्राज्यवादी युद्ध की भर्त्सना नहीं की, जो उपनिवेशों की बंदरबाट के लिए लड़ा जा रहा था और जिसकी वजह से इतिहास में अभूतपूर्व मानवीय क्षति हुई थी। उन्होंने मानवता के विरुद्ध अमानुषिक हिंसा के निकृष्टतम अपराधी साम्राज्यवादियों को अपनी अहिंसा सिद्धांत का उपदेश नहीं दिया। उल्टे उन्होंने ब्रिटिश लुटेरों के समर्थन में अभियान चलाया और भारतीयों को साम्राज्यवादी युद्ध में तोपों का चारा बनने के लिए सेना में भर्ती होने के लिए आह्वान किया। वे औपनिवेशिक विश्व पर ब्रिटेन के प्रभुत्व को मजबूत बनाने के लिए भारत के गुलामी की जंजीरों में जकड़ दिये गये लोगों से युद्ध के लिए धन–संग्रह कर रहे थे। यह इस बात का सबूत है कि उनका अहिंसा के सिद्धांत का, जिसका प्रचार वे अपने सम्पूर्ण राजनीतिक जीवन में करते रहे थे, वास्तविक

उद्देश्य उत्पीड़ित जनों को निहत्था करना अपना और उन्हें उत्पीड़न से अपने बचाव करने तथा क्रूर दमन करने वाली शोषणकारी सत्ता को उखाड़ फेंकने के अनपहरणीय प्राकृतिक अधिकार से वंचित करना था।

युद्ध के दौरान किसानों और आदिवासियों के विक्षोभ में उफान जारी था और इसके नतीजे में उग्र संघर्ष उठ खड़े हुए थे। इस अवधि में, कुदप्पा और नेल्लोर जिलों में नल्लमाला जंगलों के चेन्यू कबीले ने विद्रोह छेड़ दिया था। 1916 में रम्पा और सिनोनिम विद्रोह एक बार पुनः भड़क उठा और यह, 1922–24 के अल्लूरी के नेतृत्व में ऐतिहासिक और विख्यात विप्ल का पूर्वरंग साबित हुआ था। बस्तर और दासपल्ला के आदिवासियों, छोटानागपुर के ओरांव और मुंडा कबीलों, मयूरगंज के संथालों, मणिपुर के टोडा कुकी कबीलों और राजस्थान के भीलों ने इस अवधि में भीषण संग्राम छेड़ रखे थे। इन आदिवासी विद्रोहों से अलग, किसान संघर्षों में भी जबर्दस्त उफान आया था, जिनमें बिहार के चम्पारण और गुजरात के केड़ा के संघर्ष प्रमुख थे। दक्षिण भारत और बंगाल में उच्च जातियों के वर्चस्व के विरुद्ध जातिविरोधी आंदोलनों का तीव्र उभार सामने आया था।

युद्धोपरांत का जनोद्भार

अर्थव्यवस्था पर युद्ध के विनाशकारी प्रभाव, जैसे कि अस्त–व्यस्त पड़ी दशायें, आम लोगों का गिरता हुआ जीवन स्तर और व्यापक बेरोजगारी, मेहनतकश वर्गों में गंभीर असंतोष और हताशा कारण बने और परिणामस्वरूप हड़तालों का सिलसिला शुरू हो गया। यद्यपि कि अक्टूबर क्रांति से प्रभावित मजदूर नेताओं ओर कार्यकर्ताओं की संख्या उस समय थोड़ी ही थी, फिर भी मेहनतकश वर्ग के आंदोलनों में एक वाम पक्ष की स्थापना के लिए बीज बोये जा चुके थे। एक सरकाारी रिपोर्ट में कहा गया था कि उस समय भारत में औद्योगिक विक्षोभ उसी स्तर का था, जैसा कि अक्टूबर क्रांति के पहले रूस में था।

1918–21 की अवधि में, होने वाली हड़तालों की लहरें इस बात की परिचायक थीं कि भारत में मजदूर वर्ग का एक सुदृढ़ सामाजिक शक्ति के रूप में उदय हो चुका था। 1919 में बंबई के कपड़ा उद्योग के एक लाख से अधिक मजदूरों ने महीने से ऊपर चलने वाली हड़ताल की थी। 1919 में ही, 1700 की भारी संख्या वाले ऊनी मिल मजदूरों ने सात हफ्तों की हड़ताल और टाटा के लोहा और इस्पात उद्योग के 40,000 मजदूरों ने एक महीने की हड़ताल आयोजित की थी। 1920 के अंत तक भारत के सभी औद्योगिक केन्द्र औद्योगिक अशांति और आंदोलनों से उद्वेलित थे। यही वह पृष्ठभूमि थी, जिसके साथ युद्ध बाद का राष्ट्रीय आंदोलन शुरू हुआ था।

ब्रिटिश सरकार ने, जब विशेषतः रूस में जारशाही की समाप्ति के बाद युद्ध चल ही रहा था, भारतीयों को शांत करने और उन्हें मुक्ति के क्रांतिकारी रास्ते पर एकजुट होने से विमुख करने के लिए सुधारों का कार्ड खेलना शुरू कर दिया। कुछ संवैधानिक सुधारों को पेश करके सरकार ने यह प्रभाव पैदा करने की कोशिश की कि वह भारतीयों को स्वराज का अधिकार देने की तरफ अग्रसर है, जबकि वास्तव में उसने कुछ भी ऐसा नहीं दिया था जिसका स्वराज के साथ दूर का भी कोई रिश्ता हो। मांटेग्यू–चेम्सफोर्ड–सुधार, में 1919 के भारतीय सरकारी अधिनियम के रूप में, केन्द्र और राज्यों में संविधान सभायें गठित करने का प्रावधान किया गया था।

इन सभाओं का निर्माण, जिन्हें किसी प्रकार का भी वास्तविक आर्थिक या राजनीतिक शक्तियां प्राप्त नहीं थी, किसी तरह से भी सत्ता में भागीदारी नहीं प्रदान करता था, जिसकी मांग कांग्रेस युद्ध के समय से करती आ रही थी। अतः कांग्रेस के नेतृत्व को भी संतुष्ट करने

में सफल नहीं हो सके। इसलिए समय कांग्रेस नेतृत्व से तकाजा कर रहा था कि वह सरकार पर दबाव डालने की रणनीति अपनाये ताकि उसे युद्ध के दौरान ताज के प्रति वफादारी और उसकी सेवा करने के लिए अपने हिस्से की मांग पूरी हो सके।

युद्धोपरांत का राष्ट्रीय जनउभार दो महत्वपूर्ण कारकों को चिन्हित करता है जो भारतीय इतिहास के आगामी दौर को निर्णायक रूप से प्रभावित कर सकते थे। इसमें से एक महत्वपूर्ण कारक मजदूर वर्ग का, एक दुर्दम्य सामाजिक ताकत के रूप में उदित होना और मजदूर तथा राष्ट्रीय दोनों ही शक्तियों पर, खासतौर से क्रांतिकारियों पर बोल्शेविज्म का बढ़ता प्रभाव था। हालांकि गांधी का कांग्रेस के नेता के रूप में उभर कर सामने आना, एक प्रमुख प्रतिकारक शक्ति थी। यद्यपि कि यह एक पश्चगामिता थी, फिर भी हम गांधी के उदय का और भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में उनके द्वारा निभाई गई भूमिका का एक संक्षिप्त आकलन करने की जरूरत महसूस करते हैं।

'महात्मा' का निर्माण

कांग्रेसी नेतृत्व ने और उन वर्गों ने मुख्यतः जिनके हितों का यह पार्टी प्रतिनिधित्व करती है, गांधी में एक ऐसा अनुकूल नेता अविष्कृत कर लिया जो पार्टी के स्वराज की मांग को औपनिवेशिक शासन के अधीन रहते हुए, ब्रिटिश सरकार को नाराज किए बिना और भारतीय बुर्जुआ के सामंतवाद और साम्राज्यवाद के मौजूदा गठजोड़ को भंग किये बिना और साम्राज्यवाद के मौजूदा गठजोड़ को भंग किये बिना प्राप्त करने में समर्थ था : और साथ ही, उन भारतीय जनों के राष्ट्रवादी उभार का नेतृत्व भी कर सकता था जिनके हित और आकांक्षायें साम्राज्यवाद विरोधी और सामंतवाद विरोधी थीं। निश्चय ही ऐसा कार्यभार न केवल रणकौशल में निपुण बल्कि राजनीतिक कलाबाजी में माहिर व्यक्ति की मांग करता है जो किसी भी तर्कपद्धति को विभ्रमित कर सकता हो और जिसके पास एक ऐसी विचारधारा हो जो रहस्यवाद में पगी हो और जिसे एक धर्मगुरु की मान्यता भी प्राप्त हो।

एक राजनीतिक विचारक के रूप में गांधी के व्यक्तित्व में यह सबकुछ समाहित था। फिर भी महात्मा के पद तक उनकी उठान के लिए मुख्यतः किसी भी महान ऐतिहासिक व्यक्तित्वव के निर्माण की तरह ही ठोस ऐतिहासिक घटनाक्रम और उनके समय की मौजूदा शक्तियों के खेल को ही श्रेय जाता है।

गांधी जी ने ब्रिटिश शासकों के प्रति दृढ़ आस्था और स्वामिभक्ति रखते थे, 'रामराज्य' के नाम पर सामंतवादी वर्ण–जाति के श्रेणीक्रम की पुनर्वापसी चाहते थे। इस मामले में वे कांग्रेस के अन्य प्रमुख नेताओं में सर्वाधिक प्रतिक्रियादी थे। उन्होंने न केवल आधुनिक उद्योगों का अपितु आधुनिक दवाओं सहित हरएक आधुनिक चीजों का विरोध किया। उनहोंने वर्णाश्रम धर्म पर आधारित पुरानी सामंती ग्रामीण व्यवस्था को स्थापित करने के लिए इतिहास के कालक्रम को उलटने का सपना देखा था। कांग्रेस में उनके उपनीत होने के पहले से ही, गांधी दक्षिण अफ्रीका में अपने अहिंसा सिद्धांत और सत्याग्रह संघर्ष का प्रयोग करते रहे थे। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के लोगों को, जो उस समय श्वेतों के नस्ली भेदभाव के विरुद्ध संघर्षरत थे, इनका पाठ पढ़ाया था। उनका अहिंसा सिद्धांत व्यवहार में शासक वर्गों और उनके राज्य द्वारा किये जाने वाले उत्पीड़न और निर्दयता के विरुद्ध जनता के विरोध प्रतिरोध करने और विद्रोह करने के अनपहरणीय अधिकार को अस्वीकृत करता था। वास्तव में तो इस सिद्धांत ने लोगों को स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान निर्दयी अत्याचार और दमन को झेल रही जनता को निशस्त्र कर देने का प्रयास किया था और इसने स्वतंत्रता आंदोलन को बाधित किया था और अंततः इसके साथ दगा करने में अपना सहयोग दिया था।

गांधी ने अपने 'धर्म कृतित्व' के सिद्धांत को लागू करने का प्रयास कियाजो वर्ग संघर्ष से इंकार करता था और वर्ग सहयोग का प्रतिपादक था। उन्होंने, चम्पारण और खेड़ा के किसान संघर्षों का, वर्ग सहयोग के सिद्धांत को आधार बनाते हुए नेतृत्व करने का प्रयास किया। उन्होंने श्रमिक वर्ग को भी अपने सिद्धांत के प्रभाव मे लाने का और अहमदाबाद वस्त्रोद्योग के श्रमिकों को गांधीवादी यूनियन बनाने का प्रयास भी किया। इस प्रकार उनका 'धर्म कृतित्व' का सिद्धांत व्यवहार में और कुछ नहीं, बस दमित–उत्पीड़ित जनता के वर्ग संघर्षों के ऊपर दलाल पूंजीपतियों और सामंती शक्तियों का वर्चस्व स्थापन का प्रयास था।

साम्राज्यवादी और भारतीय, गांधी के दोनों ही संरक्षकों ने उनके अतार्किक अनैतिहासिक, राजनीतिक और आर्थिक विचारों और उपदेशों को कभी भी गंभीरता से नहीं लिया और न ही इसे लागू करने का प्रयास किया। वे तो गाधी को और उनके विचारों को मात्र इसलिए मान्यता देते थे कि यह, सर्वाधिक उग्र स्थितियों का नियंत्रण स्थापित करने और बनाये रखने में, कारगर सिद्ध होगा।

दरअसल भारतीय दलाल वर्गों के नेतृत्व तक हिंदू धर्माचार्यों–संतों के आरोहण का रास्ता कुछ हद तक उस हिंदू पुनरुत्थान ने हमवार किया था ो 19वीं शताब्दी के अंत तक एक प्रभुत्वशाली प्रवृत्ति बन चुका था और जिसने उस समय राजनीति पर धर्म के चढ़ बैठने के लिए झूले का काम किया था। धार्मिक पुनरुत्थान की जड़ें उपनिवेशवाद के अंतर्गत विकृत विकास पथ में और जनवादी क्रांति के कार्यभार को पूरा करने में नपुंसक भारतीय बुर्जुआ वर्ग की असमर्थता में, निहित थीं।

19वीं शताब्दी के अंत तक, जब आधुनिक उद्योग भारतीय जमीन पर अपनी नींव बनाने लगे थे और जब भारतीय बुर्जुआ एक प्रभुत्वशाली सामाजिक शक्ति के रूप में उभर आया था, तब आधुनिक और वैज्ञानिक दृष्टि के प्रसरित होने के बजाय समाज में, यहां तक कि अंग्रेजी पढ़े–लिखे लोगों में भी, हिंदू पुनरुत्थान ने प्रभुता प्राप्त कर ली थी। उस अवधि का राममोहन राय का सामाजिक आंदोलन भी, धार्मिक रूढ़िवाद और अंधविश्वासों को पूर्णतः उन्मूलन की दिशा में आगे बढ़ने, आधुनिक वैज्ञानिक विचारों को अपनाने में और इस तरह से बुर्जुआ जनवादी क्रांति की वैचारिक तैयारी के लिए राह हमवार करने में असफल सिद्ध हो गया था। इसकी बजाय अतीत की गौरवगाथा की और इस विचार–भाव की कि वेदों में सबकुछ मौजूद है, एक मजबूत प्रवृत्ति ने अपनी स्वीकृति बना ली थी।

यह विडम्बना ही है कि जब अंग्रेजी में शिक्षित उच्च वर्गीय लोग स्वयं संगठित हो रहे थे और जब बुर्जुआ वर्ग एक मजबूत आर्थिक सामाजिक ताकत बनता जा रहा था, तब एक ऐसे सुधार आंदोलन के उठ खड़े होने की बजाय जो सामंतवादी रूढ़ और जर्जर विचारधारा की गंदगी बहा दे, पुनरुत्थान का और न्यूनतम सुधार का कार्यक्रम सामने आया जिसका उद्देश्य सामंती समाज और संस्कृति को बनाये रखना, बल्कि इसकी बेलवृद्धि करते रहना था। इसलिए यह सर्वथा स्वाभाविवक था कि भारतीय बड़ा बुर्जुआ सामंती संबंधों के आधार पर न कि उनकी बर्बादी के आधार पर पुष्पित–पल्लवित हुआ था और इसीलिए यह कोई ऐसा वर्ग नहीं बन सका था जो सामंती संबंधों का खात्मा कर सके; बल्कि इसने तो इन्हीं संबंधों को अपना आश्रय बना लिया था। हिंदू पुनरुत्थानवाद और तद्जनित हिंदू अग्रराष्ट्रीयता और कुछ नहीं, बस अर्द्धसामंती और औपनिवेशिक संबंध ही थे। आधुनिकता के साथ उनका सहअस्तित्व कोई विरोधाभास नहीं है अपितु इस परिघटना का उदय भारत की ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों के बीच हुआ ही था।

सर्वाधिक 'प्रगतिशील' 'क्रांतिकारी' और यहां तक कि 'समाजवादी' हिंदू धार्मिक सुधारक और 'वेदांती' विवेकानंद, जो न केवल 'आधुनिक दृष्टि' रखते थे बल्कि जो काफी लोकप्रिय

भी थे; कहते हैं 'समूचे विश्व का अध्ययन करो और तब तुम देखोगे प्रत्येक उच्च आदर्श की, जो तुम कहीं भी पाओगे, मूल जड़ भारत में ही है।' चूंकि भारतीय बुर्जुआ के पास जनता को गोलबंद करने और जनांदोलन खड़ा करने का कार्य कोई कार्यक्रम ही नहीं था, इसलिए हिंदू पुनर्स्थापना के पास एक राजनीतिक कार्यभार मौजूद था और इसका कांग्रेस पार्टी में आसन जमा लेना अपरिहार्य था। यद्यपि कि विवेकानंद ने एक भिन्न संदर्भ में यह बात कही थी फिर भी यह बुर्जुआ के दृष्टिबिंदु से, उस समय की परिस्थिति का चातुर्यपूर्ण प्रतिनिधित्व करती है– ''अगर तुम भारत में राजनीति पर बोलना चाहते हो तो तुम्हें धर्म की भाषा में बोलना होगा।''

खुद को धर्मनिरपेक्ष संगठन के रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश के बावजूद, कांग्रेस के नेतृत्व में हिंदुत्ववादी शक्तियों, खास तौर से हिंदू महासभा के साथ अपने संबंध बनाये रखे थे। बिना किसी सामंत विरोधी या साम्राज्यवाद विरोधी कार्यक्रम के, इसने गोलबंदी के लिये धर्म का इस्तेमाल किया। तिलक के नेतृत्व में, गरमदली गुट ने बड़े पैमाने पर राजनीति के भीतर सुधार की बजाय धार्मिक पुनरुत्थान की तरफ हो गया। इस प्रक्रिया में कांग्रेस पुनरुत्थानवाद की एक मजबूत प्रवृत्ति वाले संगठन में तब्दील हो गईं। धर्म का राजनीति में मिश्रण, जो तिलक के साथ शुरू हुआ था, गांधी के आगमन तक सर्वोच्च शिखर पर जा पहुंचा। हिन्दू–मुस्लिम भाईचारे का उपदेश देते हुए गांधी वास्तव में हिंदू पुनरुत्थानवाद के पक्ष में खड़े हुए थे। धार्मिक उग्र हिदुत्ववाद और पुनरुत्थानवाद भी उठ खड़ा हुआ। हिन्दू–मुस्लिम के बटवारे में अंग्रेजों की फूट डालो और लूट करो की नीति का भी हाथ था। इस बटवारे में बाद के दिनों में हिंदुओं मुस्लिमों के बीच खूनी दंगे भड़क उठे थे, जैसा कि पहले कभी नहीं देखा गया था।

यह सब देखते हुए न तो गांधी का 'महात्मा' के रूप में सामने आना और न ही उनका स्वतंत्रता आंदोलन का नेता बन जाना, कोई स्वतःस्फूर्त घटनाक्रम नहीं था। यह सब उन ठोस आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक परिस्थितियों की पैदाइश था, जो अर्द्धसामंती और औपनिवेशिक संबंधों के बीच से उत्पन्न हुई थी और टिकी हुई थी। भारतीय दलाल वर्गों ने ब्रिटिश शासकों ने गांधी में वह नेतृत्व क्षमता देख ली थी, जो उन्हें जनता के शक्तिशाली संघर्षों से बचा सकती थी। इसलिए उन्होंने अफवाहें फैलाने की हद तक जाकर, गांधी को महात्मा के रूप में विख्यात करने के लिए, भारी प्रचार अभियान चलाया था। अपने बारे में गांधी भी अपने भ्रमोत्पादक विरोधाभासी राजनीतिक कार्रवाइयों और नारों के साथ खुद को उत्पीड़ित जनता की आकांक्षाओं के प्रतिनिधि होने के नाट्य करते रहे थे। यद्यपि कि वे स्पष्ट रूप से जमींदारों का और राजाओं–नवाबों का समर्थन करते थे, किसानों ने गांधी से आशा लगा रखी थी वे उन्हें सामंतवाद से मुक्ति दिलायेंगे। भूमिहीन गरीबों ने उम्मीद की थी कि गांधी उन्हें जमीन दिलायेंगे। उन्होंने स्वतंत्रता की अवधारणा को काफी अस्पष्ट और धुधला कर दिया था ताकि वह उसकी मनचाही व्याख्या कर सके। इस प्रकार गांधी ने जनता के सभी वर्गों को अपने अधीन ले आने में समर्थ हुए थे।

इस तरह से दलाल पूंजीपतियों और सामंती ताकतों ने गांधी में वह नेता खोजा और उसे ऐसा बनाया जो सामंतवाद विरोधी और साम्राज्यवाद विरोधी जनवादी संघर्षों के शक्तिशाली जनांदोलन उठ खड़े होने की दशा में, उनके हितों की सुरक्षा कर सकता था। आधुनिक भारतीय इतिहास की यह गंभीरतम त्रासदी है कि इन दलाल वर्गों के नेता ने, उत्पीड़ित जनता की, उनके खुद के नेता के रूप में स्वीकृति पाने में सफलता हासिल कर ली थी।

रौलट एक्ट के खिलाफ संघर्ष

गाजर और छड़ी की अपनी नीति के अनुरुप, ब्रिटिश शासकों ने मांटेग्यू–चेम्सफोर्ड सुधारों का ड्रामा रचते हुए, भीषण दमन–चक्र चला रखा था। क्रांतिकारियों पर मुकदमें चलाए जा रहे थे ओर बड़े पैमाने पर उनहें फांसी पर चढ़ाया जा रहा था। रौलेट कमेटी के सुझावों के अनुसार 1919 में रौलट एक्ट पास हुआ। यह काला कानून का, जो किसी भी व्यक्ति को, बिना कोई आरोप लगाये, गिरफ्तार कर लेने की अनुमति प्रदान करता था, देश भर में भारी विरोध हुआ था।

गांधी ने रौलट एक्ट के विरुद्ध देशव्यापी 'सत्याग्रह' का आह्वान किया। देशव्यापी जनअसंतोष की स्थिति में, 'सत्याग्रह' आंदोलन प्रारम्भ हुआ और शीघ्र ही इसने एक विशाल जनांदोलन का रूप ग्रहण कर लिया। ब्रिटिश सरकार ने इस जनांदोलन को दबाने के लिए, पुनः भीषण दमन चक्र चलाया। जनरल डायर ने जालियावाला बाग में जनसमूह पर, जो गांधी की गिरफ्तारी का शांतिपूर्ण एकत्रित विरोध कर रहा था, अंधाधुंध गोलियां बरसाईं। इस नरसंहार की सबने भर्त्सना की, कांग्रेस के नरमदलीय घड़े ने भी। परंतु गांधी ने, इस नरसंहार के विरुद्ध उठ खड़े होने वाले हिंसक विरोध की भर्त्सना की और कहा कि उन्होंने संघर्ष का आह्वान करके हिमालयन भूल की है और वे जनता की हिंसक कार्रवाइयों की भर्त्सना करते हैं। उन्होंने उस समय आंदोलन के 'तात्कालिक रूप से' वापस ले लिया जब वह अपनी सर्वोच्च उठान पर था, और इस प्रकार उन्होंने उन दलाल वर्गों के हितों को ही साधा था, जो उन्हें, अपने संकटपूर्ण समय के उद्धारक के रूप में देखते थे।

अंतिम समय तक, गांधी ने अपने इस तरीके का पालन किया। वे जनता के शक्तिशाली आंदोलनों का नेतृत्व थामने के लिए स्वयं आगे आ जाते और फिर जनता पर हिंसक तरीके अपनाने का आरोप लगाते, जनता से मांग करते कि वह औपनिवेशिक शासन के निर्दय दमन को बिना प्रतिरोध किए चुपचाप स्वीकार कर ले। औपनिवेशिक शासक गांधी से इसी की तो अपेक्षा करते थे और इसलिए उनकी महात्मा के रूप में प्रशंसा करते थे ताकि जनता उन्हें अपना मसीहा मान ले।

असहयोग आंदोलन

रौलेट आंदोलन से लगा–लगा खिलाफत आंदोलन भी रहा। ब्रिटेन ने तुर्की के क्षेत्र को बांध दिया था और सुल्तान, खलीफा की शक्तियों को सीमित कर दिया था। खिलाफत की शक्तियों और तुर्की के क्षेत्र की पुनर्स्थापना के लिए चला आंदोलन जोर पकड़ने लगा था। भारत में मोहम्मद अली और शौकत अली ने खिलाफत कमेटी बना ली और पूरे देश के मुस्लिमों का समर्थन जुटाने में लग गये। खिलाफत आंदोलन के ही एक हिस्से के रूप में इस्लाम की भूमि पर निवास के लिए अफगानिस्तान चले जाने के उद्देश्य से मुहाजिर आंदोलन भी शुरू हो गया।

गांधी के नेतृत्वाधीन कांग्रेस ने देशव्यापी जनांदोलनों की पृष्ठभूमि में असहयोग आंदोलन का उद्घोष किया। शांतिपूर्ण और कानूनन सम्मत साधनों के जरिए स्वराज प्राप्त करने को अपना उद्देश्य घोषित किया था। असहयोग आंदोलन के कार्यक्रम के ये तीन बिंदु थे–

1. विधानसभाओं, अदालतों, शैक्षिक संस्थानों और पदों का बहिष्कार।
2. प्रत्येक घर में चरखे पर कताई करना।
3. कर भुगतान से इंकार।

तीसरे बिंदु को छोड़कर इस आंदोलन में ऐसा कुछ भी नहीं था, जो सरकार के लिए समस्या खड़ी करता। पहले दो बिंदुओं का परिपालन किया गया और तीसरे बिंदु को यह कहकर ठंडे बस्ते में डाल दिया गया कि अभी इसके लिए समय परिपक्व नहीं है। आंदोलन तीव्र गति से फैलने लगा और महत्वपूर्ण बात यह हुई कि आंदोलन को जनता का व्यापक समर्थन मिला और इसने एक वास्तविक जनांदोलन का रूप ग्रहण कर लिया। निश्चय ही ऐसा आंदोलन गांधीवादी नेतृत्व द्वारा लगाई गई सीमाओं के भीतर नहीं रूका रह सकता था। अक्सर ही लोग अपने नेता की नापसंदगी को भूल जाती थी और हथियार उठाने तक जा पहुंचती थी। आंदोलन ने अखिल भारतीय स्वरूप ले लिया था और इसने व्यापक जनसमुदाय को अपने भीतर समेट लिया था और वास्तविक अर्थों में जन प्रकृति वाला हो गया था। तब आंदोलन ने बगावत की शक्ल अख्तियार करना शुरू कर दिया, जब लोगों ने सरकारी मशीनरी और संपत्तियों को निशाना बनाना शुरू कर दिया। इस बात के संकेत मिलने लगे थे कि आंदोलन नेतृत्व द्वारा लगाई गई सीमाओं को तोड़ रहा है और उनके नियंत्रण से बाहर हो जाने वाला है। कांग्रे और इसके नेता अपने ही द्वारा शुरू किए गये आंदोलन के तीव्र प्रसार को देखकर घबड़ा उठे थे।

अपने इस सीमित कार्यक्रम के बल पर गांधी ने एक वर्ष में 'स्वराज' हासिल करने की डींग हांकी थी। लेकिन अभी तो यह दूर–दूर तक नजर नहीं आ रहा था और आंदोलन था कि गांधीवादी अहिंसा के घेरे को तोड़ने लगा था और नियंत्रण के बाहर जो हाने को अमादा था। ठीक इसी समय उत्तर प्रदेश और केरल में किसान संघर्ष भड़क उठे। मजदूर आंदोलन की जो लहरें जो प्रमुख औद्योगि क्षेत्रों में उफान मारने लगी थी, उनसे अब सशस्त्र हो उठने की गर्जना आने लगी थी। भारतीय मजदूर वर्ग ने ट्रेड यूनियन संघर्ष भी प्रारंभ कर दिया था और वे स्वयं को आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस (एटक) में संगठित करने में जुट गये थे। सामने आने वाला आंदोलन का ऐसा विकास कांग्रेस की नेतृत्वकारी शक्तियों को विशेषकर गांधी को कैसे अच्छा लग सकता था।

गांधी खिलाफत आंदोलन में भी अपने 'सत्याग्रह' वाले तरीके को आरोपित करने में सफल हो गये थे। उन्हें खिलाफत कमेटी का अध्यक्ष भी चुन लिया गया। जनता की इन सारी ताकतों का इस्तेमाल करते हुए और इस प्रकार ब्रिटिशों पर अपना दबाव बढ़ाते हुए गांधी ने 'स्वराज' प्राप्त कर लेने की आशा लगा रखी थी। लेकिन सरकार भी चुप नहीं बैठी थी, उसने आंदोलन को कुचल डालने के लिए भीषण दमन का तरीका पुनः अख्तियार कर लिया। गांधाी का, जिसने करो या मरो का अर्थात् एक वर्ष में 'स्वराज' प्राप्त कर लेने या अपनी जान दे देने का प्रण लिया था, सरकार के इस दृढ़ रवैये को देखकर दिल ही बैठने लगा था। इधर जनांदोलन में एक शक्तिशाली तूफान में बदल जाने की और गांधीवादी सीमाओं को धता बताते हुए अगले उच्चतर चरण में प्रवेश कर जाने की प्रवृत्ति दिखाई देने लगी थी और उधर सरकार गांधी को अपना चेहरा बचाने के लिए कोई आधार देने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं थी।

12 अप्रैल 1919 को गांधी ने एक आचार संहिता जारी कि, जिसका 'सत्याग्रहियों' को कड़ाई से पालन करना थाः **'स्वयंसेवकों को जुलूसों, प्रदर्शनों और हड़तालों का आयोजन नहीं करना चाहिए; अहिंसा का कत्तई इस्तेमाल नहीं होना चाहिए, पत्थर फेंकने का भी नहीं। ट्राम, कार और ट्रैफिक को बाधित नहीं किया जाना चाहिए, किसी के विरुद्ध किसी भी तरह का दबाव नहीं डालना चाहिए। पब्लिक मीटिंग में तालियां नहीं बजनी चाहिए; स्वीकार या असहमति की अभिव्यक्तियां न हों; शेम शेम का शोर न हो; उत्साह का उद्घोष भी न हो।**

स्वयंसेवकों को पूर्ण आत्मनियंत्रण में रहना चाहिए; उन्हें अपने संगठनकर्ताओं के आदेश का पालन करना चाहिए।'

गांधी द्वारा संरचित 'सत्याग्रह' आंदोलन का वास्तविक उद्देश्य जनता की चेतना को कुंद करना था। संघर्षरत जनों ने गांधी 'महात्मा' के प्रति अपनी निष्ठा प्रदर्शित करने के साथ ही साथ बहुधा समस्त संहिताओं और प्रतिबंधों को पार कर जाते थे और उपनिवेशवादियों के कठोर दमन का प्रतिकार करते थे। सशस्त्र संघर्ष अब आम बात थी और अदालतें, रेलवे स्टेशन, सरकारी आफिस, यातायात और संचार साधन जन विद्रोहों के क्रोध का निशाना बनने लगे थे।

स्वतंत्रता संग्राम की समूची अवधि के दौरान हमारे देश के लोग गांधीवादी, सीमाओं को तोड़ते हुए वीरतापूर्वक लड़ते रहे थे। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन को अहिंसात्मक बताना इतिहास को झुठलाना है क्योंकि समूचे आंदोलन के दौरान लोगों ने सशस्त्र संघर्ष को अख्तियार करते रहे थे और हजारों ने इसमें अपने प्राणों का बलिदान किया था। जनता के बीच बढ़ती हुई युद्ध भावना ने दलाल वर्गों और नेताओं को चिंता में डाल दिया था। प्रसिद्ध चौरी–चौरा कांड ने गांधी के हाथों में उस संघर्ष को वापस खींच लेने का बहाना थाम दिया, जो उनके द्वारा निर्धारित सीमाओं को लांघते हुए एक ज्वालामुखी की तरह फैलता जा रहा था। चौरी–चौरा में, जब एक शांतिपूर्ण प्रदर्शन पर पुलिस द्वारा बिना किसी उकसावे के आक्रमण कर दिया गया, तब ग्रामवासियों की भीड़ ने पुलिस को दौड़ा लिया और थाने को फूंक डाला। यह घटना जिसमें 22 पुलिस के जवान मारे गये थे, भारतीय बड़े पूंजीपतियों और कांग्रेसी नेताओं, दोनों की राष्ट्रवादिता और देशभक्ति का लिटमस टेस्ट था।

''ब्रिटिशों की घबराहट और सतर्कता इस तथ्य में देखी जा सकती है कि सेशन कोर्ट ने चौरी–चौरा कांड के 225 अभियुक्तों में से कम से कम 172 को मृत्युदंड की सजा सुनाई।(इनमें से 19 को फांसी चढ़ा दिया गया और शेष को जलावतन कर दिया गया) यह एक शर्म की बात बनी रहेगी कि 22 मृत पुलिसमैनों के बदले में 170 लोगों का जीवन छीन लेने के जघन्य प्रयत्न के विरोध में वस्तुतः कोई राष्ट्रीय प्रतिरोध नहीं किया गया– जो एक मात्र प्रतिरोध दर्ज हुआ था, वह था एम.एन.राय के प्रवासी कम्युनिस्ट जर्नल, वेनगार्ड द्वारा और कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की कार्यकारिणी कमेटी द्वारा– और यह कि आज भी चौरी–चौरा में पुलिसमैनों का स्मारक मौजूद हैं– परंतु किसान शहीदों के सम्मान में कुछ भी नहीं है। ''

चौरी–चौरा की घटना के तुच्छ बहाने को लेकर ही गांधी ने कांग्रेस की कार्यकारिणी कमेटी से सलाह किये बिना ही संघर्ष को वापस ले लिया और इसके परिणाम स्वरूप कांग्रेस और गांधी की प्रतिष्ठा काफी नीचे गिर गयी। लोगों का गांधी से मोहभंग हो गया, जिन्होंने 1920 में एक वर्ष के भीतर 'स्वराज' प्राप्त कर लेने का दावा किया था। यह मोहभंग इतना व्यापक था कि जब 1922 में उन्हें 6 साल की कैद की सजा सुनाई गई तब ''गांधी के जेल जाने पर पूरे भारत में किसी प्रकार के विरोध की कोई सुगबुगाहट नहीं सुनाई दी।''

आंदोलन की वापसी ने कांग्रेस के भीतर के और बाहर के सभी देशभक्त नौजवानों को हतोत्साहित कर दिया था। वे एक वैकल्पिक क्रांतिकारी रास्ते की तलाश में लग गये। सशस्त्र संघर्ष का रास्ता, जो गांधी के प्रादुर्भाव के पहले सेही मौजूद था अब पुनः पहले से अधिक प्रगतिशील विचारधारा के साथ और पहले से अधिक व्यवहारिक होकर सामने आ गया था। पूरे देश में ही क्रांतिकारी गतिविधियां तेज हो गईं। इसके साथ ही आदिवासी किसानों का 'मान्यम' विद्रोह लोकप्रसिद्ध नायक अल्पुरी सीताराम राजू के नेतृत्व में उफान पर था। भगतसिंह और चन्द्रशेखर आजाद जैसे देशभक्त नौजवान बोल्शेविज्म के प्रभाव में यह

समझकर कि इतिहास के वास्तविक निर्माता जनता होती है, सही क्रांतिकारी रास्ते की तलाश में थे।

1924 में उन राष्ट्रीय क्रांतिकारियों को फांसी पर चढ़ा दिया जिन्होंने कलकत्ता के कुख्यात पुलिस कमिश्नर का वध करने का प्रयास किया था। प्रसिद्ध क्रांतिकारी गोपीनाथ साहा ने नौजवानों को जेल से गर्जना करते हुए ललकारा था ''मेरे रक्त की एक–एक बूंद भारत के प्रत्येक परिवारों में स्वतंत्रता के बीज बायेगी।'' 1923 में शचीन्द्र नाथ सान्याल और जोगेश चन्द्र चटर्जी ने कुछ अन्य लोगों के साथ मिलकर हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन की स्थापना की थी। इसके कार्यकर्ता बिहार से पंजाब तक फैले हुए थे। आगे चलकर महान क्रांतिकारी भगत सिंह और प्रसिद्ध कम्युनिस्ट नेता अजय घोष इसी संगठन द्वारा क्रांतिकारी आंदोलन में दीक्षित किए गये थे। भगतसिंह के नेतृत्व में संगठन का पुनर्गठन हुआ, नई दिशा ग्रहण की गई और इसका नया नया नाम रखा गया हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोशिएशन। इसने घोषित किया कि इस संगठन का उद्देश्य न केवल स्वतंत्रता प्राप्त करना है अपितु एक ऐसा समाज बनाना भी है जिसमें एक व्यक्ति द्वारा दूसरे के शोषण और दमन का अंत कर दिया जायेगा।

इस प्रकार गांधी द्वारा असहयोग आंदोलन से विश्वासघात के बाद, जब राष्ट्रीय क्रांतिकारी स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए सशस्त्र संघर्ष के वैकल्पिक रास्ते की तलाश में लगे हुए थे, उसी समय भारतीय सर्वहारा द्वारा इसके हिरावल भारत की कम्युनिस्ट पार्टी स्थापित करने की प्रक्रिया भी शुरू कर दी गई थी।

****

जब से मजदूर वर्ग एक महत्वपूर्ण राजनीतिक ताकत के रूप में उभरकर सामने आया था, यह साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करता रहा है। इंग्लैंड मे चार्टिस्ट आंदोलन और इसकी आमुख–पत्रिकाओं ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध व्यापक विचारधारात्मक संघर्ष जारी रखा था। चार्टिस्ट नेता अर्न्स जोंस ने यह स्पष्ट कर दिया था कि इंग्लैंड की उपनिवेशों द्वारा युद्ध चलाने जाने की औपनिवेशिक नीति दरअसल स्वयं अपने देश की जनता की स्वतंत्रता को दबाये रखने के लिए है। उन्होंने भारत में विद्रोह (1857) उठ खड़े होने की अपरिहार्यता को पहले से ही सही–सही समझ लिया था और इसकी भविष्य वाणी कर दी थी। राबर्ट ओवन ने 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के सराहना की थी। इस प्रकार चार्टिस्ट आंदोलन के समय से ही अंतर्राष्ट्रीय मजदूर वर्ग में उपनिवेशवाद विरोधी प्रवृत्ति मौजूद थी।

मार्क्स और एंगेल्स ने दमित राष्ट्रों के राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्षों तथा, तथा उनके वैश्विक क्रांतिकारी प्रक्रिया पर पड़ने वाले प्रभावों पर, राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन और अंतर्राष्ट्रीय मजदूर आंदोलन के आपसी संबंधों पर, मेट्रोपोलिटन देशों के सर्वहारा की सरकार की औपनिवेशिक नीतियों के प्रति रुख पर तथा सर्वहारा के सहयोगी वर्गों की पहचान पर अपनी दृष्टि की वैज्ञानिक तरीके से व्याख्या प्रस्तुत की थी। उन्होंने बाकुनिनपंथियों की उन दलीलों का स्पष्ट रूप से विरोध किया था, जिनके अनुसार उपनिवेशों पर पूंजीवादी देशों का शासन उन पिछड़े देशों में संस्कृति और सभ्यता के उद्भव और प्रसार का काम करेगा और इस प्रकार औपनिवेशिक शासन उपनिवेशों की जनता के लिए लाभदायक है। मार्क्स ने बाकुनिपंथियों के साथ अपनी बहस में कहा था, ''राष्ट जो दूसरों का दमन करता है, खुद की बेड़ियों को मजबूत करता है।'' प्रथम इंटरनेशनल ने बाकुनिन द्वारा उपनिवेशवाद को

''पूंजीवाद का संस्कृति प्रसारक मिशन'' बताते हुए, इसके औचोत्यीकरण को ठुकरा दिया था।''

मार्क्स और एंगेल्स ने उत्पीड़ित जनता द्वारा अपनी मुक्ति के लिए लड़ने के ऐतिहासिक अधिकार का समर्थन किया। उन्होंने इंग्लैंड के मजदूर वर्ग और अंतराष्ट्रीय मजदूर आंदोलन का, आयरिश जनता के मुक्ति आंदोलन का समर्थन करने के लिए, आह्वान किया। ''एक लम्बे समय तक मैं विश्वास करता रहा था कि आयरिश शासन का पतन इंग्लैंड के मजदूर वर्ग का प्रभुत्व बढ़ते जाने से संभव हो सकेगा, परंतु गंभीर अध्ययन ने अब मुझे कायल कर दिया है कि इसका उल्टा ही होगा। इंग्लैंड का मजदूर वर्ग तब तक कुछ नहीं कर सकता जब तक कि यह आयरलैंड से मुक्त न हो जाय। सामान्य रूप से सामाजिक आंदोलन के लिए आयरिश प्रश्न इतना महत्वपूर्ण हो जाता है।''

मार्क्स और एंगेल्स ने राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों और अंतराष्ट्रीय समाजवादी आंदोलन के आपसी संबंध को भी भलीभांति पहचान लिया था। मार्क्स अपने आलेख 'चीन में यूरोप में क्रांति' में कहते हैं ''यह एक बहुत ही अजीब और विरोधाभासी दावा कहा जायेगा कि यूरोपीय जनों का अगला उभार और गणतांत्रिक आजादी और अर्थव्यवस्था या सरकार के लिए अगले आंदोलन की ज्यादा संभावना, अन्य किसी मौजूदा राजनीतिक कारण की अपेक्षा, इस बात पर निर्भर करता है कि – यूरोप के ठीक विपरीत – इसके औपनिवेशिक उपग्रहित साम्राज्य में क्या घटित होता है।''

एंगेल्स को जनवरी 1858 को लिखे गये अपने पत्र में भारत में विद्रोह के संबंध में मार्क्स अपना यह निरीक्षण सामने रखते हैं कि ''जन और धीन को बाहर खींच लाने के द्वारा'' भारत का मुक्ति आंदोलन इंग्लैंड में मजदूर वर्गीय आंदोलन के लिए एक वस्तुगत कारक बन चुका है।

19वीं शताब्दी के मध्य तक, पूंजीवाद ने अपने औपनिवेशिक बंधक देशाों के साथ, समूचे विश्व को अपना बाजार बना लिया था। इसके परिणामस्वरूप उपनिवेशों और उपनिवेशों में भी पूंजीवाद जन्म लेने और विकसित होने लगा था। सबसे पहले मार्क्स और एंगेल्स ने इस बात को महसूस किया कि उपनिवेशों और अर्द्वउपनिवेशों में भी विकास का पूंजीवादी चरण अपरिहार्य है। इसलिए अब वे इस प्रश्न से दो–चार थे कि एक अंतर्विरोधी स्थिति में जिसमें एक तरफ यूरोप में क्रांति अपने समाजवादी क्रांतिकारी चरण में भी और दूसरी तरफ विशाल पिछड़ी दुनिया में पूंजीवाद का अभी भी विकास हो रहा था। दूसरे शब्दों में, प्रश्न यह था कि कया शेष दुनिया में विकसित होता हुआ पूंजीवाद, यूरोप के भीतर, परिस्थितियों के परिपक्व होने के बावजूद क्रांति को ध्वस्त नहीं कर देगा?

''हमारे लिए कठिन प्रश्न यह है : महाद्वीप (यूरोप) पर क्रांति आसन्न है और यह तुरंत ही समाजवादी चरित्र ग्रहण कर लेगी। क्या दुनियाके इस छोटे से कोने में ध्वस्त हो जाने के लिए बाध्य नहीं है, यह देखते हुए कि कहीं अधिक विशाल क्षेत्र में अभी भी बुर्जुआ वर्ग अभी विकसित ही होरहा है?''

इस प्रश्न ने स्वाभाविक रूप से उन्हें उपनिवेशों में पूंजीवादी संबंधों की विशिष्ट प्रकृति और उनके सामाजिक उद्विकास को विशिष्ट चरित्र का गंभीर अध्ययन करने के लिए तत्पर कर दिया था। इसके परिणामस्वरूप उन्होंने इस पहेली को हल कर लिया था। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि उपनिववेशों के विकास के लिए पूंजीवादी चरण से गुजरना अपरिहार्य नहीं है। उन्होंने महसूस किया कि यह संभाव्य है कि ये देश बिना पूंजीवादी चरण से गुजरे समाजवाद तक पहुंच सकते हैं। इस प्रकार वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि अगर यूरोप में क्रांति सफल

होती है। इन देशो की मदद से पिछड़े देश अपनी उत्पादक शक्तियों को विकसित कर सकेंगे और समाजवाद तक पहुंच सकेंगे।

''यह उदाहरण पिछड़े देशों को यह दिखायेगा कि ऐसा कैसे किया गया है, कि कैसे आधुनिक उद्योगों की उत्पादक शक्तियों का निर्माण किया जाए, जिन्हें अब सार्वजनिक सम्पत्ति बना लिया गया है और कैसे इन्हें सामान्य रूप से सारे समाज की सेवा में लगाया जाए। केवल तभी जाकर वे पिछड़े देश विकास के इस लघुकृत रास्ते को अपनाने में समर्थ हो सकेंगे।''

एंगेल्स के जीवन काल में ही, सामाजिक जनवादी आंदोलन में उपनिवेशवाद को मदद पहुंचाने की प्रवृत्ति विकसित हो रही थी। यह मत कि उपनिवेशों से प्राप्त लाभ के जरिये समूचे यूरोप के मजदूर वर्ग आगे उन्नति कर सकते थे। यह प्रवृत्ति द्वितीय इंटरनेशनल के स्टुगार्ड कांग्रेस में मजबूत हो चली थी। डच सामाजिक जनवादी वों कोल द्वारा प्रस्तावित ''समाजवादी औपनिवेशिक नीति'' को ठुकरा दिया गया था। लेकिन इस बात पर ध्यान देना मूल्यवान है कि इस प्रस्तावव के समर्थन में 108 वोट हासिल हुए थे (128 वोट इसके खिलाफ थे)। इन समाजवादी उपनिवेशवादियों ने यह दलील दी थी कि पूंजीवादी उपनिवेशवाद पिछड़े असभ्य देशों में क्रांतिकारी आंदोलनों को आगे बढ़ायेंगे।

लेनिन पूंजीवाद और उसके द्वारा लोगों के उत्पीड़न का समर्थन करने की इस प्रवृत्ति के खिलाफ संघर्ष छेड़ दिया। उन्होंने अपनी व्याख्या द्वारा स्पष्ट किया कि पूंजीवाद किस प्रकार पूरी तरह परजीवी हो चुका है और औपनिवेशिक देशों के शोषण के बल पर जिंदा है। उन्होंने यह साफ कर दिया कि ऐसा कोई भी जो राष्ट्रीय शोषण–दमन की भर्त्सना करने से इंकार करता है, वह अंतर्राष्ट्रीयतावादी नहीं हो सकता। लेनिन ने उद्घोषित किया कि राष्ट्रों के आत्मनिर्णय का अधिकार अंतर्राष्ट्रीय भाईचारा स्थापित करने की ओर एक कदम है।

लेनिन के अनुसार उपनिवेशों और अर्द्धउपनिवेशों में चल रहे राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन, वैश्विक समाजवादी क्रांति के रणनीतिक रूप से सुरक्षित बल है। ये सामाजिक क्रांति के अविभाज्य अंग हैं। ''साम्राज्यवाद का अर्थ है कि पूंजी राष्ट्र–राज्य की संरचना की हद से बाहर तक बढ़ गई है। इसका अर्थ यह है कि राष्ट्रीय दमन, एक नई ऐतिहासिक बुनियाद पर खड़ा होकर विस्तारित और तीखा हो चला है। इससे यह नतीजा निकलता है कि समाजवाद के लिए क्रांतिकारी कार्यक्रम के साथ जोड़ देना हमारे लिए परमावश्यक हो गया है।''

तीसरे इंटरनेशनल ने अपनी पहली कांग्रेस ने जो मास्को में 2 मार्च से 6 मार्च 1919 तक आयोजित हुई थी। औपनिवेशिक और अर्द्धऔपनिवेशिक देशों के सवाल पर अपनी अवस्थिति उद्घोषित की थी, ''कोंमिटर्न मानता है कि, साम्राज्यवादी देशों में सर्वहारा संघर्ष और औपनिवेशिक तथा अर्द्धऔपनिवेशिक देशों में शोषित–पीड़ित जनता के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के बीच, एक स्थाई और घनिष्ठ बंधन का निर्माण करना और उत्पीड़ित लोगों के संघर्षों को मदद पहुंचाना, साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था को अंतिम रूप से ध्वस्त करने के लिए अनिवार्य है।''

लेनिन ने कहा कि समाजवादियों का कर्तव्य होगा ''इन देशों में राष्ट्रीय मुक्ति के लिए जारी बुर्जुआ जनवादी आंदोलनों में शामिल अधिक क्रांतिकारी तत्वों को दृढ़ समर्थन करना और उनकी ऐसे मदद करना कि उनका विद्रोह, या क्रांतिकारी युद्ध, उनका उत्पीड़न करने वाली साम्राज्यवादी शक्तियों के खिलाफ होने वाली एक घटना बन जाय।''

उन्होंने आगे पूर्वी देशों के कम्युनिष्टों को संबोधित करते हुए कहा कि ''...पूर्वी जनों का अधिकांश मेहनतकश जन के विशिष्ट प्रतिनिधि हैं– ऐसे मेहनतकश नहीं हैं जो पूंजीपति के कारखाना रूपी विद्यालय से प्रशिक्षित हैं – बल्कि उन कामगारों और शोषित किसानों के प्रतिनिधि हैं, जो मध्यकालीन उत्पीड़न के शिकार रहे हैं।'' आपने एक ऐसे कार्यभार का सामना किया है, जैसा आपसे पहले दुनिया के किन्हीं भी कम्युनिष्टों ने नहीं किया था। आपको ऐसी परिस्थितियों के प्रति ख़ुद को ढालना होगा, जैसी परिस्थितियां यूरोपीय देशों में मौजूद नहीं है। आपको उस सिद्धांत और व्यवहार को ऐससी परिस्थितियों पर लागू करना और क्रियान्वित करना होगा, जिनमें जीने वाली जनसंख्या का बहुलांश किसान हैं, और जिनमें आपका कार्यभार पूंजीवाद के नहीं बल्कि मध्यकालीन अवशेषों के विरुद्ध संघर्ष छेड़ना है।''

अक्टूबर क्रांति की विजय के साथ ही उपनिवेशों और अर्द्धउपनिवेशों के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष एक नये चरण पर पहुंच गये हैं। सोवियत रुस, जिसने बिना किसी अपवाद के राष्ट्रीयताओं के आत्मनिर्णय के अधिकार को लागू किया है, अब समस्त उत्पीड़ित जनों का मित्र और निर्देशक बन चुका है। इसने पर्सिया, टर्की और अफगानिस्तान के आत्मनिर्णय के अधिकार को स्पष्ट समर्थन दिया है। यह चीन और भारत के मुक्ति संघर्षों का भी समर्थन करता है।

लेनिन के निर्देशन के अधीन, कोमिन्टर्न ने औपनिवेशिक एवं अर्द्धऔपनिवेशिक देशों के मुक्ति संघर्षों को प्रतिबद्ध समर्थन प्रदान किया। उपनिवेशों के क्रांतिकारी आंदोलन के संबंध में लेनिनवादी विचारधारा के प्रमुख बिंदु निम्न हैं :

1. औपनिवेशिक, अर्द्धऔपनिवेशिक और पिछड़े हुए देशों में जनवादी आंदोलनों के दो निशाने हैं, साम्राज्यवाद और सामंतवाद।

2. क्रांति प्रमुखतया किसानी चरित्र वाला होगा। इसलिए मजदूर वर्ग को कृषि क्रांति के एक कार्यक्रम के तहत किसानों की गोलबंदी करनी होगी तथा उनका नेतृत्व संभालना होगा।

3. सोवियत रुस की और विकसित देशों के श्रमिक वर्गों की मदद से , ये देश पूंजीवादी चरण में प्रवेश किये बगैर समाजवाद तक पहुंच सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि इन देशों को समाजवाद के लिए आवश्यक भौतिक दशाओं का, निर्माण गैर–पूंजीवादी रास्ते के जरिये करना होगा।

4. इन देशों के लिए मजदूरों और किसानों के संश्रय को अपनी बुनियाद बनाते हुए, किसानों, मजदूरों और राष्ट्रीय बुर्जुआ के एक संयुक्त मोर्चे की मदद ससे जनवादी क्रांति को सफल बनाना आवश्यक होगा।

5. राष्ट्रीय बुर्जुआ का दोहरा चरित्र होगा और वह समझौतावादी प्रवृत्ति रखेगा। चूंकि मजदूर आंदोलन अभी भ्रूणावस्था में है, इसलिए इसके साथ संयुक्त मोर्चा बनाना आवश्यक है, लेकिन जैसे–तैसे मजदूर वर्ग उत्पीड़ित जनों का खास करके किसानों का स्वीकृत नेतृत्व बनता जायेगा, राष्ट्रीय बुर्जुआ संयुक्त मोर्चे को छोड़ता जायेगा।

कोमिंटर्न ने उपनिवेशों में कम्युनिस्ट पार्टियों की स्थापना और लेनिन के विचारों के अनुसार उनका निर्देशन करने का प्रयास किया। लेकिन उपनिवेशों में कम्युनिस्ट पार्टियों और कोमिंटर्न के नेताओं के यांत्रिक तरीकों की वजह से ये पार्टियां लेनिनवादी विचारों के अनुसार विकसित नहीं हो सकी। यह कहा जा सकता है कि चीनी कम्युनिस्ट पार्टी सीपीसी वह पहली पार्टी थी जो माओ के नेतृत्व में लेनिनवादी उसूलों को लागू करने में समर्थ हो सकी थी। माओ ने, अपने नव जनवादी क्रांति के सिद्धांत के जरिये, उपनिवेशों में क्रांतियों के लेनिनवादी समझ को उपनिवेशों और अर्द्धउपनिवेशों के लिए उपयुक्त सामान्य और विस्तृत

सिद्धांत में विकसित किया। यद्यपि कि माओ का सिद्धांत चीनी क्रांति के आधार पर विकसित हुआ था, फिर भी यह उपनिवेशों और अर्द्धउपनिवेशों में लागू करने योग्य सामान्य क्रांतिकारी सिद्धांत सिद्ध हुआ।

1950 में कोमिन्टर्न ने क्रांति के चीनी रास्ते को पूर्व क्रांतियों के सामान्य रास्ते के रूप में स्वीकार कर लिया। नव जनवादी क्रांति का सिद्धांत मार्क्सवाद–लेनिनवाद–माओवाद के विकास के एक अपरिहार्य अंग बन गया।

माओ ने नव जनवादी क्रांति के चरण का इस प्रकार वर्णन किया था ''अपने इतिहास पथ पर चीनी क्रांति का दो चरणों से होकर गुजरना अनिवार्य है, पहला, जनवादी क्रांति का, और दूसरा समाजवादी क्रांति का, और अपनी खास प्राकृतिक प्रक्रियायें हैं। इस जनवाद का जनवाद की पुरानी कोटि से संबंध नहीं है– यह पुराना जनवाद नहीं है, बल्कि यह एक भिन्न कोटि का है– यह नव जनवाद है।''

''नव जनवादी क्रांति, व्यापक जनता की सर्वहारा के नेतृत्व में, एक साम्राज्यवाद विरोधी और सामंतवाद विरोधी क्रांति है... नव जनवादी क्रांति इस बात में कि इसके परिणाम में, बुर्जुआ की तानाशाही स्थापित होती है, यूरोप अमरीका क्रांतियों से सर्वथा भिन्न है।''

''आर्थिक रूप से इसका उद्देश्य सभी बड़े प्रतिष्ठानों की और साम्राज्यवादियों, दगाबाजों तथा प्रतिगामियों की सम्पत्ति जब्त कर लेना, और जमींदारों द्वारा दबाई गई भूमि को किसानों में बांट देना है, जबकि सामान्य तौर पर निजी पूंजीपतियों की संपत्ति को सुरक्षित रहने देना और धनी किसानों की अर्थव्यवस्था को न छेड़ा जाना है।'' इस प्रकार नये किस्म की जनवादी क्रांति एक तरफ पूंजीवाद का रास्ता हमवार करती है और दूसरी तरफ समाजवाद की पूर्व परिस्थितियों का निर्माण करती है। चीनी क्रांति का वर्तमान चरण औपनिवेशिक अर्द्धऔपनिवेशिक और अर्द्धसामंती समाज की समाप्ति तथा एक समाजवादी समाज की स्थापना के बीच एक संक्रमणकालीन चरण है अर्थात् यह नवजनवादी क्रांति की एक प्रक्रिया है।''

''साम्राज्यवादी उत्पीड़न से मुकाबला करने के लिए और अपनी पिछड़ी अर्थव्यवस्था को उन्नत करने के लिए चीन को उन शहरी ग्रामीण पूंजीवादी तत्वों का लाभ उठाना होगा राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए लाभकारक है न कि हानिकारक और जनता को जीविका प्रदान करनी होगी; और हमें राष्ट्रीय बुर्जुआ के साथ अपने साझा संघर्ष में एकजुट होना होगा। हमारी वर्तमान पूंजीवाद को नियमित करना है, न कि इसे नष्ट करना।''

नव जनवादी राजनीति के चरित्र को देखते हुए, यह अपने आप में समाजवादी क्रांति नहीं है बल्कि यह सर्वहारा की वैश्विक समाजवादी क्रांति का एक अपरिहार्य अंग है।

वर्तमान समय में, किसी उपनिवेश या अर्द्धउपनिवेश में होने वाली कोई भी क्रांति जो साम्राज्यवाद के विरुद्ध अर्थात अंतराष्ट्रीय बुर्जुआ या अंतर्राष्ट्रीय पूंजीवाद के विरुद्ध लक्षित हो, अब बुर्जुआ जनवादी वैश्विक क्रांति की कोटि के अंतर्गत नहीं वरन नई कोटि के अतंर्गत आती है। यह अब पुरानी बुर्जुआ या पूंजीवादी वैश्विक क्रांति का अंग नहीं, वरन एक नई वैश्विक क्रांति, सर्वहारा की समाजवादी वैश्विक क्रांति का अंग है।

लेनिन और कोमिन्टर्न मजदूर, किसान, निम्न बुर्जुआ और राष्ट्रीय बुर्जुआ के संयुक्त मोर्चा पर जोर दिया था। लेकिन माओ ने औपनिवेशिक देशों के बड़े पूंजीपति के दलाल चरित्र को पहचाना। उन्होंने केवल मध्यम पूंजीपतियों को राष्ट्रीय बुर्जुआ माना। इसका अर्थ है कि नवजनवादी क्रांति में यह हमारा रणनीतिक दुश्मन है। इसके साथ मात्र रणकौशलात्मक संश्रय ही संभव है। साथ ही वे राष्ट्रीय (अर्थात् माध्यम) बुर्जुआ को एक ढुलमुल सहयोगी के रूप में मानते थे जो दोहरा चरित्र रखता है। दलाल और राष्ट्रीय के रूप में पूंजीपतियों का

यह वर्गीकरण सामान्य कम्युनिस्ट आंदोलन में सामान्यतयाः और औपनिवेशिक देशी की कम्युनिस्ट पार्टियों में विशेषतयाः औपनिवेशिक बुर्जुआ के संबंध में व्याप्त विभ्रम को दूर करके एक स्पष्ट दृष्टि प्रदान करता है।

माओ ने दक्षताा के साथ, विभिन्न वर्गों और शक्तियों के, इनके आपसी संबंधों का और क्रांति के विभिन्न चरणों में, इनके आपसी संबंधों में होने वाले परिवर्तनों का विश्लेषण किया और इनको व्याख्यायित किया। यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि संयुक्त मोर्चे के रणकौशल के चीनी क्रांति में एक 'जादुई हथियार' का काम किया, संयुक्त मोर्चे ने नवजनवादी क्रांति में चाभी की भूमिका निभाई।

क्रांति के रुसी रास्ते को सार्वभौम मानने के रूढ़िवादी तरीके के ठीक विपरीत, माओ ने रचनात्मकता के साथ उपनिवेशों और अर्द्धउपनिवेशों में नवजनवादी क्रांति के पथ को एक दीर्घकालीन जनयुद्ध के पथ के रूप में सूत्रबद्ध किया। हम नवजनवादी क्रांति के पथ के माओ द्वारा किये गये सूत्रीकरण का सार संक्षेप इस प्रकार से कर सकते हैं : अगर कोई देश प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से और यह एक अर्द्धसामंती देश है जहां बुर्जुआ जनवादी अधिकार मौजूद नहीं है, तो उस देश की सर्वहारा पार्टी ठीक शुरुआत से ही लोगों को सशस्त्र संघर्ष के लिए तैयार करती है और उन्हें गतिशील करती है, किसानों– क्रांति की मुख्य ताकत के भरोसे पिछड़े हुए देहाती क्षेत्रों को अपने कार्यों का मुख्य केन्द्र बनाती है, एक सशस्त्र जनसेवा का गठन करती है, और देहाती इलाके में अपना आधार क्षेत्र (बेस एरिया) सुदृढ़ करती है और दीर्घकालीन लोकयुद्ध चलाते हुए अपने आधार का विस्तार करती है और अंततः नवजनवादी क्रांति को पूरा करने के लिए, शहरों पर कब्जा कर लेती है। ऐसे देश में संघर्ष का मुख्य रूप सशस्त्र संघर्ष होता है, परंतु अन्य तरह के जनसंघर्ष और जनसंगठन भी अपरिहार्य हैं। ये जन संगठन और जनसंघर्ष सशस्त्र संघर्षों के फूट पड़ने से पहले, इसकी तैयारी का काम करते हैं, और बाद में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इनकी मदद करते हैं। यह था चीनी क्रांति वह रास्ता जिस पर चलकर इसने 1949 में दुनिया को हिला देने वाली विजय हासिल की थी।

संक्षिप्त सारांश

मार्क्स और एंगेल्स ने राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों और समाजवादी क्रांति के अटूट रिश्ते की सही पहचान की और यह महसूसस किया कि ये मुक्ति संघर्ष समाजवादी क्रांति की विजय में अपना योगदान करेंगे। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि सर्वहारा को इन संघर्षों का खुला समर्थन करना चाहिए क्योंकि ये पूंजीवाद को कमजोर करने के लिए बाध्य हैं। उन्होंने इस तथ्य को चिन्हित किया कि पिछड़े देशों के विकास के लिए पूंजीवादी रास्ता अपनाने की ज़रूरत नहीं है।

पूंजीवाद ने अपने साम्राज्यवादी चरण में विश्व समाजवादी क्रांति को खरीद कर अपने कार्यक्रम के अधीन कर लिया। लेनिन ने उपनिवेशों में चल रहे मुक्ति संघर्षों को वैश्विक साम्राज्यवादी क्रांति के लिए सुरक्षित शक्ति माना और इसलिए अपने प्रयास को उन्हें एक दूसरे के साथ जोड़ने तथा अपने मध्य संश्रय स्थापित करने की तरफ निर्देशित कर दिया। विजयी अक्टूबर क्रांति के साथ ही पिछड़े देशों के जनवादी और राष्ट्रीय मुक्ति के संघर्ष वैश्विक समाजवादी क्रांति के अंश हो गये थे और इससे इन संघर्षों को भारी प्रेरणा और ताकत मिली थी। लेनिन इन संघर्षों की मुख्यतः किसानी प्रकृति पर जोर दिया और यह स्पष्ट किया कि विशाल किसान समुदायों के नेता के रूप में खुद खड़ा करके, और एक क्रांतिकारी कृषि कार्यक्रम को अपना करके ही इन देशों का सर्वहारा जनवादी क्रांति को संपन्न कर सकेगा और एक गैर पूंजीवादी रास्ते से समाजवाद में प्रवेश कर सकेगा। इसी

समझ के साथ कोमिंटर्न ने औपनिवेशिक और अर्द्धऔपनिवेशिक देशों में कम्युनिस्ट पार्टियों के निर्माण और उनका निर्देशन करना प्रारंभ किया।

माओ ने भी इसी समझ के आधार पर इन देशों के लिए सामान्य क्रांतिकारी कार्यदिशा और नवजनवादी क्रांति, जो लोककालीन लोकयुद्ध के पथ का अनुसरण करती है, वह कृषि क्रांति को अपना आधार बनाती हुई और सर्वहारा को अपना नेतृत्व प्रदान करती हुई, पिछड़े देशों के लिए एक सामान्य क्रांतिकारी कार्यदिशा सिद्ध होती है।

****

अक्टूबर क्रांति ने उपनिवेशों और अर्द्धउपनिवेशों के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों के इतिहास में एक नया अध्याय शुरू कर दिया। भारत में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन और मजदूर वर्ग के आंदोलन को अक्टूबर क्रांति से काफी ऊर्जा और प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। दरअसल 1905 की रुसी क्रांति ने ही भारत के क्रांतिकारी आंदोलन पर अपना शक्तिशाली प्रभाव छोड़ा था। लेकिन अक्टूबर क्रांति के साथ तो मजदूर वर्गों और राष्ट्रीय क्रांतिकारियों, दोनों को ही कम्युनिज्म की तरफ आकर्षित किया था। यहां तक कि कांग्रेस के भीतर के देशभक्त और राष्ट्रवादी ताकतों के बीच भी समाजवादी विचार विकसित होने लगे थे। कुल मिलाकर अक्टूबर क्रांति ने स्वतंत्रता आंदोलन पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ा था। खासतौर से मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी; साम्यवाद और समाजवाद की तरफ आकर्षित हुए थे। देशी भाषाओं के समाचार पत्र भी अक्टूबर क्रांति से प्रभावित हुए थे। भारतीय राजनीति ने समग्रता में एक वाम मोड़ ले लिया था। इसे परिणामस्वरूप, भारत में मार्क्सवादी अध्ययन चक्रों और कम्युनिस्ट समूहों का बनना शुरू हो गया था। अक्टूबर क्रांति से प्रभावित होकर कुछ क्रांतिकारियों ने कोमिंटर्न से सीधा संपर्क स्थापित कर लिया था। अक्टूबर क्रांति उन महत्वपूर्ण घटकों में से एक है जिसने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण के लिए जमीन तैयार की थी।

मजदूर वर्ग का एक दुर्जेय ऐतिहासिक शक्ति के रूप में उदय

प्रथम विश्वयुद्ध की अवधि में, भारत में कुछ हद तक औद्योगिक विकास संपन्न हुआ था। इससे भारतीय मजदूर वर्ग को ने संख्याबल के आधार पर खुद को मजबूत कर लिया था। आई.एल.ओ. (इंटरनेशनल लेबर आर्गेनाइजेशन) के अनुसार, 1910 से 1922 तक की अवधि में कारखाना मजदूरों की संख्या 5 लाख से बढ़कर 13.4 लाख तक जा पहुंची थी। युद्धोपरांत पैदा हुए संकट मजदूर वर्ग के संघर्षों में अभूतपूर्व वृद्धि देखी गई। 1918–21 की अवधि में होने वाली हड़तालों की संख्या और इसके प्रभाव ने यह साफ दिखा दिया था कि एक शक्तिशाली ताकत के रूप में मजदूर वर्ग का उदय हो गया है।

मार्च 1918 अहमदाबाद में कपड़ा मजदूरों की हड़ताल हुई थी। जनवरी 1919, में एक लाख से भी ऊपर बाम्बे कपड़ा मजदूरों ने एक माह तक चली हड़ताल में भाग लिया था। यह हड़ताल उस काल में हुई थी जब लोगों में 'होमरुल लीग' को काफी लोकप्रियता प्राप्त थी। तिलक के अनुवाइयों ने इस संघर्ष में समझौतापरस्ती की राह पर मोड़ देना चाहा। लेकिन मजदूरों ने होमरुल के नेतृत्व को ठुकरा दिया और अपना संघर्ष जारी रखा। उन्होंने अपनी मजदूरी में 20 प्रतिशत की वृद्धि हासिल कर ली। संगठित औद्योगिक मजदूरों में सुधारवादी नेतृत्व को ठुकराते हुए जुझारु संघर्ष की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी।

नवंबर–दिसंबर 1919 में कानपुर की ऊनी मिल में 17,000 मजदूरों ने सात दिन तक चली हड़ताल में भाग लिया था। फरवरी–मार्च 1920 में टाटा आयरन एंड स्टील वर्क्स के 40,000 मजदूरों ने एक महीने तक काम बंद रखा। इसी तरह से रंगून, कलकत्ता, शोलापुर और मद्रास में अनेक हड़तालें आयोजित हुई थीं। अकेले 1921 में महत्वपूर्ण मानी जाने वाली 396 हड़तालें आयोजित हुई थीं। करीब 6 लाख मजदूरों ने इन हड़तालों में भाग लिया थाा। इन हड़तालों से करीब सत्तर लाख मानव दिवसों की हानि हुई थी। कपड़ा, जूट, रेलवे, कोयला खदानों, बागानों (आसाम) ट्रामवे (कलकत्ता); बंदरगाहों, पोस्ट एंड टेलीग्राफ आदि विभिन्न उद्योगों में कार्यरत मजदूरों ने इन हड़तालों में भाग लिया था। उस समय के दौरान, जब राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन जारी था मजदूरों ने अनेकों बार राजनीतिक हड़तालों में भी हिस्सा लिया था। 1919 में रौलट एक्ट के खिलाफ चलने वाले संघर्ष में मजदूरों ने भी सक्रिय भागीदारी निभाई थी।

प्रिंस वेल्स के आगमन के विरोध में की गई राजनीतिक हड़तालें काफी महत्वपूर्ण थीं। इन हड़तालों में मुम्बई के कामगारों जुझारु संघर्ष किया था। वे सड़क संघर्षों में उलझ गये थे, जिसमें 30 मजदूर मारे गये थे। अहमदाबाद के मजदूरों ने 11वीं और 12वीं अप्रैल 1919 को नगर को अपने कब्जे में ले लिया था। बड़े पैमाने पर सरकारी संपत्तियां नष्ट हुई थीं। 30 लोगों का जान लेकर और बहुत को घायल करके ही सेना नगर को वापस अपने नियंत्रण में ले सकी थी।

ऐटक (AITUC)की स्थापना

इसी काल में, व्यवस्थित ट्रेड यूनियनों का निर्माण भी विकसित हो गया था। इन सभी विकासक्रमों ने राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय सभी मजदूर वर्ग की सुदृढ़ता के लिए आवश्यक जमीन तैयार की थी। 7 जुलाई 1920 को बंबई के मजदूरों ने आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस आयोजित करने का निर्णय लिया। ऐटक की स्थापना कांग्रेस 31 अक्टूबर से दो नंबर 1920 में आयोजित हुई थी।

इस कांग्रेस में देश के सभी हिस्सों से आये कुल 801 प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। 106 ट्रेड यूनियनों ने ऐटक से संबद्धता ग्रहण की और अपनी एकबद्धता तथा समर्थन जाहिर किया। कांग्रेस 5 लाख मजदूरों (2 लाख खान मजदूरों के साथ) का प्रतिनिधित्व करती थी।

लाला लाजपत राय को अध्यक्ष और जोसेफ बॉपतिस्ता को उपाध्यक्ष चुना गया। तिलक द्वितीय उपाध्यक्ष के लिए प्रस्तावित थे, परंतु कांग्रेस के आयोजन के पहले ही उनका निधन हो गया। बाद में स्टैंडिंग कमेटी की बैठक आयोजित हुई जिसने दीवान चमनलाल को अपना महासचिव चुन लिया।

ऐटक का निर्माण, भारत के मजदूर वर्ग का आगे की दिशा में एक बड़ा कदम था। परंतु उस समय इसका समूचा नेतृत्वव कांग्रेस नेताओं और सुधारवादियों के हाथ में था। 1920 तक आते निचले स्तर के इन ट्रेड यूनियन संगठनकर्ता वामपंथी विचारों की ओर झुकने लगे थे। निचले स्तर के इन ट्रेड यूनियन संगठनकर्ताओं ने जिन्होंने मजदूर वर्गीय आंदोलन की स्थापना में अपनी सक्रिय भूमिका निभाई थी, आगे चलकर कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

वे प्रमुख लोग जिन्होंने मजदूर आंदोलन की स्थापना के शुरुआती दौर में कड़ी मेहनत की थी निम्न हैं।

मद्रास से कल्याण सुंदरम, ई.एल.अय्यर, बी.पी.वाडिया, सिंगारवेलु चेट्टियार। बंबई से : जोसेफ बापतिस्ता, एन.एम.जोशी, आर.एस.एस. निम्बाकर, एस.ए. डांगे, एस.एस. मिराजकर,

के.एस.जोगेलकर। बिहार–बंगाल के कोयला खान मजदूरों से विश्वनंद। कानपुर से जे.पी. मित्तर। जिन लोगों ने मजदूर आंदोलन के निचले स्तर पर सक्रिय संगठनकर्ता का काम किया था, उनमें से अधिकांश कांग्रेस और स्वतंत्रता आंदोलन में भी सक्रिय थे। इन संगठनकर्ताओं में से अनेक लोगों को, दो महत्वपूर्ण घटनाओं : 1. अक्टूबर क्रांति, 2. राष्ट्रीय आंदोलन चलाने में कांग्रेस नेताओं से लोगों का मोहभंग ने वामपंथी विचारों और साम्यवाद (कम्युनिज्म) और आकर्षित कर दिया था।

राष्ट्रीय क्रांतिकारियों के प्रयास

कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण के प्रारंभिक प्रयास रूस में हुए थे। ये प्रयास उन राष्ट्रीय क्रांतिकारियों द्वारा किये गये थे, जो विदेशी मुल्कों में प्रवासी के बतौर निवास करते थे। जर्मनी (बर्लिन) अमेरिका (कैलीफोर्निया) और जापान, प्रथम विश्व युद्ध के पहले से ही भारतीय क्रांतिकारियों के केन्द्र बने हुए थे। इन क्रांतिकारियों ने जर्मनी की मदद से भारत में सशस्त्र संघर्ष खड़ा करने का प्रयास किया था। अमरीका से गदर पार्टी (लाल हरदयाल के नेतृत्व में), वीरेन्द्र नाथ चट्टोपाध्याय के नेतृत्वाधीन 'बर्लिन कमेटी', काबुल से स्वतंत्र भारत की पहली तदर्थ सरकार, राजा महेन्द्र प्रताप के नेतृत्व में और जापान से रासबिहारी बोस के नेतृत्व में सक्रिय समूह ने एक दूसरे के साथ घनिष्ट संपर्क में रहते हुए, इस दिशा में प्रयासरत थे। युद्ध में जर्मनी की पराजय और गदर पार्टी के विद्रोह की असफलता के बाद ये क्रांतिकारी सहायता के लिए रूस क ओर मुड़ गये। ये प्रवासी क्रांतिकारी पहले से ही मार्क्सवाद, समाजवाद और साम्यवाद (कम्युनिज्म) की ओर आकर्षित थे। अक्टूबर क्रांति ने कम्युनिज्म के और भी करीब ला दिया था। तथ्य यह है कि वीरेन्द्र नाथ चट्टोपाध्याय ने अक्टूबर क्रांति से पहले ही फरवरी क्रांति के बाद लेनिन के स्टाकहोम में मिलने का प्रयास किया था। कुछ मुहाजिर भी, जो खिलाफत आंदोलन के एक हिस्से के रूप में, तुर्की की ओर जाने की राह में रूस में जा पहुंचे थे कम्युनिज्म की ओर आकर्षित हुए थे।

कोमिंटर्न की प्रथम कांग्रेस

2 से 6 मार्च 1919 तक मास्को में आयोजित कोमिंटर्न की पहली कांग्रेस ने पूर्वी देशों में चलने वाली राष्ट्रीय संघर्षों के प्रति अपनी अवस्थिति स्पष्ट कर ली थी।

कोमिंटर्न ने पूर्वी देशों में कम्युनिस्ट पार्टियों के निर्माण के लिए कार्य करने और साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने के लिए चल रहे राष्ट्रीय संघर्षों को मदद पहुंचाने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

'पूर्वी देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों के क्रांतिकारी कार्यभार के दो दिशाओं में प्रक्षिप्त होना होगा। पहला, पूर्वी देशों में, क्रमशः कम्युनिस्ट पार्टियों की स्थापना करने का पार्टी का क्रांतिकारी और मूलभूत कार्यक्रम से निकलता है। दूसरा वर्तमान राजनीतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों से निकलता है कि पश्चिमी यूरोपीय साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने वाले स्थानीय राष्ट्रीय संघर्षों को मदद पहुंचाना अनिवार्य है। यह मदद केवल तभी तक दी जायेगी, जब तक कि ये आंदोलन साम्राज्यवाद के उखाड़ फेंकने के क्रांतिकारी उद्देश्य के खिलाफ नहीं हो जाते।'

कोमिंटर्न की दूसरी कांग्रेस

कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस, जिसने कार्यक्रम रणकौशलात्मक और संगठनात्मक सिद्धांतों का आधार निर्मित किया, 19 जुलाई से 7 अगस्त 1920 तक आयोजित

पेत्रोगाद मास्को में हुई थी। इस कांग्रेस में शामिल होने वाले प्रतिनिधियों में से 169 को वोट देने का अधिकार प्राप्त था और 49 प्रतिनिधि ऐसे थे जिन्हें अपने विचार रखने का अधिकार तो था परंतु वोट देने का अधिकार नहीं था। ये 67 मजदूर संगठन और 37 देशों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। एम.एन.राय ने इस कांग्रेस में मेक्सिकन कम्युनिस्ट पार्टी के प्रतिनिधि के रूप में शिरकत की थी। एम.पी.बी.टी. आचार्य मो.शफाक सिद्दीकी और अवनी मुकर्जी ने भारत का प्रतिनिधित्व किया था, जिन्हें वोट देने का अधिकार प्राप्त नहीं था।

यह कांग्रेस उस समय आयोजित हुई थी। जब यूरोप में युद्धोपरांत की क्रांतिकारी लहर जारी थी। कांग्रेस में, उपनिवेशों और अर्द्धउपनिवेशों के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों के संबंध में विस्तृत विचार–विमर्श किये गये। कांग्रेस ने इन राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों के प्रति कोमिंटर्न की रणनीतिक और रणकौशलात्मक नीतियों को सूत्रबद्ध किया। राष्ट्रीय और औपनिवेशिक नीतियों को सूत्रबद्ध किया। राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्न पर; लेनिन की थीसिस को कांग्रेस के निर्णयी द्वारा अंगीकार किया गया। इस दृष्टि से कोमिंटर्न की दूसरी कांग्रेस काफी महत्वपूर्ण थी, जहां तक कि औपनिवेशिक और अर्द्धऔपनिवेशिक देशों में चलने वाले कम्युनिस्ट आंदोलनों की बात है।

लेनिन ने कांग्रेस में प्रतिनिधियों के सामने बहस–मुबाहिसा के लिए, अपना प्रसिद्ध आलेखा 'राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्न पर थीसिस' प्रस्तुत किया। लेनिन ने पहली कांग्रेस में स्वीकार की गई अवस्थिति को अमल में लाने के लिए यह थीसिस तैयार की थी।

लेनिन एम.एन.राय को जो, मार्क्सवादी दृष्टि से पूर्वी प्रश्न के अध्ययन का प्रयास कर रहे थे, कालोनियन कमीशन में शामिल कर लिया। लेनिन ने एम.एन.राय को, भारत पूंजीवादी देशों द्वारा उत्पीड़ित भारत तथा अन्य बड़े एशियाई देशों (चीन) में मौजूद परिस्थितियों की दृष्टि से; अपनी थीसिस की पूरक थीसिस तैयार करने के लिए प्रोत्साहित किया। कांग्रेस ने कुछ मामूली संपादकीय सुधारों के साथ लेनिन की थीसिस अंगीकार कर ली। लेनिन और कालोनियल कमीशन ने एम.एन.राय की पूरक थीसिस ने अनेक मूलभूत परिवर्तन कर दिये थे। इस मूलभूत से परिवर्तित पूरक थीसिस को भी कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया।

राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्न पर लेनिन की थीसिस की प्रमुख विशेषतायें

''2. बुर्जुआजी के जुए को उतार फेंकने के लिए सर्वहारा के वर्ग संघर्ष की सचेत अभिव्यक्ति के रूप में, बुर्जुआ जनवाद का मुकाबला करने और इसके झूठ तथा मक्कारी का पर्दाफाश करने के अपने प्रमुख कार्यभार के अनुरुप, कम्युनिस्ट पार्टी को राष्ट्रीय प्रश्न पर अमूर्त और औपचारिक सिद्धांतों को नहीं पेश करना चाहिए अपितु सबसे पहले मौजूदा ऐतिहासिक और सबसे बढ़कर आर्थिक वातावरण का सटीक विश्लेषण करना चाहिए।''

''दूसरे, इसे तथाकथित राष्ट्रीय हितों की, जो वस्तुतः शासक वर्गों के हित हैं, सामान्य अवधारणा से मजदूरों और शोषितों के हितों को विशिष्ट रूप में अलग लेना चाहिए।''

''तीसरे जनवाद की उस झुठाई को उद्घाटित करने के लिए, जो सर्वाधिक धनी और सर्वाधिक विकसित अग्रणी पूंजीवादी देशों की एक छोटी सी अल्पसंख्या द्वारा, वैश्विक जनों क विशाल बहुसंख्या को अपनी औपनिवेशिक और वित्तीय अधीनता में गुलाम बना लेने की सच्चाई पर जो वित्तीय पूंजी तथा साम्राज्यवाद के युग की एक लाक्षणिकता है, पर्दा डालने का काम करती हैं, पार्टी को शोषित, उत्पीड़ित और असमान (न्यून) अधिकार प्राप्त पराधीन राष्ट्र की, पूर्ण अधिकार प्राप्त दमनकारी, शोषक राष्ट्रों से, सटीक रूप से भिन्न पहचान स्थापित कर लेनी चाहिए।''

4. ''... राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्न पर कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की समग्र नीति को प्रारंभिक रूप से, जमींदारी और पूंजीपतियों की उखाड़ फेंकने के उद्देश्य से एक साझा क्रांतिकारी संघर्ष खड़ा करने के लिए, सभी राष्ट्रों और देशों के सर्वहाराओं और मजदूर वर्गों को एक साथ लामबंद करने पर आधारित होनी चाहिए।''

6. ''इसलिए, वर्तमान समय में, हमें खुद को, मात्र विभिन्न देशों के कामगारों को पास लाने और उन्हें एकबद्ध करने की आवश्यकता की पहचान तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए। वरन हमारी नीति को निश्चयात्मक रूप से, समस्त राष्ट्रीय और औपनिवेशिक मुक्ति आंदोलनों को, सोवियत रुस के साथ एक निकट सहयोग–संश्रय में ले आने होनी चाहिए; इस संश्रय के रूपों का निर्धारण, प्रत्येक देश के सर्वहाराओं के बीच चलाये जाने वाले कम्युनिस्ट आंदोलन द्वारा या अविकसित देशों में तथा पिछड़ी हुई राष्ट्रीयताओं के बीच चल रहे क्रांतिकारी मुक्ति आंदोलन द्वारा हासिल कर लिए गये विकास स्तर द्वारा ही सुनिश्चित होगा।''

9. ...कम्युनिस्ट पार्टियों को, पराधीन देशों में और उन लोगों में जिन्हें अधिकार प्राप्त नहीं है (उदाहरणार्थ आयरलैंड में और अमरीकी नीग्रों में) और उपनिवेशों में चल रहे क्रांतिकारी आंदोलनों की सीधे मदद करनी चाहिए।

खास रूप से इस अंतिम महत्वपूर्ण शर्त के बिना पराधीन देशों और उपनविशों के उत्पीड़न क विरुद्ध चलाये जाने वाला संघर्ष और अलग राज्य के रूप में खुद का विच्छेद कर लेने के उनके अधिकार की स्वीकृति, एक छद्म बहाना मात्र रह जायेगा जैसा कि द्वितीय इंटरनेशनल की पार्टियों में देखा जाता है।''

अधिक पिछड़े राज्यों और राष्ट्रों को प्राथमिकता में सामंती या पितृसत्तात्मक या पितृसत्तात्मक किसानी चरित्र वाले देशों के संबंध में इन बातों का विशेष रूप से ध्यान रखा जाना चाहिए : ''(a) सभी पार्टियों को अपनी कार्रवाइयों द्वारा इन देशों में चलने वाले क्रांतिकारी आंदोलनों की अनिवार्य रूप से मदद करनी चाहिए। इस मदद द्वारा लिये जाते स्वरूप पर अगर हो तो संबंधित देश की कम्युनिस्ट पार्टी के साथ विचार–विमर्श कर के तय किया जाना चाहिए। प्राथमिक तौर पर सक्रिय मदद की जिम्मेदारी उस देश के मजदूरों पर आमद होती है, जिस पर कि पिछड़ा राष्ट्र वित्तीय रूप से या एक उपनिवेश के रूप में, निर्भर है।''

''(d) विशेष रूप से महत्वपूर्ण है पिछड़े देशों में भूस्वामियों तथा सामंतवाद के सभी रूपों और अवशेषों के विरुद्ध चलाये जा रहे किसान आंदोलन की मदद करना। सबसे बढ़कर आवश्यक है, किसान आंदोलन को जितना संभव हो सके क्रांतिकारी चरित्र प्रदान करने का प्रयास करना, जहां कहीं भी संभव हो किसानों एवं अन्य सभी शोषितों को सोवियतों में संगठित करना और इस प्रकार पश्चिमी यूरोपीय कम्युनिस्ट सर्वहारा और पूर्व के, उपनिवेशों और अन्य पिछड़े देशों के क्रांतिकारी आंदोलनों के बीच यथासंभव निकट संबंध कायम करना।''

''(e) पिछड़े देशों के क्रांतिकारी मुक्ति आंदोलनों को जो सही अर्थों में कम्युनिस्ट नहीं है, कम्युनिस्ट रंग के आवरण से ढकने के प्रयासों के खिलाफ दृढ़ संघर्ष चलाया जाना अत्यंत आवश्यक है। कम्युनिस्ट इंटरनेशनल का कर्तव्य है उपनिवेशों और पिछड़े देशों के क्रांतिकारी संघर्षों को, केवल सभी पिछड़े देशों में भविष्य की सर्वहारा पार्टियों के उन संघटक तत्वों को एक सूत्र में पिरोने के उद्देश्य से, मदद प्रदान करना जो केवल नाममात्र के लिए बल्कि वास्तविक कम्युनिस्ट होंगे और उनमें उनके विशेष कार्यभार अर्थात् उनके अपने देशों में मौजूद बुर्जुआ जनवादी प्रवृत्ति के खिलाफ संघर्ष करने का कार्यभार की चेतना पैदा करने के लिए, उन्हें शिक्षित करना। कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के उपनिवेशों और पिछड़े देशों के

क्रांतिकारी आंदोलनों के साथ तदर्थ देशों के क्रांतिकारी आंदोलनों के साथ तदर्थ सहयोग, यहां तक कि इनके साथ एक संश्रय भी स्थापित कर लेना चाहिए, लेकिन इनके साथ अपना संलयन बिल्कुल नहीं करना चाहिए; इसे हर हालत में सर्वहारा आंदोलन की स्वतंत्रता को बनाये रखना चाहिए, चाहे अभी यह मात्र भ्रूणावस्था में ही क्यों न हो।''

''(f) सभी जगह की, खास करके पिछड़े देश की मेहनतकश जनता के उस धोखे को उद्घाटित करना और उसका विश्लेषण करना परमआवश्यक है, जो साम्राज्यवादी शाक्तियों द्वारा शोषित देश के विशेषाधिकार प्राप्त उच्च वर्गों की सहायता से, खड़ा किया जाता है, जो एक आडम्बरी स्वतंत्र राज्य बनाने की बात करता है जबकि राज्य बनाने की बात करता है जबकि हकीकत में यह राज्य आर्थिक, वित्तीय और सामरिक सभी मामलों में पूरी तरह साम्राज्यवादी शक्तियों पर निर्भर होगा।''

लेनिन ने एम.एन.राय द्वारा, भारतीय अनुभव पर आधारित, सुधारवादी राष्ट्रीय बुर्जुआ नीति के मुद्दे पर छेड़ी गई बहस की प्रशंसा की थी। इस मुद्दे पर सावधान रहने के लिए, लेनिन ने **'बुर्जुआ जनवादी आंदोलन'** वाक्य खंड को **'राष्ट्रीय क्रांतिकारी आंदोलन वाक्य** खंड से प्रति स्थापित कर दिया था।

पिछड़े देशों के सर्वहारा के लिए लेनिन द्वारा प्रस्तुत रणकौशल का सार यह था कि एक तरफ तो हमें उस बुर्जुआ के साथ एकजुट होना है जो मुक्ति संघर्षों का नेतृत्व कर रहा है। वाक्य खंड 'बुर्जुआ जनवादी मुक्ति आंदोलन' उपनिवेशों में जारी मुक्ति संघर्ष को अपनी पूर्णता में व्यक्त करता है। लेनिन ने महसूस किया कि हमें इस आंदोलन के क्रांतिकारी हिस्से के साथ एकजुट होना चाहिए; इस आंदोलन में एक सुधारवादी हिस्सा भी मौजूद है जो साम्राज्यवाद के साथ समझौतावादी है; हमें इस हिस्से के विरुद्ध लड़ना भी है। यही कारण है कि लेनिन ने ''बुर्जुआ जनवादी आंदोलन'' के स्थान पर ''क्रांतिकारी मुक्ति आंदोलन'' वाक्य खंड का इस्तेमाल किया। क्रांतिकारी चरण और क्रांतिकारी चरित्र के मामले में दोनों वाक्य खंड समान नहीं हो सकते। इसलिए यह परिवर्तन केवल व्याख्यात्मक प्रकृति का है न कि मूलभूत प्रकृति का।

एम.एन.राय लेनिन से मूलतः निम्न मामलों में भिन्न मत रखते थे : –

1. लेनिन की थीसिस के भाग (a) को निरस्त करने के लिए बहस की। राय का तर्क यह था कि औपनिवेशिक देशों का बुर्जुआ साम्राज्यवाद के साथ समझौतावादी प्रवृत्ति रखता है, और इसलिए कोमिंटर्न को इसके नेतृत्व में चलने वाले राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष को समर्थन नहीं देना चाहिए। एम.एन.राय के अनुसार औपनिवेशिक देशों में बुर्जुआ जनवादी मुक्ति संघर्षों को मजदूर वर्ग का समर्थन, उत्पीड़ित जनता में राष्ट्रीय भावना पैदा करेगा और उत्पीड़ित जनों की वर्ग चेतना को कुंद कर देगा। यह तर्क पूरी तरह से लेनिन के मूल्यांकन, रणकौशल और सूत्रीकरण के खिलाफ जाता था।

''किसी भी उत्पीड़ित राष्ट्र का बुर्जुआ राष्ट्रवाद में एक सामान्य जनवादी अंतर्वस्तु होती है जो उत्पीड़न के विरुद्ध होती है, और यह अंतर्वस्तु ही है जिसे हम बिना किसी शर्त के अपना समर्थन प्रदान करते हैं।''

यहीं नहीं, बल्कि औपनिवेशिक देशों में, जनता की राष्ट्रीय चेतना का लाभ उठा करके ही साम्यवाद (कम्युनिज्म) का विकास करना होगा।

''आपको, खुद को उस बुर्जुआ राष्ट्रवाद पर ही आधारित करना होगा, जो जागरूक हो रहा है, और जिसे (पूर्व के) इन जनों में जगाया ही जाना चाहिए और जिसका एक ऐतिहासिक औचित्य है।''

2. एम.एन.राय तो दलील दी कि कोमिंटर्न को बुर्जुआ राष्ट्रीय आंदोलन की नहीं बल्कि उन मजदूरों और किसानों के आंदोलनों की मदद करनी चाहिए जो बुर्जुआ राष्ट्रीय आंदोलन से अलग अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं। राय ने मजदूर वर्ग के आंदोलनों को और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन को एक दूसरे से स्वतंत्र रूप में वर्णित किया था। अपनी दलील के समर्थन में उन्होंने कहा कि भारत में मजदूर वर्गीय आंदोलन राष्ट्रीय बुर्जुआ आंदोलन से स्वतंत्र रूप से विकसित हो रहा है। जबकि वास्तविकता यह थी कि मजदूर वर्ग के आंदोलन उस समय स्वतंत्र नहीं थे बल्कि बुर्जुआ राष्ट्रीय आंदोलन साथ घनिष्ठ रूप से संबंधित थे और बुर्जुआ नेतृत्व के अधीन ही कार्य कर रहे थे। कम्युनिस्ट पार्टी का, जो अभी भी गठित नहीं हो सकी थी, प्राथमिक कार्य ही यह था कि वह बुर्जुआ नेतृत्व के अधीन सक्रिय मजदूरों एवं अन्य मेहनतकश जनों को अपने पक्ष में ले आये। राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों और मजदूरों के वर्गीय आंदोलनों का, एक दूसरे से पृथक और संघर्षरत रूप में वर्णन करना इस तथ्य पर ध्यान देने से वर्णन करना इस तथ्य पर ध्यान देने से इंकार करना था कि उस समय भारतीय क्रांति, जनवादी क्रांतिकारी चरण में थी।

3. राय के अनुसार भारत अब एक सामंतवादी देश नहीं था वरन वहां पूंजीवाद का उल्लेखनीय विकास हो चुका था। उन्होंने इस तर्क से खुद को सही ठहराया कि युद्ध बाद की अवधि में निवेश में 20 गुणा वृद्धि हो गई है। औद्योगिक सर्वहारा का जनसंख्या में अनुपात बढ़कर 15 प्रतिशत हो गया है और 80 प्रतिशत जनसंख्या खेतिहर मजदूर है। लेनिन ने इन तर्कों पर, जो वास्तविक तथ्यों पर आधारित नहीं थे, कोई ध्यान नहीं दिया। लेनिन ने शुरू से अपनी थीसिस, भाषण और लेखनों में औपनिवेशिक देशों में मौजूद उत्पादक संबंधों का, मुख्यतः पूंजीवाद–पूर्व के उत्पादन संबंध के रूप में ही वर्णन करते रहे थे।

राय का मनोगत आकलन स्वाभाविक रूप से उन्हें उपनिवेशों के मजदूर वर्ग और इसके आंदोलन की ताकत को बढ़ा चढ़ाकर देखने की तरफ ले गया था। उनके द्वारा समर्थित पिछड़े देशों में कम्युनिस्ट पार्टियों का, खास करके भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का कार्यक्रम कमोबेश समाजवादी क्रांति कार्यक्रम था। यही कारण है कि कम्युनिस्ट पार्टी के ऐसे संगठन का निर्माण जो किसानों में जड़ तक धसी हो और जो किसान आंदोलनों के व्यवहारिक विद्यालय में प्रशिक्षित होकर इसके नेतृत्व के रूप में विकसित हो चुकी हो, तथा कृषि क्रांति का कार्यक्रम इनके लिए थोथे जुमले मात्र थे।

4. राय के अनुसार कम्युनिज्म की जीत पिछड़े देशों के आंदोलनों की जीत पर निर्भर थी। लेनिन ने इस संकीर्णतावादी वाम–प्रवृत्ति की तीखी आलोचना की। उस समय एशियाई देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों में यह प्रवृत्ति काफी मजबूत थी। साम्राज्यवादी युग में पूंजीवाद का स्थायित्व के लिए, औपनिवेशिक देशों का शोषण निश्चित ही एक निर्णायक भूमिका अदा करता है। परंतु यह तर्क विकसित देशों में पूंजीवाद के स्थायित्व और ताकत को काफी बढ़ा–चढ़ा कर आकलित करता है। हमें इस दलील को, औपनिवेशिक देशों के कम्युनिस्ट आंदोलनों की राष्ट्रवादी प्रवृत्ति की ही देखना चाहिए।

5. राय ने सवाल खड़ा किया : क्या औपनिवेशिक देशों के लिए अपने सशक्तीकरण के लिए पूंजीपथ का अनुसरण करना जरूरी है ऊपर उल्लिखित संकीर्णतावादी कमजोरियों के चलते ही, राय पूंजीवादी रास्ते का कोई ऐसा वैकल्पिक रास्ता सूत्रबद्ध नहीं कर सके जिसका परिपालन औपनिवेशिक देश कर पाते। इस सवाल से लेनिन इस नतीजे पर पहुंचे थे कि पिछड़े देशों की राष्ट्रीय जनवादी क्रांति को अपने देश की विशेष परिस्थितियों के अनुरूप अपने वहां सोवियतों की स्थापना करनी होगी। लेनिन ने व्याख्यायित किया कि कैसे

राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन बिना पूंजीवादी चरण से गुजरे, समाजवाद तक पहुंच सकते हैं। (9वीं पूरक थीसिस में लेनिन द्वारा किया संशोधन देखें।)

संशोधनों के उपरांत पारित राय की पूरक थीसिस को प्रमुख विशेषतायें

''7. पराधीन देशों में दो भिन्न प्रकार के आंदोलनों को देखा जाता है जो हर दिन एक दूसरे से अधिकाधिक अलग होते जाते हैं। एक है बुर्जुआ जनवादी राष्ट्रीय आंदोलन, जिसका कार्यक्रम बुर्जुआ व्यवस्था के अंतर्गत राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करना है, तथा दूसरा है गरीबों और अबोध किसानों और मजदूरों द्वारा, हर तरह के शोषण से मुक्ति पाने के लिए, की जाने वाली जानकार्रवाई। पहला कार्यक्रम दूसरे को अपने नियंत्रण में रखना चाहता है और अक्सर कुछ हद तक इसमें कामयाब भी हो जाता है, परंतु कम्युनिस्ट इंटरनेशनल और इससे प्रभावित पार्टियों को ऐसे नियंत्रण के विरुद्ध आवश्यक रूप से संघर्ष करना चाहिए और उपनिवेशों की मेहनतकश जनता में वर्ग चेतना विकसित करने में, जो उपनिवेशों में क्रांति की तरफ बढ़ने वाला पहला कदम है, बुर्जुआ राष्ट्रीय क्रांतिकारी तत्वों का सहयोग लाभदायक होगा।

लेकिन सबसे पहले और सबसे जरूरी कार्य है कम्युनिस्ट पार्टी का निर्माण जो किसानों और मजदूरों को संगठित करेगी और क्रांति करने के लिए तथा सोवियत गणराज्य की स्थापना के लिए नेतृत्व करेगी। इस तरह पिछड़े देशों के जनगण कम्युनिज्म तक, पूंजीवादी विकास से होकर नहीं बल्कि विकसित पूंजीवाद देशों के सचेत सर्वहारा के नेतृत्व में पहुंचेंगे।''

9. निश्चय ही, पूर्वी देशों में से अनेकों में कृषि क्रांति की शुद्ध कम्युनिस्ट सिद्धांतों के अनुसार कृषि समस्याओं को समाधान करने का प्रयास चरम भूल होगी। अपने प्रारंभिक चरणों में, औपनिवेशिक देशों में क्रांति एक ऐसे कार्यक्रम के साथ आगे बढ़ेगी जिसमें अनेक निम्न बुर्जुआ सुधार के अनुच्छेद शामिल होंगे जैसेकि भूमि का बंटवारा आदि। लेकिन इससे यह अर्थ नहीं निकलता है कि क्रांति के नेतृत्व को बुर्जुआ जनवादियों के सामने आत्मसमर्पण करना होगा। इसके विपरीत, सर्वहारा पार्टियों के के लिए पूरी ताकत के साथ व्यवस्थित रूप से सोवियत विचारों का प्रचार करना तथा, जितनी जल्दी हो सके किसानों और मजदूरों की सोवियतों का गठन करना आवश्यक होगा। ये सोवियतें, समूचे विश्व से पूंजीवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंकने के लिए अग्रणी पूंजीवादी देशों के सोवियत गणराज्यों के साथ सहयोग में कार्य करेगी।''

एम.एन.राय ने अपने गलत विचारों से छुटकारा पाने की बजाय, आगे के अपने समूचे कार्यकाल में अपनी 'वाम' और संकीर्ण दृष्टि को बनाये रखा। राय ने अपनी 'मेमोरीज' में लिखा था कि लेनिन ने उनकी दलीलों को सुनने के बाद उनकी थीसिस पर पुनर्विचार किया और कुछ छोटे–छोटे संशोधन के साथ एक पूरक थीसिस स्वीकार की गई थी, जो पूर्णतः गलत है।

द्वितीय कांग्रेस में औपनिवेशिक देशों के प्रतिनिधियों के बीच, एम.एन.राय ने सक्रिय भूमिका निभाई थी। ई.सी.सी.आई. ने उनको एक सदस्य के बतौर ''केन्द्रीय एशियाई ब्यूरो'' में शामिल किया था। द्वितीय कांग्रेस के बाद, पूर्व के जनगणों की कांग्रेस बाकू में 1–20 सितंबर 1920 में आयोजित की गई थी। इस कांग्रेस में अवनि मुकर्जी, एम.पी.बी.टी. आचार्य और अब्दुल रब ने भारत के प्रतिनिधियों के रूपमें शिरकत की थी। एम.एन.राय, जिन्होंने राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के साथ कार्य करने से इंकार कर दिया था, इस कांग्रेस में शामिल

नहीं हुए थे। उन्होंने इस कांग्रेस का वर्णन 'जिनोनिव सर्कसस' के रूप में किया था और इसे समय तथा ऊर्जा का अपव्यय करार दिया था।

ताशकंद में सी.पी.आई. का गठन

कांग्रेस के बाद कोमिंटर्न ने राय एवं कुछ अन्य लोगों की मदद से भारत में कम्युनिस्ट पार्टी के गठन का प्रयास किया था। राय पर रूस में रहने वाले मुहाजिरों और दूसरे क्रांतिकारियों को संगठित करने का कार्य के लिए भरोसा किया गया था। आचार्य और अब्दुल रब राय के पहले से ही कार्यरत थे।

भारतीय क्रांतिकारी विदेशों में एक अलग–थलग जिंदगी बिता रहे थे। उनका अपने देश के लोगों से जीवंत संपर्क नहीं रह गया था। उनमें व्यक्तिवाद, गुटवाद, ईर्ष्या और मतभेदों के मजबूत भाव विकसित हो गये थे। बर्लिन कमेटी में और अन्य क्रांतिकारियों के बीच एम.एन.राय के प्रति उनके अहंभाव और अनुशासनहीनता की वजह से काफी विरोध मौजूद था। इसके अलावा इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस के बाद से वे एम.एन.राय के महत्वपूर्ण स्थान को हजम नहीं कर सके थे। इसके साथ राय के अहंवादी, व्यक्तिवादी और खुद को आगे बढ़ाने की कार्यशैली ने उनके बीच बड़ी खाई निर्मित कर दी थी। ये मतभेद और गुटीय विवाद अंत तक चलते रहे थे। इन मतभेदों और गुटबाजी ने उस समय के भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन पर काफी बुरा प्रभाव डाला था।

एम.एन.राय ने तुर्किस्तान में फौजी स्कूल की स्थापना में काफी अधिक रुचि दिखाई थी। वे रुस में, टर्की को जाने वाले हजारों मुहाजिरों की मदद से एक मुक्ति सेना गठित करना और भारत की उत्तर पश्चिमी सीमा पर सशस्त्र चौकियां खड़ी करना चाहते थे।

एम.एन.राय के विरोधी आचार्य और अब्दुल रब पहले से ही तुर्किस्तान स्थित अपने संपर्कों की मदद से कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना के लिए कार्यरत थे। राय ने अपनी मेमोरीज में लिखा था कि अपने मातृदेश की आंदोलनरत जनता के साथ निकट संपर्क रखे बिना किसी पराये देश में खड़ी की गई कम्युनिस्ट पार्टी नाम मात्र के लिए ही होगी। लेकिन यह देखकर कि आचार्य और उनके अन्य विरोधी पार्टी के निर्माण पर आमादा हैं और चूंकि वे इस कार्य का अवसर उन्हें नहीं देना चाहते थे, राय ने उनके साथ मिल जाना स्वीकार कर लिया। मेक्सिकन पार्टी छोड़ने के बाद से कोमिंटर्न में प्रतिनिधित्व हासिल करने के लिए राय ने ''सीपीआई'' के निर्माण की आवश्यकता महसूस की होगी।

17 अक्टूबर 1920 को प्रवासी क्रांतिकारियों ने ताशकंद में सात सदस्यों वाली ''सीपीआई'' का गठन कर लिया। ये थे : 1. एम.एन.राय, 2.इवोलिन ट्रेंट राय, 3. अबनीनाथ मुकर्जी रोजा, 4. रोजा फिटिंगोव, 5. मुहम्मद शफीक सिद्दीकी, 6. एम.पी.बी.टी. आचार्य और 7. मुहम्मद अली। मोहम्मद एस.शफीक महासचिव चुने गये थे। पार्टी बिना किसी दस्तावेज के, यहां तक कि बिना संविधान के गठित कर ली गई थी। कुछ समय के पश्चात अबनी मुकर्जी ने एक मसौदा कार्यक्रम तैयार किया था। परंतु इसे स्वीकार नहीं किया गया। जैसा कि सम्मेलन द्वारा तय किया गया था, पार्टी में शामिल होने वाले के लिए तदर्थ सदस्यता की अवधि तीन माह थी। कुछ नौजवान मुहाजिरों ने पार्टी की सदस्यता ग्रहण की थी (मंसूर अलीशां, शौकत उस्मानी आदि)।

पार्टी के गठन के बाद से एम.एन.राय अपनी गतिविधियां सीपीआई के नाम पर करने लगे थे। पार्टी के गठन के बाद भी क्रांतिकारियों के बीच आपसी मतदभेद सुलझ नहीं सके। ये मतभेद और भी गहरे हो गये थे। ठीक पार्टी गठन के साथ ही पार्टी दो गुटों में विभाजित हो गई थी। एक तरफ एम.एन.राय और अवनी मुकर्जी थे तो दूसरी तरफ आचार्य और अन्य।

तुर्किस्तान की पार्टी ने इनके बीच के मतभेदों को सुलझाने का प्रयत्न किया किंतु व्यर्थ रहा। कोमिंटर्न ने इस ''सी.पी.आई.'' को अपने साथ जुड़ी हुई पार्टी के मान्यता नहीं दी थी। परंतु इसे पार्टी की स्थापना के लिए तैयारी का काम मानकर इसे अपनी मदद प्रदान करती थी।

दरअसल कोमिंटर्न ने इस तथ्य को मद्देनजर रखा था कि प्रवासी भारतीय क्रांतिकारियों की बहुसंख्या इस पार्टी से बाहर थी। कोमिंटर्न ने इन सबको इकट्ठा करने का प्रयास किया। 1920 में वीरेन्द्र नाथ चट्टोध्याय लेनिन से मिले थे और उनसे भारतीय क्रांतिकारियों को मदद करने की प्रार्थना की थी, जिसे लेनिन ने स्वीकार कर लिया था। 1921 तक कोमिंटर्न ने भारतीय क्रांतिकारियों को इकट्ठा करने का अपना प्रयास जारी रखा। 1921 की शुरुआत में, चट्टोपाध्याय के नेतृत्व में भारतीय क्रांतिकारियों की एक टीम मास्को पहुंची। कोमिंटर्न द्वारा दो कमीशनों क नियुक्ति करके क्रांतिकारियों को एकजुट करने का प्रयास किया, परंतु यह प्रयास असफल रहा।

भारतीय राजनीतिक और फौजी स्कूल

ताशकंद में पार्टी की स्थापना के साथ ही एक राजनीतिक और फौजी स्कूल की भी स्थापना की गई थी। यह एम.एन.राय के दिमाग की उपज था। स्कूल का उद्देश्य रूस में पहुंचने वाले युवा मुहाजिरों की एक छोटी टीम को प्रशिक्षण प्रदान करना और मुक्ति सेना के लिए एक केन्द्रक का निर्माण करना था। राय की योजना इस सेना के साथ, अफगानिस्तान होते हुए भारत में पहुंचने और फिर उत्तर पश्चिमी सीमा क्षेत्र में रहने वाले ब्रिटिश विरोधी आदिवासी कबीलों की मदद से मुक्ति क्षेत्रों की स्थापना करने की थी। लेनिन ने और लाल सेना के नेताओं ने इस योजना की सफलता पर अपना संदेह प्रकट किया था। लेनिन ने कहा था कि राय का यह आकलन कि अफगानिस्तान के अमीर उनका सहयोग करेंगे, वास्तविकता पर आधारित नहीं है। उन्होंने आगे कहा कि अफगान के अमीर–उमरां, सामंती शक्तियां होने के नाते, ब्रिटिश शासकों के विरुद्ध ऐसी किसी टक्कर में उलझना नहीं चाहेंगे। इसके बावजूद राय की जिद पर रूस ने ताशकंद के इस स्कूल के लिए दो ट्रेनों से शस्त्रों के जखीरें और सैन्य प्रशिक्षकों के एक दल रवाना कर दिया था। लेकिन रूस ने इस योजना को मान्यता नहीं दी। यह मात्र भारतीय क्रांतिकारियों की योजना रह गई थी।

अक्टूबर 1920 से मई 1921 तक यह स्कूल काम करता रहा था। राय की उम्मीद के विपरीत हजारों मुहाजिर रूस नहीं पहुंचे। 200 मुहाजिरों में से, जो रुस तक पहुंचे थे केवल 26 ने इस स्कूल में दाखिला लिया था। जैसा कि लेनिन ने चेताया था, अफगानिस्तान के अमीर इस योजना के लिए सहमत नहीं हुए। सारी योजना, अपनी गलत मान्यताओं की वजह से धरी की धरी रह गई। स्कूल बद हो गया (इन वास्तविकताओं के विपरीत, राय ने अपनी ''मेमोरीज'' में लिखा कि यह स्कूल अमरीका और ब्रिटेन के बीच व्यापार समझौते की वजह से बंद हुआ था)। जिन खेमों ने इस स्कूल में दाखिला लिया था, उन्हें मास्को में स्थित ''पूर्व के मेहनतकशों की कम्युनिस्ट युनिवर्सिटी में स्थानांतरित कर दिया गया था। उनमें से 22 मुहाजिरों की मास्को भेज दिया गया था और शेष को वापस हिंदुस्तान रवाना कर दिया गया था। इस युनिवर्सिटी में प्रशिक्षित मुहाजिरों की मदद भारत में पार्टी निर्माण के लिए चाहते थे।''

कोमिंटर्न की तृतीय कांग्रेस

कोमिंटर्न की तीसरी कांग्रेस 22 जून से 12 जुलाई 1921 तक मास्को में आयोजित हुई, निम्न परिस्थितियों में :

- यूरोप की क्रांतियां एक के बाद एक असफल हो गई थी।

- युद्धोपरांत का क्रांतिकारी उफान थम चुका था।
- पूंजीवाद ने अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली थी और इसने बड़े पैमाने पर अपना प्रतिक्रियावादी आक्रमण शुरू कर दिया था।

कांग्रेस में वाम–कठमुल्लावाद उभर कर सामने आ गया था। विभिन्न देशों के प्रतिनिधियों ने, बदली हुई परिस्थितियों को ध्यान में रखे बिना, आक्रमण जारी रखने की वकालत की। लेनिन के नेतृत्व में कांग्रेस ने पुनः व्यापक जनता को कम्युनिस्ट पार्टी के साथ एकबद्ध करने की जरूरत को सामने रखा। इसने **जनता के बीच जाओ** के नारे को आगे कर दिया। पीछे हटने की यह कवायद मजदूर वर्ग के आंदोलन की असफलता की वजह से जरूरी हो गई थी।

एम.एन.राय के साथ, तीन अन्य भारतीय प्रतिनिधियों ने कांग्रेस में शिरकत की थी। चूंकि द्वितीय कांग्रेस ने मात्र एक वर्ष पहले; पूर्वी प्रश्न पर, विस्तृत बहस मुबाहिसे के बाद राष्ट्रीय और औपनिवेशिक थीसिस की अंगीकार किया था, तृतीय कांग्रेस ने इस प्रश्न को अपने एजेंडा में शामिल नहीं किया था।

कांग्रेस के पश्चात, ई.सी.सी.आई ने दिसंबर 1921 में मजदूरों का संयुक्त पर एक थीसिस को अंगीकार किया। लेनिन ने मजदूरों का संयुक्त मोर्चा के संबंध में कहा था कि संयुक्त मोर्चे की रणनीति का अर्थ और उद्देश्य, मेहनतकश लोगों की विशाल बहुसंख्या को संगठित करना उन्हें, पूंजीवाद के विरुद्ध संघर्ष में लामबंद करना है। इसके लिए हम द्वितीय इंटरनेशनल और ढाई इंटरनेशनल के नेताओं का बार–बार आह्वान करने में नहीं हिचकेंगे।

तीसरी कांग्रेस के पश्चात अखिल भारतीय क्रांतिकारी सम्मेलन आयोजित करने का कोमिंटर्न का प्रयास असफल हो गया। कोमिंटर्न मात्र एम.एन.राय पर पर निर्भर नहीं रह सकती थी जो अतीत से और वास्तविकता से कुछ भी सीखने को तैयार नहीं थे और जिन्होंने अपने पुराने गलत राजनीतिक विचारों का अभी भी अनुसरण जारी रखा हुआ था। वे अपनी पुरानी छुद्र गुटीय षड्यंत्रकारी शैली से भी मुक्त नहीं हो सके थे। सितंबर 1921 में शौकत उस्मानी वापस भारत लौट गये। अनेक भारतीय उन क्रांतिकारियों में से, जो रूस में अपना प्रशिक्षण पूरा करके भारत लौट गये थे, वे एक मात्र ऐसे क्रांतिकारी थे जो गिरफ्तारी से बच गये थे। उनके प्रयासों से उत्तर प्रदेश में एक कम्युनिस्ट समूह की स्थापना हुई। अन्य सभी क्रांतिकारी, जैसे–जैसे वे रूस से भारत पहुंचते गये थे, गिरफ्तार कर लिये गये थे। 1921 और 1927 के बीच 6 पेशावर षडयंत्र मामले दर्ज किये गये थे और सभी गिरफ्तार क्रांतिकारियों के विरुद्ध इस केस में मुकदमा चलाया गया था और उन्हें सजा सुना दी गई थी।

1921 में जब भारत में असहयोग आंदोलन अपने चरम पर था। राय ने भारतीय क्रांतिकारियों से संपर्क साधने का प्रयत्न किया था।

राय ने 1921 के अंत में अहमदाबाद कांग्रेस (भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस) के लिए एक कार्यक्रम तैयार किया था। इसे रूस में छपवाकर नलिनी गुप्ता के हाथों भारत भेजा गया था।

राय को उम्मीद थी कि ''खिलाफत'' नेताओं और कांग्रेसी नेताओं से संपर्क साधा जा सकेगा। नलिनी गुप्ता केवल कलकत्ता गये थे और मुजफ्फरपुर अहमद मिले थे।

राय, चितरंजदास के गांधी के साथ मतभेदों को दृष्टिगत रखते हुए, उनकी मदद से एक वामपंथी ब्लाक बनाना चाहते थे। राय के कार्यक्रम का कांग्रेस के आंदोलन की कम्युनिस्ट आलोचना के रूप में कुछ प्रभाव पड़ा था। यह घोषणापत्र चाहता था कि भारतीय कांग्रेस मात्र अपने उच्च वर्गों की मांगों तक सीमित न रखते हुए, मजदूरों और किसानों की समस्याओं को भी हाथ में ले। इस घोषणापत्र में राय ने कहा था कि कांग्रेस केवल मजदूरों और किसानों

की समस्याओं को भी हाथ में ले। इस घोषणापत्र में राय ने कहा था कि कांग्रेस केवल मजदूरों और किसानों की मांगों को उठाकर ही वास्तविक अर्थों में जन संगठन बन सकती है और साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष को संगठित कर सकती है। तब से प्रत्येक कांग्रेस सत्रों में कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र भेजने की एक परम्परा ही बन गई थी।

1922 से राय ने बर्लिन की अपना केन्द्र बना कर कार्य करना शुरू कर दिया। मई 1922 से राय के संपादकत्व में भारतीय स्वतंत्रता का हिरावल (वेनगार्ड आफ इंडिपेंस) नामक पत्रिका का प्रकाशन शुरू हुआ। इस पत्रिका का प्रकाशन शुरू हुआ। इस पत्रिका का उद्देश्य भारतीय जनता में साम्राज्यवाद विरोधी सामंतवाद विरोधी जनवादी मांगों का प्रचार करना था। इस पत्रिका का प्रकाशन 1924 तक जारी रहा। कुछ समय के लिए यह पत्रिका (एडवांस्ड गार्ड) अग्रणी रक्षक के नाम से निकलती रही थी। राय के प्रयासों में इस पत्रिका का भी महत्वपूर्ण स्थान था। यह पत्रिका कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट, वाम राष्ट्रवादी और प्रगतिशील पत्रिकाओं को प्रोत्साहित करने में सफल हुई थी। (गुप्तचर रिपोर्ट में कहा गया था कि बंगला में आत्मशक्ति, धुमकेतू, देश के बागी, तेलुगू में जी.वी.कृष्णा राव के सम्पादकत्व में नवयुग्म, कानपुर से करेंट, बंबई से डांगे की सोशलिस्ट और अमृत बाजार पत्रिकाएं 'वेनगार्ड' से प्रभावित थीं)।

1922 के मध्य में, राय द्वारा (इंडिया इन ट्रांजीशन) संक्रमणकाल में भारत का प्रकाशन किया गया। राय का कहना था कि उन्होंने यह लेखन लेनिन की विश्वसनीयता हासिल करने के लिए किया था। उस समय औपनिवेशिक देशों के राष्ट्रीय बुर्जुआ की समझौतापरस्त चरित्र के बारे में अंतराष्ट्रीय बहस जारी थी। यह साफ नजर आता था कि अनेक देशों में राष्ट्रीय बुर्जुआ ने साम्राज्यवाद के साथ समझौता कर लिया था। इस वजह से बुर्जुआ नेतृत्व में चलने वाले किसी भी मुक्ति संघर्ष को समर्थन न देने के विचार ने काफी मजबूती हासिल कर ली थी। राय ने भी इसी कार्यदिशा पर आधारित अपनी दलीलें देना जारी रखा था।

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान और उसके बाद औपनिवेशिक देशों का औद्योगीकरण और स्थानीय बुर्जुआ द्वारा साम्राज्यवाद के साथ संबंधों में आई मजबूती, ऐसे तथ्य थे, जिनसे राय जैसों ने अपने संकीर्ण विचार निष्पादित किये थे। लेनिन ने स्पष्ट रूप से बुर्जुआ की इस समझौते के विरुद्ध सावधान किया था। लेकिन बुर्जुआ के दलाल बुर्जुआ और राष्ट्रीय बुर्जुआ के रूप में विभेदित नहीं किया गया था। कम्युनिस्ट इंटरनेशनल ने केवल व्यापारिक बुर्जुआ की दलाल चरित्र का माना गया था। समस्त औद्योगिक बुर्जुआ को राष्ट्रीय बुर्जुआ (कभी कभी इसे देशी बुर्जुआ भी कहा गया था) माना गया था। लेकिन वास्तविकता में औपनिवेशिक, अर्द्धऔपनिवेशिक देशों के बुर्जुआ का सबसे महत्वपूर्ण हिस्ससे का जन्म और उन्नयन साम्राज्यवादी हितों के अनुरूप ही हुआ था। इसी वजह से माओ ने पूंजीपतियों को दलाल पूंजीपति और राष्ट्रीय पूंजीपति के रूप में विभेदित किया था। यह विभाजन औपनिवेशिक और अर्द्धऔपनिवेशिक देशों के बुर्जुआ की विभिन्नताओं सही चरित्र निरुपण करता है।

इस विभिन्नता को पहचानने में असफलता की वजह से राय और उनके बाद आर.पी. दत्त ने बुर्जुआ की समझौता प्रवृत्ति और उसके विश्वासघात के चरित्र को युद्ध बाद के औद्योगिक विकास से जोड़कर देखते हैं। 1828 में राय में अपने 'अनौपनिवेशीकरण सिद्धांत में कहा कि उपनिवेशों और अर्द्धउपनिवेशों में औद्योगीकरण, ब्रिटिश शासकों की, स्थानीय बुर्जुआ के विकास की छूट देने के परिणामस्वरूप स्थानीय बुर्जुआ ने साम्राज्यवाद के प्रति अपने विरोधी रुख को त्याग दिया था। अनौपनिवेशीकरण के इस सिद्धांत को भारत संक्रमणकाल में (इंडिया इन ट्रांजिशन) के तारतम्य में ही देखा जा सकता है। राय ने कहा था कि जब उन्होंने अपनी इस पुस्तक को लिखना शुरू किया था तब लेनिन ने उनको अपनी

इच्छा के अनुरूप वास्तविक तथ्यों को तोड़ने–मरोड़ने के प्रति चेतावनी दी थी। लेकिन राय इस चेतावववनी पर कभी भी ध्यान देते नजर नहीं आते।

औपनिवेशिक और अर्द्धऔपनिवेशिक देशों के समस्त बुर्जुआ वर्ग को राष्ट्रीय बुर्जुआ के रूप में ही देखने की इस विचार सारणी ने कम्युनिस्ट पार्टियों में, अपने देशों में राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों के लिए रणनीति तैयार करने में काफी विभ्रम पैदा किया था। राय भारत की वास्तविवक परिस्थितियों पर पकड़ बनाने में असमर्थ थे और उनमें इन ठोस परिस्थितियों के अनुरूप लेनिन की थीसिस को व्याख्यायित करने और लागू करने की क्षमता नहीं थी। इससे भी बढ़कर अपनी मनमानी के अनुसार तथ्यों को तोड़ने–मरोड़ने के एक प्रयास में, वे इस निष्कर्ष पर पहुंच गये थे की भारत एक सामंती देश नहीं है।

राय मूलभूत रूप से लेनिन की थीसिस का विरोध करते थे। ऐसा उनकी कार्यवाही के हर कदम में देखा जा सकता है। कोमिंटर्न के निर्देशानुसार संयुक्त मोर्चा बनाने के प्रयास किये गये थे। परन्तु ये प्रयास कांग्रेस के कुछ नेताओं को अपनी ओर आकृष्ट करके राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व हथियाने के लिए अवास्तविक दृष्टि के साथ किये गये थे। स्वतंत्रता आंदोलन पर सर्वहारा का प्रभुत्व स्थापित करने के साधनों की अर्थात अपने साथ कामगारों और किसानों को बांधे रखने वाली मजबूत कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण की पूर्ण उपेक्षा की गई थी।

देश में कम्युनिस्ट समूह

उस समय, जब ताशकंद में कम्युनिस्ट पार्टी के गठन के प्रयास किए जा रहे थे। अर्थात 1920–22 के दौरान, देश के हर कोने में, एक–दूसरे से स्वतंत्र रूप से कम्युनिस्ट समूह उभरने लगे थे।

बम्बई : 1920 से ही ट्रेड यूनियनों के बीच, श्रीपाद अमृत डांगे (एस.ए.डांगे) के नेतृत्व में, एक समूह कार्यरत था। डांगे ने, एक लखपति लोटवाला (एक मिल मालिक) की वित्तीय मदद से, एक प्रकाशन ईकाई प्रारंभ की थी। उन्होंने मराठी दैनिक 'इंदु प्रकाश' को अधिग्रहित कर लिया था और अपनी प्रकाशन ईकाई के जरिये इस दैनिक को, वामपंथी विचारों के साथ निकालना शुरू कर दिया था। 1921 में उन्होंने गांधी बनाम लेनिन शीर्षक से एक पुस्तक लिखी और प्रकाशित की। उन्होंने प्रथम भारतीय कम्युनिस्ट अखबार (साप्ताहिक) का, 1922 अगस्त से प्रकाशन शुरू किया।

कलकत्ता : कलकत्ता समूह, मुजफ्फर अहमद के नेतृत्व में काम कर रहा था। अहमद, एक क्रांतिकारी कवि थे। उन्होंने नजरूल इस्लाम के सहयोग में एक बंगाली पत्र 'नवयुग' का प्रकाशन किया। 1921 में उन्होंने गुप्त रूप से मार्क्स–एंगेल्स की रचनाओं को प्राप्त करने का प्रबंध कर लिया था। यह समूह मजदूरों के बीच काम करता था।

मद्रास : यह समूह सिंगारवेलु चेट्टियार के नेतृत्व में काम करता था। चेट्टियार, कम्युनिज्म की तरफ आकृष्ट होने से पहले कांग्रेस नेता के रूप में मजदूरों के बीच काम करते रहे थे। 1920 की गया कांग्रेस में उन्होंने सक्रिय भूमिका निभाई थी। उन्होंने 1923 में हिंदुस्तान की मजदूर किसान पार्टी की स्थापना की। मई में इस पार्टी की घोषणा के लिए एक जनसभा आयोजित की गई। पहली बार किसी जनसभा मे लाल झंडा लहराया था।

लाहौर : यह समूह मुहम्मद अली (ताशकंद में कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक सदस्य) के प्रभावाधीन, गुलाम हुसैन के नेतृत्व में कार्यरत था। उन्होंने अपना शिक्षकम पेशा त्याग दिया था और लाहौर रेलवे मजदूर यूनियन में काम करना शुरू कर दिया था। गुलाम हुसैन अपने सम्पादकत्व में इंकलाब नामक उर्दू पत्र निकाला करते थे।

एम. एन. राय ने इन समूहों के साथ सम्पर्क स्थापित करने की कोशिश की। नलिनी गुप्ता की मदद से उन्होंने अपने भूतपूर्व साथी मुजफ्फर अहमद से सम्पर्क साधा। डांगे की पुस्तक गांधी बनाम लेनिन को देखने की बाद, राय ने डांगे से संपर्क बनाया। इन समूहों के माध्यम से राय ने भारतीय स्वतंत्रता के अग्रगामी और अन्य कोंमिटर्न पर्चों एवं अन्य प्रकाशनों को वितरित करने का प्रयास किया।

सिंगारवेलु और डांगे ने स्वतंत्र रूप से कांग्रेस के भीतर एक वामपंथी पार्टी के गठन की और इसके जरिये काम की योजना बनाई थी। राय भी इसी विचार के वाहक थे। डांगे ने सोशलिस्ट लेबर पार्टी आफ भारतीय नेशनल कांग्रेस के गठन की अपनी योजना से राय को अवगत कराया। राय ने डांगे को चौथी कोमिंटर्न कांग्रेस तक इंतजार कर लेने की सलाह दी। राय ने डांगे से कोमिंटर्न कांग्रेस में खुद शिरकत करने या किसी प्रतिनिधि को भेजने के लिए आमंत्रित किया।

राय ने मुजफ्फर अहमद को भी कोमिंटर्न की चौथी कांग्रेस में शामिल होने के लिए लिखा। उनके कांग्रेस में शामिल होने की व्यवस्था के लिए, राय ने ब्रिटिश पार्टी के भारत के लिए नियुक्त सचिव, चार्ल्स एश्ले को डांगे और अहमद से मिलने भारत भेजा। राय ने अहमद को एश्ले के भारत पहुंचने की सूचना दे दी थी। अहमद राय के जिम्मे सी.आर.दास और सुभाष चंद्र बोस तक आमंत्रण पत्र पहुंचाने का काम सौंपा गया था।

राय ने कोमिंटर्न कांग्रेस में भारतीय प्रतिनिधियों की भागीदारी को लेकर काफी उम्मीदें लगा रखी थीं। परंतु पुलिस ने, एश्ले के भारत यात्रा की जानकारी हासिल कर लेने पर, उसका पासपोर्ट ही रद्द कर दिया। 19 सितंबर 1922 को बांबे एयरपोर्ट पर उतरते समय उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। चूंकि वे उसके पास से कुछ भी बरामद न कर सके, उन्होंने उनसे वापस इंग्लैंड चले जाने को कह दिया। अत्यंत अल्पकाल में ही जो उन्हें मिल पाया था, ऐश्ले पुलिस को एक पर्ची देने में और मुंबई के इतिवृत्त पत्रकार (बांबे क्रानिकल जर्नलिस्ट) की मदद से डांगे से मिलने में कामया हो गये थे (1924 में गिरफ्तार हो जाने पर डांगे ने ये सारे भेद पुलिस के सामने खोल दिये थे।)

कोमिंटर्न की चतुर्थ कांग्रेस

कोमिंटर्न की चौथी कांग्रेस 5 नवंबर से 5 दिसंबर 1922 तक चली थी। यह आखिरी कांग्रेस थी जिसमें लेनिन ने शिरकत की थी। उस समय वह सख्त बीमार थे। ऐश्ले के जरिए विभिन्न कम्युनिस्ट समूहों से प्रतिनिधियों को लाने का, राय को प्रयास विफल ही गया था। भारतीय प्रतिनिधियों के रूप में, राय, मसूद अलींशां, नलिनी प्रतिनिधियों, यानी रतन सिंह, संतोष सिंह कांग्रेस में शामिल हुए थे। केवल राय और रतन को ही वोट देने का अधिकार प्राप्त था। कांग्रेस में राय को ई.सी.सी.आई. के वैकल्पिक सदस्य के रूप में चुन लिया गया। राय की रिपोर्ट को आधार बनाते हुए जिनिओनेव ने भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन की प्रगति पर संतोष व्यक्त किया।

तीसरी कांग्रेस के बाद ई.सी.सी.आई. ने मजदूर वर्ग के संयुक्त मोर्चे पर एक थीसिस तैयार की। इस संयुक्त मोर्चे ने मजदूरों की छंटनी, उनकी मजदूरी में कमी, युद्ध के खतरे आदि के विरुद्ध काम किया था। उसने युद्ध के पश्चात पूंजीवादी आक्रमण का भी प्रतिरोध किया था। संयुक्त मोर्चे के प्रयास, द्वितीय और साढ़े द्वितीय इंटरनेशनल की मजदूर वर्ग विरोधी गतिविधियों के कारण, असफल हो गये थे। फिर भी ई.सी.सी.आई. ने अपने द्वितीय पूर्ण बैठक (प्लेनम) में संयुक्त मोर्चे की रणनीति को रखने का प्रस्ताव पास किया था। इस कांग्रेस ने पश्चिमी यूरोपीय देशों की कुछ कम्युनिस्ट पार्टियों की, संयुक्त मोर्चे के महत्व को

कम करके आंकने की संकीर्ण प्रवृत्ति की आलोचना की थी। मुसोलिनी के फासीवादी समूहों के हमले ने संयुक्त मोर्चे की आवश्यकता को रेखांकित कर दिया था (अक्टूबर 1922 में, मुसोलिनी ने इटली की सत्ता पर कब्जा कर लिया था)।

दूसरी तरफ उपनिवेशों में राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों का उफान जारी था। 1922 में टर्की का जनयुद्ध सफल हो गया था। मिस्र, चीन, भारत, कोरिया आदि देशों में राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष आगे बढ़ रहे थे। इन्हीं परिस्थितियों के बीच कोमिंटर्न की चौथी कांग्रेस का आयोजन हुआ था। कांग्रेस को संबोधित करते हुए लेनिन ने कहा–

''1921 में, तृतीय कांग्रेस में हमने कम्युनिस्ट पार्टी की सांगठनिक संरचना में और उनकी कार्यप्रणाली तथा उनके कार्यों की अंतर्वस्तु पर एक प्रस्ताव पारित किया था। यह एक शानदार प्रस्ताव था, लेकिन यह लगभग पूरी तरह रूसी था, कहने का मतलब यह कि, इसमें शामिल सभी चीजें, रुसी परिस्थितियों पर आधारित थीं।... लेकिन हम यह नहीं सीख पाये थे कि कैसे अपने रूसी अनुभवों को विदेशियों के सामने कैसे प्रस्तुत किया जाये। प्रस्ताव में जो कुछ कहा गया था, वे बेजान शब्द थे। अगर हम इस सच्चाई को महसूस नहीं कर पाते तो हम आगे बढ़ने में असमर्थ रहेंगे। मैं समझता हूं कि रूसी क्रांति पांच वर्षों बाद, हम सबके लिए, रूसी और दूसरे देशों के साथियों के लिए समान रूप से सबसे महत्वपूर्ण है ठहरना और बैठ कर अध्यापन करने में लग जाना। हम केवल अब जाकर इसके लिए मौका मिला है। मुझे नहीं पता कि यह अवसर कब तक हमें शांति के साथ बैठकर अध्यापन करने का मौका देगी। लेकिन लड़ाई में सन्नद्ध रहने से, सांस लेने के इन प्रत्येक क्षणों का पूरा लाभ उठाना ही होगा, अध्यापन करना और बारीकी के साथ अध्ययन करना होगा।''

मुख्य रणनीतिक नारे :

1. पूंजीवादी देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों के लिए **''पूंजीवादी आक्रमणों के संहार और बढ़ते हुए फासीवाद के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा।''**

2. एशियाई और अफ्रीकी जनता के लिए– **''साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के लिए संयुक्त मोर्चा।''** कांग्रेस के समस्त निर्णय इन्हीं दो अंतर्सम्बन्धित मुद्दों पर आधारित थे।

पूर्वी प्रश्न पर थीसिस

द्वितीय कांग्रेस द्वारा अंगीकृत लेनिन की थीसिस पर आधारित, औपनिवेशिक आयोग (कोलोनियन कमीशन) द्वारा सूत्रबद्ध पूर्वी थीसिस, औपविनेशीकरण और अर्द्धऔनिवेशिक देशों में क्रांति की रणनीति और रणकौशल की स्पष्ट निरुपण करती है तथा अंतर्राष्ट्रीय सर्वहारा के वर्गीय आंदोलन और इन देशों में जारी राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के बीच संबंध को स्पष्ट रूप से परिभाषित करती है।

संघर्ष की शर्तें

औपनिवेशिक देशों में बुर्जुआ जनवाद खुद को सामंती–नौकरशहाना और सामती भूमि संबंधी तत्वों पर आधारित करते हुए विकसित होती है। विदेशी साम्राज्यवादी सामंती उच्च वर्गों को अपने प्रभुत्व के प्रतिनिधि (एजेंट) के रूप में बदल देती है। इस प्रकार ''उपनिवेशों और अर्द्धउपनिवेशों के प्रभावशाली वर्ग, साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष को उस समय जब ये

संघर्ष एक क्रांतिकारी जनांदोलन का रूप लेने की तरफ बढ़ चलते हैं, नेतृत्व देने में अक्षम और अनिच्छुक साबित होते हैं।''

● ''सभी राष्ट्रीय क्रांतिकारी आंदोलनों के लिए सामान्य रूप से प्रधान कार्य, राष्ट्रीय एकता स्थापित करना और राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करना है। इस उद्देश्य की वास्तविक और सुसंगत प्राप्ति, इस बात पर निर्भर करती है कि किस हद तक किसी देश का राष्ट्रीय आंदोलन अपनी तरफ मेहनतकश आवाम को आकर्षित करने में और प्रतिक्रियावादी सामंती तत्वों से अपने सारे सूत्र तोड़ लेने में और अपने कार्यक्रम में आमजन की सामाजिक मांगों को समाहित कर लेने में सक्षम है।''

● ''...कम्युनिस्ट इंटरनेशनल साम्राज्यवाद विरोधी समस्त राष्ट्रीय क्रांतिकारी आंदोलनों की मदद करता है। इसके सथ ही वह अपनी नज़रों से इस सच्चाई को ओझल नहीं होने देता कि केवल मेहनतकश जनों की सक्रिय समर्थन और अपने वर्ग प्रभुत्व को बनाये रखने के साम्राज्यवादी हितों के साथ समझौते की वकालत करने वालों से पूर्ण क्रांतिकारी कार्यदिशा ही उत्पीड़ित जनों की विजय की ओर अग्रसर कर सकती है।''

कृषि का सवाल

● ''पूर्ण के बहुसंख्या देशों में (भारत, ईरान, मिस्र, सीरिया और मेसोपोटामिया) में बड़ी शक्तियों की निरंकुशता से मुक्ति के संघर्षों में कृषि का प्रश्न प्रारंभिक महत्व रखता है।''

● ''सामंतदारी बेगारी और सामंती अवरोध से कृषि भूमि को मुक्त कराने का संघर्ष, इस प्रकार साम्राज्यवाद और बड़े सामंती भूस्वामित्व के विरुद्ध राष्ट्रीय मुक्ति के संघर्ष का चरित्र बन जाता है। सामंती भूस्वामियों और भारत स्थित अंग्रेजों के विरुद्ध 1921 की पतझड़ में उठ खड़े होने वाला मोपला विद्रोह और 1922 में सिक्खों के विद्रोह इसके उदाहरण हैं)''

● बड़े भूस्वामियों की भूमि पर कब्जा करने के उद्देश्य को समर्पित भूमि आंदोलन ही, विशाल कृषक आबादी को जगा सकता है, उद्वेलित कर सकता है और साम्राज्यवादी संघर्षों के लक्ष्य की ओर निर्णायक रूप से प्रभावित कर सकता है। बुर्जुआ राष्ट्रवादियों के एक हिस्से में घर कर बैठा, कृषि क्रांति के नारे का भय, (भारत, ईरान, मिस्र) देशी बुर्जुआ के बड़े सामंती और सामंती–बुर्जुआ भूस्वामियों के साथ निकट संपर्क की मौजूदगी का और बुर्जुआ की सामंती भूस्वामियों पर वैचारिक और राजनीतिक निर्भरता का सबूत है। क्रांतिकारियों को, बुर्जुआ वर्ग की इस हिचकिचाहट और ढुलमुलपन का इस्तेमाल, राष्ट्रीय आंदोलन के बुर्जुआ नेताओं में दृढ़संकल्प के अभाव की आलोचना करने और उनका पर्दाफाश करने के लिए अवश्य करना चाहिए।''

● ''पूर्व के पिछड़े देशों में क्रांतिकरी आंदोलन तब तक सफल नहीं हो सकते जब तक कि ये किसान जनों की कार्रवाई पर आधारित न हों। इस कारण से पूर्वी देशों की सभी क्रांतिकारी पार्टियों को अपने कृषि कार्यक्रम को अवश्य परिभाषित कर लेना चाहिए जो आवश्यक रूप से सामंतवाद और इसके अवशेषों की पूर्ण समाप्ति की मांग करता हो।''

पूरब में मजदूर आंदोलन

● ''... हाल के वर्षों में, पिछड़े देशों में मेहतनकश वर्ग के ट्रेड यूनियन संघर्षों और राजनीतिक संघर्षों ने काफी प्रगति की है। लगभग सभी देशों में सर्वहारा वर्ग की स्वतंत्र

पार्टियों का निर्माण एक ध्यातव्य तथ्य है, यद्यपि कि इन पार्टियों की बड़ी बहुसंख्या को अभी भी आवश्यक रूप से; स्वयं को अपरिपक्वता, संकीर्णता एवं अन्य कमियों से मुक्त करने के लिए भारी अंतरिम पुनगर्ठन के दौर से गुजरना होगा।''

पूर्व की कम्युनिस्ट पार्टियों के सामान्य कार्यभार

● ''पश्चिम के सर्वहारा के साथ सहयोग सोवियत गणतंत्रों के अंतर्राष्ट्रीय संघ के लिए मार्ग प्रशस्त करेगा। सोवियत व्यवस्था, पिछड़े देशों के लिए अस्तित्व की आदिम दशाओं के कम्युनिज्म की सर्वोच्च संस्कृति की ओर संक्रमण के सबसे कम कष्टदायक रूप का प्रतिनिधित्व करती है।''

● ''औपनिवेशिक क्रांतियों का कार्यभार इस सच्चाई से ही बुर्जुआ जनवाद की सीमाओं को पार कर जाता है कि उनकी निर्णायक विजय विश्व साम्राज्यवाद के प्रभुत्व के साथ असंगत है। अभी जबकि देशी बुर्जुआ और बुर्जुआ बुद्धिजीवी, औपनिवेशिक क्रांतिकारी आंदोलनों के अग्रगामी बने ही हुए हैं, सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा किसानों के इन आंदोलनों में प्रवेश करने के साथ ही धनी बुर्जुआ भूस्वामी छोड़कर जाने लगते हैं क्योंकि अब मेहनतकश जनों के हित प्रधानता ग्रहण कर लेते हैं।''

● ''किसानों पर अपना प्रभाव जमाने क लिए, संघर्ष को देशी सर्वहारा को राजनीतिक नेतृत्व की भूमिका निभाने के लिए तैयार करना चाहिए। मजदूर वर्ग का अपना खुद का प्रशिक्षण और अपने साथ निकटता के साथ जुड़े सामाजिक वर्गों के प्रशिक्षण की पूर्व तैयारी के काम को पूरा कर लेने के बाद ही, बुर्जुआ जनवाद के काम को पूरा कर लेने के बाद ही, बुर्जुआ जनवाद से आगे बढ़ पाना संभव होगा।''

● ''उपनिवेशों के कम्युनिस्टों का, साम्राज्यवाादी दमन के विरुद्ध संघर्ष में भागीदारी निभाने से, अपने अलहदा वर्गहितों की ''सुरक्षा'' के बहाने इंकार सबसे बुरे किस्म का अवसरवाद है। बुर्जुआ जनवाद के साथ ''राष्ट्रीय एकता'' अथवा ''नागरिक शांति'' बनाये रखने के लिए मजदूर वर्ग के हित में रोज–रोज के फौरी कामों से खुद को अलग कर लेने को भी कम हानिकारक नहीं समझना होगा।''

● ''(मेहनतकश जनों की सम्पादन) विशेष मांगों को समने लाने के जरिए, ये पार्टियां उस क्रांतिकारी ऊर्जा को जागृत और मुक्त कर देगी, जिसे बुर्जुआ उदारवादी मांगों में निकास नहीं पाती है। उपनिवेशों और अर्द्धउपनिवेशों में, मेहनतकश वर्ग को यह जानना चाहिए कि केवल बड़ी शक्तियों के साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष को और गहरा और व्यापक करके ही वह अपने क्रांतिकारी नेतृत्व का काम कर सकेगा। दूसरी तरफ, मजदूर वर्ग और और अर्द्धसर्वहारा वर्गों के आर्थिक तथा राजनीतिक संगठनों का निर्माण और उनका राजनीतिक प्रशिक्षण, साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष की क्रांतिकारी संभावनाओं के विस्तार को फलीभूत करेगा।''

● ''पूर्व के औपनिवेशिक और अर्द्धऔपनिवेशिक देशों में, कम्युनिस्ट पार्टियां,जो अभी भी कमोबेश भ्रूणावस्था में ही हैं, प्रत्येक उस घटना मे हिस्सा लेना चाहिए, जो जनता के भीतर उनकी पैठ बनाती हो। इसके साथ ही भ्रूणावस्था वाले इन संगठनों को सुधारवादी प्रवृत्तियों से सुरक्षित रखने के लिए और उन्हें जनसंघर्षों के जुझारू संगठनों में बदलने के लिए, श्रम संगठनों में मौजूद पितृसत्तात्मक तथा हस्तकला (craft) के संकीर्ण पूर्वाग्रहों और बुर्जुआ प्रभावों के विरुद्ध ऊर्जावान अभियान चलाने होंगे।''

साम्राज्य विरोधी संयुक्त मोर्चा

● ''जबकि पश्चिम में... संयुक्त मजदूर मोर्चे का नारा सामने लाया गया है, औपनिवेशिक पूर्व में, वर्तमान में, साम्राज्यवाद विरोधी संयुक्त मोर्चे का नारा ही आगे लाना जरूरी है। इन रणनीतियों का औचित्य, साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक उस दीर्घकालीन युद्ध की संभावनाओं द्वारा प्रतिपादित होता है, जो सभी क्रांतिकारी तत्वों को आंदोलित करने की मांग करता है।''

● ''ठीक उस तरह जैसे पश्चिम के संयुक्त मजदूर मोर्चे का नारा सर्वहारा के हितों के साथ सामाजिक जनवादियों के विश्वासघात का पर्दाफाश करने में मददगार हुआ है, वैसे ही साम्राज्यवाद विरोधी संयुक्त मोर्चे का नारा पूर्व के कुछ बुर्जुआ तत्वों के ढुलमुलपन और अनिच्छा का पर्दाफाश करने में मददगार होगा।''

● ''उपनिवेशों और अद्धउपनिवेशों में मजदूर आंदोलन को सबसे पहले आवश्यक रूप से, साम्राज्यवाद–विरोधी सामान्य मोर्चे में अपनी स्वतंत्र स्थिति को सुरक्षित कर लेनी चाहिए। इस स्वतंत्र स्थिति की मान्यता और अपनी पूर्ण स्वतंत्रता को बनाये रखने के आधाार पर ही बुर्जुआ जनवाद के साथ फौरी समझौता अनुभन्य है और आवश्यक है। सर्वहारा को इस बात को देखते हुए कि शक्तियों का वर्तमान अंर्तसंबंध इसे अपने सोवियत कार्यक्रम के चलाने की अनुमति नहीं देते, इन आंशिक मांगों और का भी अवश्य समर्थन करना चाहिए और उसे आगे बढ़ाना चाहिए जैसे कि स्वतंत्र जनवादी गणराज्य सभी सामंती विशेषाधिकारों और सेवाओं का उन्मूलन, महिलाओं का मताधिकार आदि।''

● ''औपनिवेशिक देशों की अपेक्षा अर्द्धऔपनिवेशिक देशों में (चीन, ईरान) में अथवा साम्राज्यवादी देशों के बीच की प्रतियोगिता का लाभ उठाते हुए स्वतंत्रता प्राप्त करने की चाह वाले देशों में (टर्की) बुर्जुआ राष्ट्रवादियों का, एक या कई साम्राज्यवादी शक्तियों के साथ समझौते का खतरा सामने है। ऐसा समझौता... औपचारिक स्वतंत्रता के चोगे के भीतर, देश को विश्व साम्राज्यवाद के अधीनस्थ मध्यवर्ती (बफर) अर्द्धऔपनिवेशिक राज्य की पहले की हालात में ही छोड़ देगा।''

''साम्राज्यवाद विरोधी क्रांतिकारी संघर्षों से शांति पाने के लिये, आंशिक और तात्कालिक समझौते की स्वीकार्यता और अपरिहार्यता को पहचानते हुए, सर्वहाारा के लिए साम्राज्यवादी और देशी शासक शक्तियों के बीच सत्ता के बटवारे की खुले या प्रत्येक प्रयत्न का अनथक प्रतिरोध करना आवश्यक है।''

गया कांग्रेस सत्र :

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (आइ.एन.सी.) का 36वां अधिवेशन दिसंबर 1922 में, गया में हुआ। चितरंजनदास और गांधी के बीच शक्ति प्रदर्शन के लिए मंच सज चुका था। गांधी का (यथास्थितिवादी) कार्यक्रम अंगीकार कर लिया गया। चितरंजनदास की स्वराज पार्टी द्वारा पेश परिषदों (काउंसिलों) में भागीदारी का प्रस्ताव गिर गया था।

चितरंजनदास ने कहा कि 98 प्रतिशत जनता स्वराज चाहती है और कांग्रेस को इन 98 प्रतिशत जनता का प्रतिनिधित्व करना चाहिए। उन्होंने मजदूर वर्ग और किसानों के संघर्षों की हिमायत की। इसी वजह से एम.एन.राय ने उन्हें क्रांतिकारी घोषित कर दिया था। राय, उनकी सहायता से क्रांतिकारी मंच की स्थापना करना चाहते थे।

कोमिंटर्न ने गया कांग्रेस को शुभकामना संदेश भेजा था और सुझाव दिया था कि ''राष्ट्रीय कांग्रेस को सुस्पष्ट रूप से घोषित करना चाहिए कि उसका राष्ट्रीय कार्यक्रम किसी भी विदेशी नियंत्रण से पूर्णतः मुक्त, जनतांत्रिक गणतंत्र की स्थापना है।'' गांधी द्वारा असहयोग आंदोलन को वापस लेने के विश्वासघात के मद्देनजर इसने अपने संदेश में आगे कहा था, ''पिछले दो वर्ष भारत में शक्तिशाली क्रांतिकारी विप्लव के रहे हैं। किसानों और मजदूरों के

जागरण ने ब्रिटिश सरकार के दिल में भय पैदा कर दिया है। लेकिन राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व ने इस तीव्र क्रांतिकारी स्थिति के क्षणों को असफल कर दिया।'' इस संदेश ने कांग्रेस से राजनीतिक प्रस्ताव के साथ–साथ कृषि क्रांति पर आधारित एक आर्थिक कार्यक्रम लेने के लिए भी कहा था। इसने ब्रिटिश साम्राज्यवाद को पराजित करने के लिए भारतीय जनता को अपनी मदद का हाथ भी आगे बढ़ाया था।

एम.एन.राय ने कार्यक्रम तैयार करके कांग्रेस को भेजा था। रायटर न्यूज एजेंसी ने इसे समाचार पत्रों को जारी कर दिया, जिससे पूरे देश में इसका प्रसारण हो गया। राय ने, असहयोग आंदोलन को वापस ले लेने की वजह से पूरे देश में फैली हताशा की स्थिति के लिए गांधी के नेतृत्व की आलोचना की थी। एम.एन.राय का यह कार्यक्रम आगे चलकर श्रमिक और किसान पार्टियों (डब्ल्यू.पी.पी.) का आधार बना था। यह कार्यक्रम अपने साथ एक विभ्रम भी लेकर आया था जो समाजवादी और जनवावदी क्रांति के संबंध में राय द्वारा पैदा किया गया था। राय के खुद के कथनानुसार उन्होंने 'सामाजिक जनवादी' कार्यक्रम पेश किया था। सी.आर.दास ने गांधी से 98 प्रतिशत जनता से संघर्ष के लिए संघर्ष नहीं किया था, जैसाकि राय ने उम्मीद की थी। दास ने सिर्फ स्वराज पार्टी की परिषदों में कांग्रेस की भागीदारी के लिए गांधी से मुकाबला किया था। बाद में राय ने यह स्वीकार किया था कि उनके कार्यक्रम ने अनपेक्षित विपरीत परिणाम पैदा किए थे। उन्होंने कहा कि वाम पक्ष को मजबूत करने की बजाय, इसने कांग्रेस में अफरा–तफरी पैदा कर दी थी। गया कांग्रेस में एस.ए.डांगे तथा सिगारवेलु भी शामिल हुए थे।

बर्लिन में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (सी.पी.आई.) के सम्मेलन के प्रयास :–

कोमिंटर्न की चतुर्थ कांग्रेस के बाद, राय ने भारत के सभी कम्युनिस्ट समूहों का एक सम्मेलन बुलाने का प्रयास किया, जिसमें इन मुद्दों पर बहस की जानी थी और फैसले लिये जाने थे।

1. सीपीआई के लिए एक कार्यक्रम तैयार करना और भारत के क्रांतिकारी आंदोलन के संगठन के बारे में बहस मुबाहिसा करना।

2. एक क्रांतिकारी जन पार्टी की स्थापना।

3. भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के लिए अखिल भारतीय स्तर पर इस कार्य के लिए आसान कदम उठाने वाली एक पोइया (कैन्टर) करना।

राय ने निम्न लोगों को इस सम्मेलन में आहूत करने का निश्चय किया था।

डांगे, सिंगारवेलु, इ.एल.अय्यर, मुजफ्फर अहमद, सिद्दीकी, बैद्यनाथ विश्वास (हुगली कांग्रेस कमेटी)। लेकिन यह सम्मेलन नहीं हुआ। डांगे और सिंगारवेलु चेट्टियार बर्लिन जाने को तैयार नहीं थे। डांगे ने सिंगारवेलु को लिखा– ''हम अपना अधिकतम प्रयास लोगों के बीच साम्यवाद (कम्युनिज्म) के प्रचार प्रसार में करेंगे। वे कौन भारतीय कम्युनिस्ट हैं, उनमें से कितने बर्लिन जाने को तैयार होंगे जबकि जर्मनी भुखमरी की चपेट में है? कांग्रेस जैसी चीज से पहले यहां ढेरों अच्छे काम करने के लिए पड़े हैं। लेकिन उन्हें जाने दो अगर उनके पास पर्याप्त साधन है। लेकिन हमारे लिए वर्तमान में अपना तट छोड़ना एकदम असंभव है... जब ऐसी स्थिति है तो बर्लिन कांग्रेस के बारे में सोचना किसलिए...।''

अगर डांगे और सिंगारवेलु बर्लिन जाने से इंकार नहीं करते, तो भी यह सम्मेलन संभव नहीं था। राय को गुप्त कार्यों का अनुभव न होना, योजना के अनुसार कार्य करने में उनकी असमर्थता, वास्तविक परिस्थितयों की बजाय अपनी सनक और कल्पनाओं के आधार पर कार्य करने की प्रवृत्ति आदि के कारण, सम्मेलन को फेल ही होना था। डांगे और

सिंगारवेलु की प्रतिक्रिया उनकी राष्ट्रवादी प्रवृत्ति को दर्शाती है। मुजफ्फर अहमद ने सम्मेलन में शामिल होने का प्रयास किया था, पर वे 16.5.92 को गिरफ्तार कर लिये गये।

कानपुर षड्यंत्र केस–राज्य का आक्रमण

असहयोग आंदोलन की वापसी के बाद से कांग्रेस में वाम पक्ष मजबूत हो गया था। राष्ट्रीय क्रांतिकारी समूहों ने अपना पुनर्स्थापन कर लिया था। क्रांतिकारी गतिविधियों का फैलना शुरू हो गया था। विभिन्न कम्युनिस्ट समूहों के बीच एकता के प्रयास चल रहे थे। कांग्रेस के भीतर कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में एक कानूनी जनता का पार्टी के सक्रिय प्रयास जारी थे। सरकार ने सारे भारत में अपने नियंत्रण कर दिया थ। अनेक गिरफ्तारियां की गई थीं। ब्रिटिश सरकार ने शुरुआती स्तर पर ही कम्युनिस्ट आंदोलन को नष्ट करने का प्रयास किया था। इसने एक ही वार में सारे भारत से सभी कम्युनिस्ट समूहों पर हमला बोल दिया था। यह आक्रमण तब किया गया जब पेशावर षड्यंत्र का मामला समाप्त होने को था।

पुलिस के भारतीय क्रांतिकारियों से राय द्वारा किए गये पत्राचार का सारा ब्योरा मिल चुका था। भारत में कम्युनिस्ट समूह कानूनी तैयार पर काम कर रहे थे। किसी भी क्षण कम्युनिस्ट समूहों पर हमला बोलने के लिए, सरकार के लिए जरूरी सारी सूचनायें उसके गृह विभाग के पास मौजूद थी। (उस समय राय पांडेचेरी के आर.सी.एल. शर्मा के माध्यम से अपना पत्र व्यवहार किया करते थे। फ्रांसीसी अधिकारियों की मदद से, ब्रिटिश पुलिस इस सारे पत्राचार को पढ़ लिया करती थी।)

शौकत उस्मानी कानपुर में 8 मई 1923 को गिरफ्तार कर लिये गये। मुजफ्फर अहमद कलकत्ता में 19 मई 1923 को गिरफ्तार हो गये। इसी समय लाहौर में गुलाम हुसैन को भी गिरफ्तार कर लिया गया। उन्होंने 14 जून को वायसराय के सम्मुख सभी विवरणों को उजागर करने की पेशकश की। उसने राय के साथ अपने संबंधों सहित सारे ही राज उगल दिए। मोहम्मद शफीक पेशावर केस में सरकारी गवाह बन गये थे। अभी जब सरकार इन लोगों को खिलाफ पर्याप्त सबूत न होने की वजह से षड्यंत्र केस दर्ज कराने से हिचक हो रही थी कि 20 दिसंबर को नलिनी गुप्ता गिरफ्तार हो गये। उन्होंने 21 दिसंबर को पुलिस के सामने अपनी सारी गतिविधियों को कुबूल कर लिया। मुजफ्फर अहमद ने भी एक बयान दे दिया। बाद में उन्होंने कहा कि उन्होंने इसलिए बयान दिया था कि पुलिस के पास पहले से ही सारी जानकारियां मौजूद थीं।

पुलिस को राय पत्र व्यवहार की 64 प्रतियां पहले ही प्राप्त हो चुकी थीं। नलिनी गुप्ता के, जो कोमिंटर्न के प्रतिनिधि राय और भारत के क्रांतिकारी समूहों के बीच की कड़ी के रूप में कार्य करते थे, सरकारी गवाह बन जाने के बाद सरकार ने षड्यंत्र केस को दर्ज करने का निश्चय कर लिया। (अपनी गिरफ्तारी के बाद नलिनी गुप्ता पुलिस के मुखबिर बन चुके थे, इस बात का अन्य लोगों को जानकारी नहीं थी।)

6 फरवरी को डांगे और सिंगारवेलु गिरफ्तार कर लिये गये। सिंगारवेलु के 7 तारीख को (स्वास्थ्य के आधार पर) जमानत पर छोड़ दिया गया। आठ प्रमुख कम्युनिस्ट नेताओं पर मामले दाखिल कर दिये गये। ये थे : 1.राय, 2.मोहम्मद अहममद, 3.शौकत उस्मानी, 4. डांगे, 5. गुलाम हुसैन, 6. नलिनी गुप्ता, 7. सिंगारवेलु, 8. आर.सी.एल.शर्मा।

1 मार्च 1924 के मुजफ्फर अहमद, उस्मानी, डांगे और नलिनी गुप्ता के खिलाफ सुनवाई शुरू हो गई। 20 मई 1924 को सेशन कोर्ट ने इन चारों के चार साल के लिए बामशक्कत जेल की सजा सुना दी। (जज वी.एच.ई.होम था, जिसने चौरी चौरा केस में 120 किसानों को फांसी की सजा सुनाई थी।)

कम्युनिस्ट कोर्ट को अपना राजनीतिक प्लेटफार्म बनाने से चूक गये थे। भगतसिंह और अन्यों द्वारा कोर्ट का राजनीतिक लाभ के इस्तेमाल करने में प्रदर्शित कुशलता और जेल जाने के दौरान इन क्रांतिकारियों के बहादुराना व्यवहार से तुलना करने पर इन कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों का व्यवहार कम्युनिस्ट पार्टी की प्रतिष्ठा के लिए कहीं से भी प्रशंसनीय नहीं था वरन अपमानकारक था।

नलिनी गुप्ता के साथ ही जो सरकारी गवाह बन गये थे, डांगे ने भी माफी की प्रार्थना देकर साम्राज्यवादियों के सामने आत्मसमर्पण कर दिया था। डांगे ने अपने पत्र में लिखा था कि वे भारत में मौजूद अथवा प्रवासी कम्युनिस्टों पर अपने समस्त प्रभावों का इस्तेमाल साम्राज्यवादियों के हित में करेंगे (एक एजेंट के रूप में)। यह ध्यान देने लायक है कि इन पत्रों के बारे में जानते हुए भी सीपीआई ने चुप्पी साध रखी थी। केवल पार्टी विभाजन के दौरान ही, सीपीआई(एम) के नेताओं ने डांगे के इन पत्रों के बारे में सार्वजनिक चर्चा की थी (करेंट– नामक अंग्रेजी पत्रिका ने अपने 7.3.1964 के अंक में इन्हें प्रकाशित किया था)। लेकिन डांगे ने इन पत्रों को फर्जी करार दिया था। इसमें कोई संदेह नहीं है कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी कम्युनिस्टों को बदनाम करने के लिए किसी भी हद तक जा सकते हैं। परंतु इन फर्जी पत्रों को गुप्त रूप से अपनी फाइलों में रखे रहने का कोई अर्थ नहीं हो सकता। इसलिए डांगे कथन कुछ नहीं बस साफ झूठ है। विडंबनीय तो यह है कि सीपीआई (एम) के नेता मुजफ्फर अहमद ने जिन्होंने इस बात को लेकर डांगे पर हमला बोला था, स्वयं ही अपने द्वारा की गई गलतियाों को स्वीकृत करते हुए और अन्य सभी वितरणों को देते हुए लिखित बयान दिया था।

कानपुर षडयंत्र केस देश पर कोई गंभीर प्रभाव नहीं छोड़ सका। कम्युनिस्टों के लिए कोई खास सहानुभूति की लहर मौजूद नहीं थी। कुछ भी हो, कानपुर षडयंत्र केस ने तेजी से गति पकड़ते हुए कम्युनिस्ट आंदोलन को काफी कमजोर कर दिया था।

कोमिंटर्न की पांचवी कांग्रेस

''21 जनवरी 1924 को लेनिन की मृत्यु, खासतौर से ऐसे समय में जब रूसी क्रांति और विश्व क्रांति, दोनों ही नाजुक हालात में थे, विश्व सर्वहारा के लिए एक भारी क्षति थी। बहरहाल, एक अन्य महान सर्वहारा नेता स्टालिन, लेनिन के सर्वोत्तम अनुसरणकर्ता के नेतृत्व और निर्देश में सी.पी.एस.यू. और कोमिंटर्न आगे आने वाली चुनौतियों की सामना करने के लिए तैयार थी। त्रात्स्कीपंथी गुट ने, जिसने लेनिन की बीमारी के दौरान लेनिनवादी रास्ते पर हमले का अभियाान चलाया था, अब अपने विदेशी सहयोगियों के साथ लेनिनवादी क्रांतिकारी कार्य दिशा को ध्वस्त करने का अपना प्रयास दोगुना कर दिया था। द्वितीय और ढाई इंटरनेशनलवादियों और मजदूर आंदोलन के भीतर के बुर्जुआ समर्थकों (अपोलोजिस्ट) ने अपनी ध्वंसात्मक गतिविधियों के लिए आपस में हाथ मिला लिया था। स्वयं कोमिटर्न के भीतर, मजदूर वर्ग के युद्ध बाद क्रांतिकारी उफान की पराजयों के बाद दक्षिण आर वाम दोनों ही विच्युतियां सर उठाने लगी थीं। दूसरे छोर पर पूंजीवाद तात्कालिक रूप से ही सही, आर्थिक और राजनीतिक स्थिरता की तरफ बढ़ता ही जा रहा था।''

''इन हालातों की पृष्ठभूमि में 17 जून से 8 जुलाई 1924 तक कोमिंटर्न की पांचवी कांग्रेस आयोजित हुई। लेनिन की अनुपस्थिति में आयोजित होने वाली यह पहली कांग्रेस थी। कांग्रेस ने दृढ़ निश्चय के साथ दक्षिण और वाम दोनों ही विच्युतियों को पराजित करते हुए लेनिनवादी क्रांतिकारी कार्यदिशा की रक्षा करने की बीड़ा उठाया था। इसने पूंजीवाद की आंशिक स्थिरता को व्याख्यायित किया, (गो कि वाक्य खंड आंशिक स्थिरता का चलन 1925

में शुरू हुआ था)। कांग्रेस ने, तीसरी कांग्रेस में दिया गया नारा जनता को दृढ़ता के साथ आगे बढ़ाने का संकल्प लिया। यह मजदूर वर्ग की एकता के जरिए पूंजीवाद के विरुद्ध युद्ध चलाने की राजनीति को जारी रखने का निर्णय लिया गया।''

''मजदूर मोर्चे के व्यवहारिक निर्माण के दौरान सिर उठाने वाली दक्षिण और वाम अवसरवादी विचलनों को ध्यान में रखने (की आवश्यकता) ने उन देशों में, जहां सामाजिक जनवादी मजबूत हैं, मोर्चे के लिए आधार तय कर दिया थाः निचले स्तर पर कतारों के बीच एकता और साथ ही नेताओं के बीच वार्ता– न कि मात्र नेतृत्व के बीच सहमति, को मोर्चे का आधार होना चाहिए। संयुक्त मोर्चे के भीतर कम्युनिस्ट पार्टियों को अपनी स्वतंत्रता और अपना कम्युनिस्ट अस्तित्व दृढ़तापूर्वक बनाये रखना आवश्यक है।''

''इसने कम्युनिस्ट पार्टियों के बोल्शेविकीकरण पर जोर दिया अर्थात इसने कम्युनिस्ट पार्टियों को लेनिन द्वारा गढ़ी गई नई पार्टी के सिद्धांतों के अनुसार विकसित करने पर बल दिया।''

''लेनिन द्वारा अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन में सैद्धांतिक रूप से राजनीतिक रूप से और सांगठनिक रूप से दिये गये अमूल्य और भारी योगदानों को देखते हुए, कांग्रेस ने पहली बार मार्क्सवाद–लेनिनवाद शब्दों का प्रयोग किया।''

''राय और मोहम्मद अली ने मताधिकार के साथ और क्लीमेंस दत्त (आर.सी.दत्त के भाई) ने सुझावात्मक मत के साथ, भारत के प्रतिनिधियों के रूप में कांग्रेस में शिरकत की थी। कांग्रेस के बाद इन तीनों ने भाकपा (सीपीआई) के विदेश स्थित ब्यूरो के रूप में किया था।''

कांग्रेस द्वारा अंगीकृत इ.सी.सी.आई. की रिपोर्ट राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्न पर यह कहा थाः

''17. राष्ट्रीय प्रश्न पर, कार्यकारिणी ने अनेक अवसरों पर उन कई विभागों को, जिनके लिए यह प्रश्न सर्वाधिक महत्व का था, स्मरण दिलाया था कि वे द्वितीय कांग्रेस के निर्णयों को संतोषजनक रूप से लागू नहीं कर रहे हैं।''

''18. किसानों ओर उत्पीड़ित राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों का समर्थन हासिसल करने के साथ (इ.सी.सी.आई.) ने औपनिवेशिक जनों की और पूर्व के समस्त जनों की मुक्ति के चलने वाले क्रांतिकारी आंदोलनों को अपने पक्ष में जीतने की आवश्यकता पर बल दिया था कि उन्हें पूंजीवादी देशों के क्रांतिकारी सहयोगी बनाया जा सके। इसके लिए न केवल कार्यकारिणी और पूर्व के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के बीच सीधे संबंध को विस्तारित करने की बल्कि साम्राज्यवादी देशों के वर्गों और उन देशों के प्रभाव क्षेत्र के अधीन उपनिवेशों के बीच भी अति घनिष्ठ संबंध की जरूरत है।''

ई.सी.सी.आई. और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के आपसी संबंध की और आगे बढ़ाने के मुद्दे पर राय ने एक संशोधन का प्रस्ताव रखा। कांग्रेस ने अपने उसी पुरानी दलील को जारी रखा था, जो काफी बहस मुबाहिसे के बाद द्वितीय कांग्रेस में तिरस्कृत हो गई थी कि कोमिंटर्न को उन आंदोलनों के मात्र क्रांतिकारी प्रवर्गों के साथ संबंध बनाना चाहिए। राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन को उसकी सम्पूर्णता में मदद करने की साथ ही उन आंदोलनों में शामिल विभिन्न उपवर्गों की और उनके द्वारा निभाये जानी वाली भूमिकाओं की बारीक समझ बनाये रखने की लेनिनवादी नीति पर खुद को टिकाए हुए, कांग्रेस ने राय के संशोधन को तिरस्कृत कर दिया।''

इ.सी.सी.आई. की पांचवी पूर्ण बैठक (प्लेनम)

18 मार्च को 14 अप्रैल 1925 तक चली पूर्ण बैठक ने, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसस के प्रति अपनी अवस्थिति (स्टैंड) को स्पष्ट किया। राय की, जो औपनिवेशिक कमीशन के सचिव थे, रिपोर्ट को आधार बनाते हुए प्लेनम ने भारतीय कम्युनिस्टों के कार्यभारों को निम्नतः व्यक्त कियाः

1. एक व्यापक जनाधारित पार्टी का निर्माण जो पूर्ण स्वतंत्रता की मांग करती हो और जिसके पास एक सामंतवादी विरोधी जनवादी कार्यक्रम भी हो।

2. एक साम्राज्यवादी विरोधी गुट (ब्लाक) स्थापित करना।

3. अखिल भारतीय स्तर पर मजदूरों के जनसंगठनों और किसान संगठनों को स्थापित करना।

कांग्रेस के एक हिस्से के रूप में जनता की पार्टी गठन करने का राय का प्रयासस, कानपुर षडयंत्र केस के अंतर्गत हुई गिरफ्तारियों के फलस्वरूप असफल हो गया था। 1925 के बाद मजदूरों और किसानों की पार्टियां बना ली गई थीं और उन्होंने कार्य करना शुरू कर दिया था। इन पार्टियों ने कुछ हद तक कांग्रेस के वाम पक्ष और निम्न बुर्जुआ समूहों को संगठित करने में मदद पहुंचाई थी। परंतु मजदूर किसान पार्टी (डब्ल्यू. पी.सी.) की सफलता तो ऊपर बताये गये तीसरे कार्यभार पर निर्भर करती थी।

दूसरे कार्यभार ने यह स्पष्ट कर दिया था कि साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष को कांग्रेस आंदोलन के हिस्से के रूप में ही सीमित नहीं किया जा सकता था। अपितु यह याद रखना जरूरी था कि संयुक्त मोर्चा बनाने के इन प्रयासों की सफलता मुख्यतः कम्युनिस्ट पार्टी की मजबूती और उसके प्रयास पर निर्भर थी। केवल कम्युनिस्ट पार्टी ही विशाल जनसमूहों को नेतृत्व प्रदान करते हुए ऐसे किसी संयुक्त मोर्चे का निर्माण कर सकती है। जैसा कि लेनिन द्वारा बार–बार कहा गया था और कोमिंटर्न की थीसिस में घोषित किया गया था, केवल किसानों को क्रांतिकारी कृषि कार्यक्रम के साथ मजबूती के साथ खड़ा करके ही पिछड़े देशों की मजदूर वर्गीय पार्टियों की मजबूती प्रदान की जा सकती है।

परंतु राय कार्रवाई ने एक भिन्न रास्ता अख्तियार किया। वे इस तथ्य को समझने में असमर्थ रहे थे कि कांग्रेसी नेतृत्व धड़ों का आपसी संघर्ष मूल प्रकृति का नहीं है। वे महसूस करते थे कि विशाल किसान समुदाय अन्य उत्पीड़ित समुदायों के नेता के रूप में खुद को स्थापित किए बिना ही मजदूर वर्ग, स्वतंत्रता आंदोलन में अपनाा प्रभुत्व स्थापित कर सकता है। राय उम्मीद करते थे कि गांधीवाद अपनी मौत मर जायेगा और स्वराज पार्टी बिखर जायेगी अतः वे सोचते थे कि मजदूर किसान पार्टियां एवं अन्य जनपार्टियों की स्थापना के जरिए वे राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व हथियाने में कामयाब हो जायेंगे। इस अवास्तविक अनुमानों के कारण और बिना किसी ताकत के संयुक्त मोर्चे का नेतृत्व प्राप्त कर लेने के प्रयास की वजह से, उनकी सारी रणकुशलता उसी तरह असफल हो गई जैसे जमीन छोड़ हवा में लड़ने वाले धराशाई हो जाते हैं।

कानपुर कम्युनिस्ट सम्मेलन

पहला कम्युनिस्ट सम्मेलन, जिसमें भारत में कार्य करने वाले लगभग सभी कम्युनिस्ट समूह शामिल हुए थे, 26–28 दिसंबर के दौरान, कानपुर में आयोजित हुआ था। रोचक बात यह है कि सम्मेलन जिसमें भारत की कम्युनिस्ट पार्टी सीपीआई का गठन हुआ था, किसी महत्वपूर्ण कम्युनिस्ट द्वारा आयोजित नहीं था। इस सम्मेलन का आयोजन, एक भूतपूर्व राष्ट्रीय क्रांतिकारी उत्तर प्रदेश के सत्यभक्त द्वारा किया गया था। असहयोग आंदोलन की वापसी के बाद, वे कम्युनिस्ट आंदोलन की तरफ आकर्षित हुए थे। कहा था कि आरोपियों का अपराध

यह नहीं है कि वे कम्युनिस्ट हैं, बल्कि सरकार को उखाड़ फेंकने का षडयंत्र रचना है। सरकारी वकील के इस बयान के आधार पर सत्यभक्त ने यह सोचा था कि कोमिंटर्न या रूस के बोल्शेविज्म से कोई संबंध रखे बिना भी, भारत में कम्युनिस्ट पार्टी का निर्माण किया जा सकता है। 1924 में उन्होंने यह घोषणा कर डाली कि उन्होंने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (आईसीपी) का गठन कर लिया है। उन्होंने सभी कम्युनिस्ट समूहों को आमंत्रण भेजते हुए कानपुर सम्मेलन का आयोजन कर दिया। डांगे भी सरकारी वकील के उसी बयान के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि अखिल भारतीय स्तर पर भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी कानूनी तौर पर गठित की जा सकती है। डांगे ने, जो उस समय जेल में थे, अपने सहयोगियों के जरिये इस सम्मेलन का समर्थन भेजा था।

कोमिंटर्न की द्वितीय कांग्रेस में अंगीकृत लेनिन की थीसिस कोमिंटर्न के मूलभूत कार्यभार गुप्त पार्टी की स्थापना के संबंध में कहते हैं–

सभी देशों, जैसे स्वतंत्र जनवादी देश, संवैधानिक गणतंत्र और देश जिनमें क्रांतिकारी संघर्ष अभी प्राथमिक स्तर पर है कि कम्युनिस्ट पार्टियों को कानूनी और गैर कानूनी दोनों प्रकार के संगठन व्यवस्थित रूप से, योजनाबाद्ध तरीके से बनाने चाहिए जो एक दूसरे की उचित तरीके से मदद करते हों। क्योंकि विकसित स्वतंत्र जनवादी देशों में, जहां बुर्जुआ संविधान दृढ़ता के साथ स्थापित कर लिया गया हो, सरकार स्वतंत्रता और समानता के झूठे वादे करने के साथ, कम्युनिस्टों की गुप्त सूचियां बनाना, प्रतिक्रियावादी श्वते गार्डों को गुप्त रूप से और संविधान को धता बताते हुए खुले रूप से भी मदद करना, कम्युनिस्टों की मौत के घाट उतारना और कम्युनिस्टों की गिरफ्तारी के लिए गुप्त सूची तैयार करना और कम्युनिस्ट समूहों के बीव विध्वंसक को घुसाना शुरू कर देती है। केवल क्रांतिविरोधी चरित्र वाले निम्न बुर्जुआ ही इस तथ्य की अवहेलना कर सकते हैं। केवल वही, उस परिस्थिति का मुकाबला करने के लिए जब बुर्जुआ, पार्टी पर खुले रूप से सार्वजनिक तौर पर आक्रमण करने लगें, गुप्त संगठनों के निर्माण की आवश्यकता से इंकार कर सकता है।

लेनिन ने कहा था कि यह भी अनिवार्य है कि बिना किसी सीमा के, कानूनी के साथ–साथ गैर–कानूनी गतिविधियां चलाने के लिए, विभिन्न नामों वाले कानूनी संगठनों को स्थापित करने के लिए और आवश्यकता पड़ने पर इनके नामों को बदल डालने के लिए तैयार रहा जाये।

यह देखना आश्चर्यजनक है कि जब, कम्युनिस्ट समूहों का पूरी तरह कानूनवाद में डूबकर काम करना स्पष्ट दिखाई दे रहा था, डांगे कानूनी रूप से कम्युनिस्ट सम्मेलन का आयोजन करने के निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं। यह देखा जा सकता है कि गुप्त पार्टी की स्थापना करने के प्रति अनिच्छा, कानूनवाद के प्रति संवैधानिकता को बनाये रखने की अकुलाहट सीपीआई में शुरुआत से ही मौजूद रही है।

देश के विभिन्न हिस्सों से 300 प्रतिनिधियों ने सम्मेलन में शिरकत की। पार्टी के नाम का सवाल, कि इसे कम्युनिस्ट पार्टी आफ इंडिया (सीपीआई) कहा जाय इंडियन कम्युनिस्ट पार्टी (आईसीपी) कहा जाये उठ खड़ा हुआ था। सत्यभक्त सोचते थे कि सीपीआई नाम कोमिंटर्न और बोल्शेविज्म के नजदीक पड़ेगा और इसलिए पार्टी के कानूनी चरित्र पर बुरा प्रभाव डालेगा। उन्होंने तर्क दिया कि राष्ट्रवाद को महत्व देते हुए पार्टी का नाम आईसीपी होना चाहिए। यद्यपि कि वे सम्मेलन के आयोजक थे, परंतु इस अंगीकार कर लिया गया। सम्मेलन समाप्त होने के महज चार दिन के भीतर ही, सत्यभक्त ने अपनी स्वयं की ''राष्ट्रीय कम्युनिस्ट पार्टी'' (एनससीपी) का गठन कर लिया।

सम्मेलन में पारित पार्टी विधान उस समय की कम्युनिस्ट पार्टी की अपरिपक्वता को स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं।

उद्देश्य :

देश को ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मुक्त कराना और सामाजिक उत्पादन तथा वितरण पर आधारित मजदूरों और किसानों का गणतंत्र स्थापित करना हैं (न कि साम्यवाद (कम्युनिज्म) या वर्गविहीन समाज की स्थापना करना) **डेलिगेट्स** प्रतिनिधि कोई भी मजदूर या किसान पार्टी की वार्षिक कांग्रेस में भाग ले सकता है।

सिंगारवेलु चेट्टियार ने अपने उद्घाटन भाषण में कहा कि बोल्शेविज्म और भारतीय कम्युनिज्म में अंतर है– ''... भारतीय कम्युनिज्म, बोल्शेविज्म नहीं है क्योंकि बोल्शेविज्म कम्युनिज्म का एक रूप है जो रूसी है और उस देश में अंगीकृत है। हम रूसी बोल्शेविक नहीं हैं और बोल्शेविज्म की भारत में आवश्यकता नहीं है... बोल्शेविक एक राजनीतिक पार्टी हैं जो यस में सत्ता पर काबिज है, ये मेंशेविकों के, अल्पसंख्यक पार्टी के विपरीत हैं, जो अब सत्ता से बाहर हो चुके हैं। हम विश्व के कम्युनिस्टों के साथ एक हैं, लेकिन बोल्शेविकों के साथ नहीं।''

सिंगारवेलु चेट्टियार को अध्यक्ष, जे.पी.भागेस्ता तथा एस.वी. घाटे को महासचिव चुन लिया गया (यह पता चल जाने पर कि वह एक पुलिस एजेंट है, भागेस्ता को पार्टी से निष्काषित कर दिया गया। यह तय किया गया कि कृष्णास्वामी अयंगर मद्रास के लिए, सत्यभक्त कानपुर के लिए, मुजफ्फर अहमद कलकत्ता के लिए, एस.डी.हसन लाहौर के लिए संगठनकर्ता के रूप में काम करेंगे।

28 दिसंबर को केन्द्रीय कमेटी सी.ई.सी. की बैठक हुई, सी.ई.सी. जोगेल्कर, घाटे, निम्बाकर, अहमद, अब्दुल मजीद, भागेस्ता और अयंगर को लेकर गठित थी। इसस कार्यकारिणी समिति कानपुर सम्मेलन में चुनी गई थी और यह 1925–29 के दौरान पार्टी के निर्माण और आंदोलन के लिए काम करती रही थी। सभी कर्मियों के बावजूद, सभी समूहों की एक पार्टी का बनना और एक केन्द्रीय कमेटी की स्थापना, कानपुर सम्मेलन की प्राप्ति कही जायेगी।

मुख्य कमजोरियां :

1. सम्मेलन में कम्युनिस्ट आंदोलन में उपस्थित राष्ट्रीय प्रवृत्ति उजागर हुई। कांफ्रेन्स ने उद्घाटित कर दिया कि सीपीआई के अगुवा मजदूर वर्ग की दृष्टि के साथ, स्वतंत्रता आंदोलन में भागीदारी करने के बजाय, खुद को स्वतंत्रता आंदोलन का वाम पक्ष मानते हैं।
2. संविधान के दायरे में काम करने की नीति स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई।
3. राजनीतिक और सांगठनिक दोनों रूप से परिपक्वता में कमी।
4. पार्टी की संवैधानिकता को सुरक्षित रखने के लिए अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन से खुद को सम्बद्ध करने की अनिच्छा ।

अविभाजित सीपीआई यह मानती थी कि पार्टी की आधारशिला कानपुर सम्मेलन में रखी गई थी जबकि सीपीआई (मार्क्सवादी) 1920 में ताशकंद में गठित पार्टी को मान्य करती है। प्रवासी क्रांतिकारियों की एक छोटी संख्या द्वारा ताशकंद में गठित पार्टी का अपना देश के साथ कोई जीवंत सम्पर्क नहीं था और बहुत कम समय में ही, अपने अंदरूनी झगड़ों की वजह से इसका अस्तित्व ही नहीं रहा था। फिर भी कोमिंटर्न 1920–25 की अपधि के दौरान

सीपीआई के नाम पर, आप्रवासी भारतीय क्रांतिकारियों की मदद से राय और अन्य द्वारा भारत में कम्युनिस्ट पार्टी निर्माण के प्रयासों पर ठीक तरीके से विचार करती रही थी।

संक्षिप्त सारांश :

भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के औपनिवेशिक शासन तथा पुराने पड़ चुके सामंती संबंधों के विरुद्ध राष्ट्रीय जनवादी आंदोलन के बढ़ते हुए जनज्वार की पृष्ठभूमि में शुरू हुआ था। भारतीय मजदूर वर्ग की हिरावल–भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना के लिए जमीन, युद्ध बाद महान अक्टूबर सोवियत क्रांति के प्रबल प्रभाव के अधीन, मजदूर वर्ग के संघर्षों में आगे बढ़ते उफान की पृष्ठभूमि में तैयार हुई थी।

कोमिंटर्न की दूसरी कांग्रेस का खास तौर से उपनिवेशों में कम्युनिस्ट आंदोलन के निर्माण की दृष्टि से भारी महत्व था। यही वह कांग्रेस थी जिसमें उपनिवेशों के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों की मूलभूत मार्क्सवादी–लेनिनवादी समझ और रणनीतियों को सूत्रबद्ध किया गया था। कोमिंटर्न ने अपनी इस अवस्थिति को स्पष्ट तौर पर सामने रखा था। उपनिवेशों की कम्युनिस्ट पार्टियों को अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखते हुए इन देशों के मुक्ति संघर्षों में भागीदारी करनी चाहिए तथा इनकी मदद करनी चाहिए। साथ ही कोमिंटर्न ने इन देशों के राष्ट्रीय बुर्जुआ की ढुलमुल प्रवृत्ति को भी पहचाना था और इस तरह से लेनिन की थीसिस ने स्पष्ट रूप से यह कहा था कि बुर्जुआ के साथ मिलकर राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों में भागीदारी करने के साथ ही मजदूरों को किसानों और अन्य उत्पीड़ित जनों के नेता के रूप में उठकर सामने आना चाहिए और इन आंदोलनों पर अपना नेतृत्व स्थापित करना चाहिए।

लेनिन की थीसिस के साथ राय के मतभेद बुनियादी प्रकृति के हैं। राय ने इस बात की वकालत की थी कि मजदूर वर्ग के आंदोलन को उपनिवेशों के राष्ट्रीय बुर्जुआ के साथ कोई संबंध नहीं रखना चाहिए और इसे मजदूरों तथा किसानों के स्वतंत्र आंदोलनों को ही समर्थन और मदद देना चाहिए।

सीपीआई को स्थापना करने के पहला प्रयास विदेशों में रहने वाले राष्ट्रीय क्रांतिकारियों द्वारा किया गया था। वे अक्टूबर क्रांति के पश्चात रूस की मदद से अपने देश की स्वतंत्रता हासिल करने की आशा करते थे और इस प्रक्रिया में, वे कम्युनिज्म की तरफ आकर्षित हुए थे। इस प्रकार प्रवासी भारतीय क्रांतिकारियों ने 1920 में रूस के ताशकंद में सीपीआई का गठन कर लिया था। रूस में इस तरह से गठित पार्टी को, जिसका भारत के मजदूर वर्गीय आंदोलन और क्रांतिकारी आंदोलन से कोई जीवंत संपर्क नहीं था, कोमिंटर्न की मान्यता हासिल नहीं थी। प्रवासी क्रांतिकारियों, विशेष रूप से राय द्वारा नामाई जाने वाली सक्रिय भूमिका के जरिए सीपीआई के निर्माण के लिए अपपने प्रयास जारी रखे थे।

इसी बीच, भारत में विभिन्न कम्युनिस्ट समूहों ने मजदूर वर्गीय आंदोलन में अपना काम शुरू कर दिया था। राय ने इन समूहों के साथ संबंध स्थापित करके कम्युनिस्ट आंदोलन को निर्मित करने के प्रयास किए थे। राय ने यह समझने में, कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का विभाजन मूल प्रकृति का है, भूल कर दी थी और इसलिए वह यह भी नहीं समझ पाये थे कि एक मजबूत और जनाधारित कम्युनिस्ट पार्टी के बिना राष्ट्रीय आंदोलन पर सर्वहारा का नेतृत्व स्थापित कर पाना संभव नहीं है। इस तरह से शुरू से ही एक कृषि क्रांति के कार्यक्रम पर ध्यान केन्द्रित नहीं किया जा सका था।

उस समय सभी कम्युनिस्ट समूहों को एक एकीकृत पार्टी में, एकबद्ध कर पाने का प्रयास असफल हो गया था। इसके अलावा कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण से पहले ही, ब्रिटिश सरकार ने कम्युनिस्ट विरोधी दमन अभियान शुरू कर दिया था। जब पेशावन षडयंत्र केस

समाप्त होने को था इसने कम्युनिस्ट समूहों और ट्रेड यूनियन संघर्षों पर झपट्टा मारा और कानपुर षड़यंत्र केस मढ़ लिया। उस समय कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण के लिए यह एक बड़ा धक्का सिद्ध हुआ।

1925 में, कानपुर में आयोजित पहले अखिल भारतीय कम्युनिस्ट सम्मेलन में, जिसमें भारत के सभी कम्युनिस्ट समूहों ने भाग लिया था, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी सीपीआई का गठन कर लिया गया। चूंकि इस सम्मेलन में चुनी गई सीईसी द्वारा भारत में कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण के लिए बुनियाद रखने का काम किया था, इसलिए यह मानना पूर्णतः सही था कि यह सम्मेलन सीपीआई की बुनियादी रखने वाला सम्मेलन था। परंतु खुद सम्मेलन में ही, वाम राष्ट्रवाद और कानून सम्मतवाद प्रकट हो गया था और सम्मेलन ने संवैधानिकता की रक्षा का बहाना लेते हुए खुद को कोमिंटर्न से संबंधित न करने का निर्णय ले लिया था। बाद में चल कर इन कमजोरियों ने अपनी जड़ें और भी मजबूत कर ली थीं।

कम्युनिस्ट पार्टी के स्थापित होने के समय तक, राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने वाले नौजवान, गांधी द्वारा असहयोग आंदोलन से विश्वासघात से भ्रममुक्त हो चले थे और सशस्त्र संघर्ष को वैकल्पिक राह तलाशने लगे थे और भारत के राजनीतिक ताकत बनकर उभर आया था। इस मोड़ पर स्थापित कम्युनिस्ट पार्टी के सामने, किसानों एवं अन्य उत्पीड़ित जनों के निर्विवाद नेतृत्व के रूप में सामने आने और राष्ट्रीय आंदोलन में मजदूर वर्ग का प्रभुत्व कायम करने जरिये, जनवादी क्रांति को संपन्न करने का ऐतिहासिक कार्यभारन मौजूद था और इस कार्य को पूरा कर सकने की ऐतिहासिक संभावना भी मौजूद थी।

****

1929 में जब मेरठ षडयंत्र केस में गिरफ्तारियां हो रही थीं, भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन आगे बढ़ रहा था। लाल झंडा (रेड फ्लैग) ट्रेड यूनियनों का निर्माण जोरों पर था। मजदूर वर्ग क स्वतः स्फूर्त आंदोलनों ने मजदूर वर्गीय संघर्षों में अपना योगदान दे रहे थे। ऐटक के भीतर कम्युनिस्टों के प्रभाव में एक लघु वाम समूह बन चुका था। किसानों और मजदूरों की पार्टियों ने, जो 1925 से ही बनने लगी थीं, कम्युनिस्टों को खुले सार्वजनिक रूप में काम करने का सुअवसर प्रदान किया था। लेकिन सीपीआई के प्रयास मात्र से ट्रेड यूनियन आंदोलन और कांग्रेस के भीतर वाम पक्ष को मजबूती प्रदान करने तक सीमित थे। किसानों को जो औपनिवेशिक देशों में क्रांति की मुख्य ताकत होती है, एकजुट करने का कोई प्रयास शुरू नहीं किया गया था। कृषि क्रांति के कार्यक्रम के आधार पर किसानों की विशाल जनसमूह के नेता बनकर आगे आने के लिए भी कोई प्रयास शुरू नहीं किया गया। दरअसल इस दिशामें कुछ भी नहीं किया गया।

1925 में गांधी और चितरंजन दास के बीच समझौता हो गया था और कांग्रेस ने अपनी गुवाहाटी कांग्रेसस में परिषदों के चुनावों में भागीदारी करने का निश्चय कर लिया था। जैसा कि राय ने अपेक्षा की थी, स्वराज पार्टी में ऐसा कोई भी विभाजन नहीं हो सका जो उसे जो विनष्ट कर देता। इसने गांधी के नेतृत्व को स्वीकार कर लिया था। गांधी और मोतीलाल नेहरू ने 1928 में कम्युनिस्टों और वामपंथियों द्वारा प्रस्तुत किये गये पूर्ण स्वराज्य के प्रस्ताव का संयुक्त रूप से विरोध किया। गांधी ने भी जैसा कि नेहरु रिपोर्ट (मोतीलाल) में कहा गयाा था, ''स्वायत्तता डोमिनियन स्टेटस'' की मांग पेश की। परंतु भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारियों, खास करके भगतसिंह और साथियों की गतिवधियों ने और कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा पूर्ण स्वतंत्रता के लिए लगातार प्रचार ने, कांग्रेस के भीतर वाम धड़े को मजबूत बनाने

में मदद दी थी। इसी समय, दलाल पूंजीपति वाम धड़े का नियंत्रण अपने हथियाने का प्रयास कर रहा था। 1927 में मद्रास ए.आई.सी.सी. सत्र में कम्युनिस्टों की पहल पर पेश किए गये पूर्ण स्वतंत्रता के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। लेकिन जवाहर लाल नेहरु द्वारा किये गये संशोधन ''पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति कांग्रेस का उद्देश्य होगा'' ने उक्त प्रस्ताव से पीछे हटने का मौका पैदा कर दिया। (गांधी मद्रास सत्र में शामिल नहीं हुए थे)। 1928 में कलकत्ता कांग्रेस ने डोमिनियन स्टेटस की मांग का प्रस्ताव पारित कर दिया और इसके लिए एक वर्ष का समय (डेडलाइन) निर्धारित कर दिया, जिसके व्यतीत हो जाने पर यह घोषणा की गई थी कि पूर्ण स्वतंत्रता के लिए देशव्यापी सिविल नाफरमानी आंदोलन शुरू कर दिया जायेगा।

इस बीच 1927 में स्वतंत्रता आंदोलन के सभी घटकों ने ब्रिटिश सरकार द्वारा गठित साइमन कमीशन के विरोध में प्रदर्शन शुरू कर दिये थे। साइमन कमीशन का बहिष्कार 1928 के एक बड़े आंदोलन के रूप में आया था। साइमन कमीशन के विरुद्ध 1928 के आंदोलन में मजदूर वर्ग ने, मजदूर किसान पार्टियों (डब्ल्यू.पी.पी.) के नेतृत्व में, बम्बई और कलकत्ता में व्यापक संघर्ष छेड़ दिया था। साइमन कमीशन विरोधी आंदोलन ने स्वतंत्रता आंदोलन के पुनरुत्थान को त्वरित कर दिया। सरकार ने ट्रेड यूनियन एक्ट 1926 जैसे काले कानूनों की मदद से आंदोलन को दबाने की कोशिश की। इन कानूनों के जरिये सरकार ने मजदूर पार्टियों; कम्युनिस्टों और कामगारों पर आक्रमण करने के लिए खुद को तैयार कर लिया था। किसान मजदूर पार्टियों और वाम गुटों द्वारा राष्ट्रीय आंदोलन में वााम पक्ष धड़े के सुसंगठित और मजबूत हो जाने से ब्रिटिश सरकाार में भय व्याप्त हो गया था।

कम्युनिस्टों के नेतृत्व में 1928 की कपड़ा मिल मजदूरों की हड़ताल ने औपनिवेशिक शासकों को हिला दिया था। वे पटेल के नेतृत्व में गुजरात के किसान आंदोलन के कम्युनिस्टों के हाथों में चले जाने की संभावना से घबरा उठे थे। मात्र इसी कारण से सरकार भूमिकर घटाने को राजी हो गई। औपनिवेशिक शासकों ने ठीक ही समझाया था कि किसानों का समर्थन पाकर कम्युनिस्ट पार्टी एक अजेय शक्ति बन जायेगी। दुर्भाग्य यह है कि कम्युनिस्ट पार्टी, इस वास्तविकता को ठीक ढंग से समझने में असमर्थ रही।

सीपीआई की जनरल मीटिंगः

सीपीआई की सामान्य सभा की बैठक 29 मई से 31 मई तक बंबई में आयोजित हुई। एस.वी. घाटे पुनः महासचिव चुन लिये गये।

1. कोमिंटर्न से संबंद्धता के बारे में कोई फैसला नहीं लिया गया (नेतृत्व पार्टी को कानूनी रूप से संचालित करना चाहता था। उन्हें भारी भ्रम था कि कोमिंटर्न के साथ संबद्धता न होने से पार्टी अपनी संवैधानिकता का बचाव कर सकेगी)

2. सभी पार्टियों को, कांग्रेस की सदस्यता भी ग्रहण कर लेनी चाहिए थी।

3. न्यूनतम कार्यक्रम (क) पूर्ण स्वतत्रंता (ख) वयस्क मताधिकार पर आधारित गणतंत्र की स्थापना (ग) सामंतवाद का उन्मूलन (घ) सार्वजनिक सेवाओं का राष्ट्रीयकरण (ड़) ऐटक में वाम पक्ष का निर्माण (च) आठ घंटों का कार्य दिवस, न्यूनतम मजदूरी आदि (छ) मजदूर और किसान पार्टी का अखिल भारतीय सम्मेलन।

4. राय एवं अन्य प्रवासी भारतीय सीपीआई के विदेश ब्यूरो के तौर पर कार्य करेंगे।

केन्द्रीय कमेटी (सीईसी) के सदस्यों के नामों और उनके संबोधनों सहित सामान्य सभा की बैठक की विस्तृत रिपोर्ट; प्रेस को जारी कर दी गई।

सीईसी के निम्न सदस्य थे–

घाटे, डांगे, मुजफ्फर अहमद, गौर रहमान (लाहौर), सिंगारवेलु, के.एम.अयंगर, जोगलेकर, एम.ए.माजिद, निम्बाकर, ए.हकीम, सौम्येन्द्रनाथ टैगोर।

सामान्य अखबार/पत्रिकायेंः गणवाणी (बंगाली) मेहतनकश (उर्दू) क्रांति (मराठी)। कम्युनिस्ट पार्टी का अपना कोई मुखपत्र नहीं था। ये सभी मजदूरों और किसानों की पार्टियों के पत्र थे। कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने किसी पत्र की जरूरत नहीं महसूस की थी। यह स्पष्ट दर्शाता है कि सीपीआई की मंशा पार्टी को मात्र कानूनी पार्टी की तरह संचालित करने की थी। कोमिंटर्न द्वारा लगातार सुझाव देने के बावजूद, सीपीआई भूमिगत पार्टी की जरूरत को समझने में असफल रही। न तो 1924 की कानपुर गिरफ्तारियां और और न ब्रिटिश सरकार के काले कानूनों और निरोधक अधिनियम ही पार्टी को अपनी गतिविधियां गुप्त रूप से संचालित करने की आवश्यकता महसूस करवा सके। सीपीआई की इस प्रवृत्ति के लिए कुछ हद तक स्प्रैट और ब्रैड्ले भी जिम्मेवार थे। (स्प्रैट और ब्रैड्ले, घाटे, अहमद, जोगेलकर के साथ, सर्वोच्च नेतृत्व के रूप में कार्यरत थे)।

श्रमिक वर्ग आंदोलन

कोमिंटर्न के कम्युनिस्ट पार्टी और श्रमिकों के वर्ग आंदोलन के निर्माण के लिए अपने प्रयास जारी रखे थे। ट्रेड यूनियन आंदोलन के निर्माण में मदद करने के लिए कोमिंटर्न ने ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी (सीपीसी) के जार्ज एलीसन, फिलिप स्प्रैट, हैचिंसन और बेंजामिन एक बैडले के भेजा था।

खान मजदूरों के लोकप्रिय नेता, एलीसन ने डोनाल्ड कैम्पबेल नाम धारण करके, भारत में अप्रैल 1926 में आ पहुंचे थे और कार्य कर रहे थे। परंतु जनवरी 1927 में पुलिस ने उनको गिरफ्तार कर लिया और यरवदा जेल में 15 महीनों की बामशक्कत जेल के बाद वापस ब्रिटेन भेज दिया।

नौजवान ब्रिटिश कम्युनिस्ट फिलिप स्प्रैट जनवरी 1927 में भारत पहुंचा। उसी साल, सितंबर महीने में ब्रैडले भी भारत आ पहुंचे। दोनों ने सीपीआई का निर्देशन शुरू कर दिया। जिस समय फिलिप स्प्रैट भारत में पहुंचे थे, राय चीन जा चुके थे। चीन से वापस लौटने के बाद, राय ने सीपीआई की गाइड करना शुरू कर दिया। 1927–29 की अवधि के दौरान इस वजह से कई बार काफी विभ्रम की स्थिति उत्पन्न हो जाती थी। 1929 में कोमिंटर्न से निष्कासन के पश्चात, कोमिंटर्न ने स्प्रैट और ब्रैडले के माध्यम से सीपीआई को सीधे निर्देशित करना शुरू कर दिया।

भारतीय मजदूर वर्ग पर एक तरफ से साम्राज्यवादी पूंजी के और दूसरी तरफ से देशी पूंजी के हाथों मार पड़ रही थी। मजदूर में कटौती, कार्य की तीव्रता में वृद्धि, यौक्तीकरण (रैशनाइजेशन) के नाम पर छंटनी आदि बड़े पैमाने पर पुनः शुरू कर दी गई थीं। मजदूर वर्ग ने, जो गरीबी की वजह से बरबाद हो जाने की कगार पर था, एक बड़े संघर्ष के लिए तैयार था। भारतीय मजदूर के वर्गीय आंदोलन में 1927–29 की अवधि एक महान युग थी। कम्युनिस्ट पार्टी के मजदूर वर्गीय आंदोलनों को एक शक्तिशाली मुकाम हासिल होने में इस संघर्षों ने महती भूमिका निभाई थी।

बी.एन.रेलवे मजदूरों की हड़ताल :

बी.एन.रेलवे खड़गपुर के मजदूरों ने 11 फरवरी से 10 मार्च 1927 तक चली हड़ताल में बढ़ चढ़ कर हिस्सा लिया था। 40,000 उस हड़ताल में शिरकत की थी, जो निम्न मजदूरी, यौक्तीकरण के नाम पर छंटनी आदि के विरोध में आयोजित हुई थी। शांतिपूर्ण धरना प्रदर्शन कर रहे मजदूरों पर पुलिस ने गोली वर्षा कर दी थी। सुधारवादी नेतृत्व भयभीत हो गया

और उसने यह बहाना बनाते हुए कि इससे जनता की कठिनाई हो रही थी, हड़ताल वापस ले ली।

साल के अंत में बी.एन.रेलवे के मजदूर पुनः हड़ताल पर चले गये। वे हड़ताल को व्यापक बनाने का फैलाने का प्रयास कर रहे थे। लेकिन नेतृत्व उनकी राह में आड़े आ गया था। वी.वी.गिरि और ऐटक के अन्य नेताओं ने हस्तक्षेप किया और 2000 मजदूरों की छंटनी पर सहमति के बाद हड़ताल वापस ले ली गई। 1928 में कुल मिलाकर हड़तालों और तालाबंदी की 203 घटना में सामने आई थीं। इन हड़तालों में 5,06,851 मजदूरों ने भाग लिया था और 3,16,47,404 कार्यदिवसों का नुकसान हुआ था।

बंबई के कपड़ा मजदूरों की ऐतिहासिक हड़ताल :

इस हड़ताल में जो अप्रैल 1928 में शुरू हुई थी, डेढ़ लाख मजदूरों ने भाग लिया था। मजदूर और किसान पार्टी के झंडे के पीछे, कम्युनिस्टों ने 6 महीने तक चलने वाली इस हड़ताल का नेतृत्व किया था। मजदूरों ने लाल झंडे को अपना वर्ग झंडा मान लिया था और यह उनके वर्गीय भाईचारे का प्रतीक बन गया था। (मजदूर गांधी के पास अपनी हड़ताल का समर्थन मांगने गये थे, परंतु उन्होंने यह कहकर कि मजदूर जो कर रहे हैं, वह गलत हैं, अपना समर्थन देने से इंकार कर दिया। परंतु अहमदाबाद के कारखाना मजदूरों ने उनको अपना समर्थन प्रदान किया था)। 1928 के अक्टूबर में जब यह हड़ताल समाप्त हुई थी, तब तक 80,000 सदस्यों और 6000 यूनियन कोष के साथ गिरनी कामगार यूनियन (जे के यू) संगठित हो चुकी थी। कलकत्ता में भी लाखों जूट मिल मजदूर और किसान पार्टी के लाल झंडे तले हड़ताल पर चले गये थे। एक नया लाल झंडा ट्रेड यूनियन आंदोलन पैदा हो चुका था।

ईस्ट इंडिया रेलवे मजदूरों की हड़ताल :

लिलुआ वर्कशाप के करीब 1400 मजदूरों ने मार्च 1928 में हड़ताल कर दी। मजदूर नेता के सी मित्रा ने इस वीरतापूर्ण हड़ताल को तोड़ने के लिए अपनी पूरी ताकत लगा दी थी। उसने मजदूरों द्वारा हड़ताल को लाइन तक प्रसारित कर देने के प्रयासों का प्रतिरोध किया था। दो मजदूर पुलिस की गोली सी मारे गये। अनेक घायल हो गये। लेकिन मजदूर दृढ़ निश्चय के साथ संघर्ष करते रहे। नेतृत्व द्वारा विश्वासघात करने पर जुलाई 1928 में हड़ताल समाप्त हो गई।

साउथ इंडियन रेलवे मजदूरों की हड़ताल

दक्षिण रेलवे के लगभग 17,500 मजदूरों ने, जून 28 को शुरू हुई हड़ताल में भाग लिया था। इस हड़ताल में सिंगारवेलु ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। उन्होंने रेलकर्मियों के अखिल भारतीय संघ के माध्यम से हड़ताल को देशव्यापी बनाने का प्रयास किया था। मजदूर पुलिस के कठोर दमन के विरुद्ध निर्भीकतापूर्वक संघर्ष कर रहे थे। यद्यपि यह हड़ताल सिर्फ दस दिन ही चल सकी थी, फिर भी यह एक वीरतापूर्ण उग्र हड़ताल थी। सिंगारवेलु, मुकुन्दन सरकार और डी.के. पिल्लई को दस साल के कठोर कारावास का दण्ड दिया गया। परंतु अगस्त 1930 में ही उन्हें मुक्त कर दिया गया।

ऐटक ने अपनी स्थापना के समय से ही हड़ताल का कोई आह्वान नहीं किया था। ऐटक, उन दक्षिणपंथी नेताओं के हाथों में, जो पूंजीपतियों के हितों को महत्व देते थे, एक नाममात्र का संगठन बना रहा था। तथाकथित वामपंथी नेता चितरंजन दास भी जो दो बार

ऐटक के अध्यक्ष रहे थे, ऐटक के चरित्र को बदल नहीं सके। अपेक्षाकृत अधिक दक्षिणपंथी नेता चमन लाल, एम.एन.जोशी, वी.वी.गिरि आदि ही ऐटक का नेतृत्व पर काबिज थे। कम्युनिस्ट पार्टी धीरे–धीरे ऐटक का एक छोटा सा समूह मात्र बनकर रह गई। 1927 के कानपुर 8वें सत्र में घाटे को संयुक्त सचिव चुना गया था। इस अवधियों के दौरान, ट्रेड यूनियन आंदोलन के विस्तार के साथ–साथ ऐटक में कम्युनिस्टों की ताकत बढ़ी थी।

मजदूर और किसान पार्टी

मजदूर और किसान पार्टी का अखिल भारतीय सम्मेलन, 21 दिसम्बर से 23 दिसंबर के बीच, कलकत्ता में आयोजित हुआ। सम्मेलन में उन चारों राज्यों से जहां, डब्ल्यू.पी.सी. को संगठित कर लिया गया था, प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। 1923 में ही 12 मजदरू किसान पार्टियों की स्थापना के प्रयास शुरू हो चुके थे। गया कांग्रेसस सम्मेलन के बाद राय ने अपना यह खयाल व्यक्त किया था कि कांग्रेस में एक वामपंथी गुट के निर्माण के लिए मजदूरों के नेतृत्व में एक पार्टी की जरूरत है।

लगभग इसी समय भारतीय कम्युनिस्टों ने भी कांग्रेस के भीतर मजदूरों और किसानों के हितों का प्रतिनिधित्व करने के लिए एक वामपंथी गुट बनाने का विचार किया था। डांगे ने एक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की समाजवादी श्रमिक पार्टी (सोशलिस्ट लेबर पार्टी आफ इंडियन नेशनल कांग्रेस) के बारे में घोषणा की थी। 1923 में सिंगारवेलु ने हिंदुस्तान की मजदूर किसान पार्टी (लेबर किसान पार्टी आफ हिंदुस्तान) की स्थापना की थी। (कानपुर के कम्युनिस्ट सम्मेलन में सिंगारवेलु ने अपनी पार्टी के विसर्जन की घोषणा कर दी थी।) राय ने लखनऊ में अखिल भारतीय स्तर पर मजदूर किसान पार्टी सम्मेलन आयोजित करने का प्रयास किया। परंतु तब कानपुर षडयंत्र केस के तहत हुई गिरफ्तारियों की वजह से यह प्रयास सफल नहीं हुआ।

प्रसिद्ध क्रांतिकारी कवि नजरूल इस्लाम ने 10–11–1925 को राष्ट्रीय कांग्रेस की भारतीय श्रमिक स्वराज पार्टी (लेबर स्वराज पार्टी आफ इंडिया आफ नेशनल कांग्रेस की स्थापना की घोषणा की। गांधी और अन्य राष्ट्रवादियों में अपना विश्वास खो देने के बाद काजी नजरूल इस्लाम ने अन्य लोगों की मदद से, इस पार्टी के गठन का प्रयास किया था। इस पार्टी ने 23–12–1925 से लांगल नाम से, नजरूल के मुख्य संपादकत्व में एक पत्र प्रकाशित करना शुरू किया था। 6–2–1926 से, (कम्युनिस्टों के प्रभाव में) इस पार्टी का नाम बदलकर मजदूर और किसान पार्टी कर दिया गया। 12–8–1926 से 'लांगल', 'गणवाणी' नाम से निकलने लगा। यह भारतीय भाषा में, कम्युनिस्ट पार्टी का पहला पत्र था।

1927 में बंबई मजदूरों और किसानों की पार्टी का गठन हुआ। इस पार्टी ने 'क्रांति' नाम से एक पत्र निकालना शुरू किया। 1928 में कीर्ति किसान सभा की स्थापना हुई थी। गदर पार्टी के कामरेड संतोष सिंह, सोहन सिंह जोशी और अन्यों ने पंजाब प्रांत में काम करना शुरू किया था। 1926 में संतोष सिंह क संपादकत्व में 'क्रांति' नाम से एक पत्र शुरू हुआ था। 'कीर्ति किसान सभा' का पहला सम्मेलन 12–4–28 को जालियावाला बाग में आयोजित हुआ। दूसरा सम्मेलन 20 से 30 सितंबर 1928 के बीच लायलपुर में हुआ। 'कीर्ति' (पंजाब) पार्टी का मुखपत्र था। कीर्ति उर्दू भाषा में भी निकला करता था। कुछ समय तक 'मेहनतकश' नाम से एक मजदूरों का अखबार भी प्रकाशित हुआ करता था।

उत्तर प्रदेश और दिल्ली की मजदूर और किसान पार्टी 1928 में मेरठ में स्थापित की गई। 15 और 16 अक्टूबर 1928 में आयोजित हुए सम्मेलन में पी.सी. जोशी को सचिव चुन

लिया गया था। इस पार्टी ने 17–11–1928 से 'क्रांतिकारी' नाम से एक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित करना शुरू किया था।

बाद में, पी.सी.जोशी लने मा.क.पा. (डब्ल्यू.पी.सी.) के राजनीतिक चरित्र को इस रूप में परिभाषित किया : ''मजदूरों और किसानों की पार्टी एक साम्राज्यवाद विरोधी जन पार्टी है; यह उन वर्गों की पार्टी है जिनके हित क्रांतिकारी तौर पर साम्राज्यवाद के विरुद्ध हैं। इसकी सदस्यता संबंधित ट्रेड यूनियनों, किसान संगठनों, क्रांतिकारी नौजवान संगठनों और क्रांतिकारी बुद्धिजीवियों से मिलकर निर्मित हुई है।''

मजदूर और किसान पार्टी ने राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने के लिए सी.पी.आई. को समर्थ बनाने के लिए एक मंच (प्लेटफार्म) का काम किया था। लेकिन उस समय सीपीआई की अपनी स्वयं की पार्टी मौजूद नहीं थी। ई.सी.सी.आई. ने डब्ल्यू पी.पी. के प्रथम सम्मेलन को भेजे गये संदेश में इस स्थिति की व्याख्या इस प्रकार की थी : ''वर्तमान (केवल कागजों में) कम्युनिस्ट पार्टी आफ इंडिया, चूंकि इसमें किसी तरह के भी क्रांतिकारी जीवन का कोई चिन्ह दिखाई नहीं देता, कोई ऐसी जमीन प्रदान नहीं करती। जिसके आधार पर इसे कम्युनिस्ट माना जा सके, यहां तक कि यह कुछ खुद को कम्युनिस्ट कह सके, यद्यपि कि इसके सदस्यों में कुछ व्यक्ति कम्युनिस्ट शामिल हैं।''

कोमिंटर्न की 1928 में प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार, ''मजदूरों और किसानों की पार्टी का प्रमुख कमजोर बिंदु यह है कि यह एक स्वतंत्र राजनीतिक पार्टी की अपेक्षा कांग्रेस के वाम पक्ष की भांति अधिक क्रियाशील है। मजदूर और किसान पार्टी (डब्ल्यू पी पी); राष्ट्रीय क्रांतिकारी संघर्ष की पार्टी के रूप में तब तक विकसित नहीं हो सकती, जब तक कि यह बुर्जुआ राजनीतिज्ञों से खुद को मुक्त नहीं कर लेती और समस्त घोषित जनों को सर्वहारा के नेतृत्व के अंदर लाते हुए मजदूर वर्ग के एक ब्लाक के रूप में परिवर्तित नहीं हो जाती। दूसरी ओर, इस बात का कोई प्रश्न ही नहीं उठता कि मजदूर किसान पार्टी, उस कम्युनिस्ट पार्टी की स्थानापन्न हो सकती है, जो निरपेक्ष रूप से आवश्यक है।''

1925–29 के दौरान मजदूर किसान पार्टी सीपीआई के लिए लोगों के बीच काम करने का एक मंच कार्य करती रही। परंतु मेरठ षडयंत्र केस में हुई गिरफ्तारियों की वजह से यह कमजोर हो गई थी। 1933 के बाद यह व्यवहारिक रूप से पूर्णतः अस्तित्वहीन हो गई थी। सीपीआई ने खुद भी कोमिंटर्न की छठी कांग्रेस की कार्यदिशा का अनुसरण करते हुए इसे पुनर्जीवित करने का कोई प्रयास नहीं किया।

नौजवानों के आंदोलन : इस अवधि के दौरान, नौजवानों के आंदोलनों ने भी उल्लेखनीय उन्नति की। स्वतंत्रता आंदोलन के वातावरण, राष्ट्रीय क्रांतिकारियों और कम्युनिस्टों की गतिविधियों ने नौजवानों के साम्यवाद की ओर आकृष्ट किया था।

1926 में, पंजाब में भगतसिंह की पहल पर नौजवान भारत सभा की स्थापना हुई। आगे चलकर यह मजदूर किसान पार्टी से संबद्ध हो गई थी। 1927 में अखिल बंगाल नौजवान संघ (आल बंगाल यूथ ऐसोशिएसन) का गठन हुआ। 1928 में मजदूर किसान पार्टी की पहल पर नौजवान कामरेडों की लीग (यंग कामरेड्स लीग) का गठन हुआ। 1927 में अखिल भारतीय समाजवादी नौजवान कांग्रेस (आल इंडिया यूथ कांग्रेस) का बंबई में गठन हुआ। आगे चलकर यह मजदूर पार्टी द्वारा प्रभावित हुई थी। 1928 के दिसंबर में आल इंडिया यूथ कांग्रेस का कलकत्ता में भी गठन हो गया था।

कोमिंटर्न की छठी कांग्रेस

कोमिंटर्न की छठी कांग्रेस जुलाई 17 से पहली दिसंबर 1928 तक आयोजित हुई थी। जब पूंजीवादी यह दावा कर रहा था कि वह अपने संकट से उबर चुका है, तब स्टालिन ने

कहा था कि यह स्थिरता केवल तात्कालिक है। उन्होंने ठीक ही भविष्यवाणी की थी कि विश्व पूंजीवाद एक और गंभीर संकट की तरफ बढ़ रहा है। युद्ध के खतरों को दृष्टिगत रखते हुए उन्होंने उभरती हुई क्रांतिकारी परिस्थिति का लाभ उठाने के लिए तैयार रहने की जरूरत की पहचान लिया था। यह कांग्रेस उस समय हुई थी, जब सीपीएसयू का अंदरूनी संघर्ष (त्रात्स्की के निष्कासन के बाद) समाप्ति पर था।

कांग्रेस को निम्न दो मुद्दों ने प्रभावित किया था–

1. चीनी क्रांति से कोमितांग का विश्वासघात

2. साम्राज्यवादी देशों में सामाजिक जनवाद का फासीवाद की ओर झुकाव, मजदूर वर्ग के संयुक्त मोर्चे के प्रति विरोध प्रदर्शित करने लगा था।

इस कांग्रेस ने नीचे में संयुक्त मोर्चे (युनाइटेड फ्रंट फ्राम बिलो) के नारे पर जोर दिया था। इसने पूरी गंभीरता के साथ, साम्राज्यादी देशों के मजदूर वर्ग में सामाजिक जनवाद की और राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों के राष्ट्रीय बुर्जुआ की प्रतिक्रियावादी भूमिका पर गौर किया था। इसने निम्न तीन महत्वपूर्ण दस्तावेजों को अंगीकार किया था।

1. कम्युनिस्ट इंटरनेशनल का कार्यक्रम।
2. साम्राज्यवादी युद्ध के विरुद्ध कम्युनिस्ट संघर्ष पर बयान।
3. उपनिवेशों और अर्द्धउपनिवेशों में क्रांतिकारी आंदोलन पर थीसिस।

औपनिवेशिक और अर्द्ध औपनिवेशिक देशों में क्रांतिकारी आंदोलन पर थीसिस :

1. लेनिन की थीसिस के आधार पर, इस कांग्रेस ने, उपनिवेशों और अर्द्धउपनिवेशों के लिए अनुकूल रणनीतिक मुद्दों पर, उनको अलग–अलग लेते हुए और समूहों में बांटकर, विचार–विमर्श किया।

2. अनौपनिवेशिकरण का सिद्धांत लेनिनवाद के लिए पराया था। ''उपनविशों के 'अनौपनिवेशीकरण' और औद्योगीकरण को मान्यता देना औपनिवेशिक शोषण की प्रकृति के बारे में लेनिन की थीसिस को मूलतः त्याग देना है। निश्चय ही, उपनिवेशों में कुछ औद्योगिक विकास हो रहा है। परंतु यह अभी भी औद्योगीकरण का परिचायक नहीं है। किसी देश का औद्योगीकरण का अर्थ होता है, उस देश में उत्पादन के साधनों का विकास (मशीनरी आदि), जबकि साम्राज्यवाद अपने उपनिवेशों में केवल कृषि उत्पादों को संस्कारित करने वाले लघु निर्माण उद्योगों के विकास की अनुमति देता है। यह सोच–समझकर उत्पादन के साधनों के उत्पादन के विकास को बाधित करता है। फिर साम्राज्यवाद मात्र उत्पादन के साधनों के उत्पादन के विकास में बाधा डालकर ही औद्योगीकरण को नहीं रोकता अपितु गांवों में सामंतवाद को बचाये रखकर और पहले से गरीब किसानों को तमाम करों के द्वारा बरबाद करके भी इसके विकास को रोकता है।''

3. चीनी क्रांति ने राष्ट्रीय क्रांतिकारी आंदोलनों पर सर्वहारा के प्रभुत्व के प्रश्न को आगे कर दिया था।

4. कुछ महत्वपूर्ण औपनिवेशिक देशों में, बुर्जुआ जनवादी क्रांतियों के लिए, राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के साथ ही कृषि क्रांति भी निर्णायक थी।

5. इन औपनिवेशिक देशों में राष्ट्रीय बुर्जुआ ने साम्राज्यवाद के प्रति समान रुख नहीं अख्तियार कर रखा है। एक हिस्सा, खास तौर से व्यापारिक बुर्जुआ, साम्राज्यवादी पूंजी के हितों की सीधे–सीधे सेवा करता है (तथाकथित दलाल बुर्जुआ)। सामान्य रूप से वह साम्राज्यवाद के सामंती संश्रयकारियों और उच्चतर वेतनभोगी अधिकारियों की तरह ही समूचे राष्ट्रवादी आंदोलन के विरुद्ध निर्देशित, राष्ट्रविरोधी साम्राज्यवादी दृष्टिकोण रखता है। देशी

बुर्जुआ के अन्य हिस्से खास तौर से वे, जो देशी उद्योगों के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं, राष्ट्रीय आंदोलन का समर्थन करते हैं; ढुलमुलपन और समझौते के प्रति झुकाव का इस प्रवृत्ति को राष्ट्रीय सुधारवाद कहा जा सकता है।''

6. कि एक वर्ग के तौर पर, भारतीय बुर्जुआ निसंदेह आर्थिक रूप से और राजनीतिक रूप से काफी मजबूत है तथा अधिक परिपक्व है, वहीं भारतीय सर्वहारा यद्यपि कि चीन की अपेक्षा संख्या में अधिक है परंतु रणनीतिक रूप से अभी भी बुर्जुआ राष्ट्रवाद के प्रभाव के अधीन ही है।

सबसे अधिक प्रभाव वाला भारतीय बुर्जुआ का एक हिस्सा, पहले से ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ समझौते के रास्ते पर बढ़ चुका है; जैसा कि कांग्रेस की थीसिस में चिन्हित किया गया है, बुर्जुआ का एक अन्य हिस्सा (स्वराजवादी) वास्तविक रूप से श्रमिकों की ढाले चलाते हुए, साम्राज्यवाद के साथ एक समझ बना लेने के लिए आतुर है। भारतीय बुर्जुआ की सभी प्रवृत्तियों ने अतीत में कृषि क्रांति के साथ पहले से ही छल करती रही है, और भाविष्य में भी वे प्रतिक्रांतिकारी भूमिका ही निभाने वाली हैं।''

कार्यभार :

उपनिवेशों और अर्द्धउपनिवेशों में कम्युनिस्ट पार्टियों की राजनीतिक सांगठनिक रूप से मजबूत बनाया जाये।

भारत के संदर्भ में कार्यभारः

1. ''कम्युनिस्ट तत्वों और समूहों को एक मजबूत कम्युनिस्ट पार्टी में एकबद्ध करना, सभी सर्वहारा जनों को ट्रेड यूनियन से जोड़ना, सभी ट्रेड यूनियन संगठनों से सामाजिक–धोखेबाज नेताओं की पोल खोलना और उन्हें निकाल बाहर करना भारतीय मजदूर वर्ग के लिए एक सर्वाधिक अपरिहार्य कार्य है और भारत की स्वतंत्रता के लिए, एक क्रांतिकारी जन संघर्ष खड़ा करने की अपरिहार्य शर्त है (राजनीतिक थीसिस का अनुच्छेद 28)। यह है भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का प्रथम कार्यभार।

2. साम्राज्यवाद और सामंतवाद के अवशेषों के विरुद्ध राष्ट्रीय संघर्ष में सर्वहारा के प्रभुत्व निर्माण के लिए संघर्ष करना सर्वहारा के हिरावल के रूप में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का दूसरा कार्यभार है क्योंकि केवल सर्वहारा के नेतृत्व में ही, कामगारों, किसानोां और बुद्धिजीवियों के क्रांतिकारी हिस्सों का एक गठबंधन ही इस स्थिति में होगा जो भारत में कृषि क्रांति के आगाज के लिए और साम्राज्यवादी मोर्चे को भंग करने के लिए, साम्राज्यवादियों, भूस्वामियों और समझौतावादी बुर्जुआ के गठबंधन को नष्ट कर सके। (राजनीतिक थीसिस का अनुच्छेद 28)।''

संयुक्त मोर्चा :

''कम्युनिस्ट पार्टी और राष्ट्रीय सुधारवादी विपक्ष के बीच किसी भी प्रकार के गठबंधन के निर्माण को आवश्यक रूप से तिरस्कृत किया जाना चाहिए; परंतु इससे किसी विशेष साम्राज्यवाद विरोधी कार्रवाई के लिए तात्कालिक समझौते और गतिविधियों में सहयोजन की संभावना समाप्त नहीं होती; बशर्ते बुर्जुआ विपक्ष की गतिविधियों का जनांदोलनों के विकास के लिए इस्तेमाल किया जा सके और ये समझौते जनता को आंदोलित करने और उनके संगठित करने की, कम्युनिस्टों की आजादी पर बाधा न पहुंचती हो। निश्चय ही इस काम में कम्युनिस्टों को इसके साथ–साथ बुर्जुआ राष्ट्रवाद के विरुद्ध और मजदूर आंदोलन के भीतर इसके प्रभाव के क्षीण संकेत के विरुद्ध वैचारिक और राजनीतिक संघर्ष के तीव्रतम अथक प्रयास जारी रखना आवश्यक है...।''

''यह निरपेक्ष रूप से आवश्यक है कि इन देशों की कम्युनिस्ट पार्टियां ठीक शुरुआत से ही, खुद को सभी निम्न बुर्जुआ समूहों और पार्टियों से साफ–साफ पहचान में आने वाली भिन्नता में पेश करें। जहां तक क्रांतिकारी संघर्ष की जरूरत के लिए आवश्यक हो, तात्कालिक तालमेल की इजाजत दी जा सकती है, और विशेष परिस्थितियों में कम्युनिस्ट पार्टी और राष्ट्रीय क्रांतिकारी आंदोलन के बीच तात्कालिक संश्रय भी संभव हैं, बशर्ते कि यह सच्चा क्रांतिकारी आंदोलन हो अर्थात यह शासकों के विरुद्ध सच्चाई के साथ संघर्ष चलाता हो और इसके प्रतिनिधि कम्युनिस्टों को किसानों और मजदूरों के बीच क्रांतिकारी शिक्षा के उनके काम को बाधित न करते हों। बहरहाल ऐसे सभी सहयोगों में पूरी सावधानी के साथी यह ध्यान रखना परम आवश्यक है कि वहीं कम्युनिस्ट आंदोलन का निम्न बुर्जुआ आंदोलन का संयोजन एक फैशन न बन जाये... ''

1. कोमिंटर्न ने विकसित पूंजीवादी देशों में, वर्ग के विरुद्ध वर्ग की रणनीति अख्तियार की थी।

2. उपनिवेशों और अर्द्धउपनिवेशों के बुर्जुआ के प्रति एक सुस्पष्ट परिवर्तन दिखाई देता है। ध्यान नीचे से संयुक्त मोर्चा की रणनीति पर हैं सुधारवादी और समझौतापरस्त बुर्जुआ साथ ही कुछ हद तक साम्राज्यवाद के साथ कुछ मतभेद भी रख सकता है। इसलिए इस अंतर्विरोध का लाभ उठाने के लिए संयुक्त मोर्चा आवश्यक है। लेकिन केवल एकता पर ध्यान रखना और संघर्ष पर ध्यान न देना आत्महत्या तुल्य है। चीन में होने वाले घटनाक्रम में इसे देखा जा सकता है।

छठी कांग्रेस ने इस बात पर जोर दिया कि उपनिवेशों और अर्द्धउपनिवेशों की कम्युनिस्ट पार्टियों को हर एक परिस्थिति में अपनी स्वतंत्रता और वर्ग चरित्र को बनाये रखना होगा और सुधारवाद, खास तौर से वामपंथी छद्मवेश वाले सुधारवाद के विरुद्ध संघर्ष करते रहना होगा। इस कांग्रेस ने स्पष्ट रूप से कहा कि उपनिवेशों की क्रांतियों में किसानों की महत्वपूर्ण भूमिका है और कृषि क्रांति इन देशों की क्रांति के लिए धूरी है। चूंकि सीपीआई का अस्तित्व नाममात्र का रह गया था, छठी कांग्रेस ने सीपीआई को अपना ध्यान पार्टी निर्माण पर केन्द्रित करने की सलाह दी थी।

इस कांग्रेस में भारत से इन प्रतिनिधियों ने भाग लिया था– शौकत उस्मानी, सौम्येन्द्र नाथ टैगोर (सीपीआई, सीईसी सदस्य, डब्ल्यू पी पी के सचिव) और मोहम्मद शफीक सिद्दीकी, इन सभी को मताधिकार प्राप्त था और क्लीमेंस दत्त, मोहम्मद अली सिपासी, लोहानी जिन्हें, मताधिकार प्राप्त नहीं था। (लेकिन इन प्रतिनिधियों के सीपीआई के अधिकृत प्रत्याशी नहीं माना जा सकता क्योंकि टैगोर गिरफ्तारी से बचने के लिए पहले से ही जून 1927 से ही मास्को में मौजूद थे, लोहानी, सिपासी और दत्त सीपीआई के विदेश ब्यूरो के प्रतिनिधि थे। शौकत उस्मानी और मोहम्मद शफीक सिद्दीकी, पार्टी द्वारा अनुमति देने से इंकार करने के बावजूद, 1928 की शुरुआत में ही पार्टी प्रशिक्षण के लिए मास्को चले गये थे)। एम.एन.राय बीमार होने की वजह से कांग्रेस में शामिल नहीं हो सके थे। परंतु इस समय तक कोमिंटर्न टैगौर और दूसरों से सीपीआई को निर्देशित करने में राय की असफलता की जान गई थी। इसे सीपीआई के संगठन की वास्तविक स्थितियों का भी पता चल गया था। राय की अनौपनिवेशीकरण सिद्धांत की इस कांग्रेस में तीखी आलोचना हुई। (राय के अनौपनिवेशीकरण सिद्धांत के लिए परिशिष्ट–1 का अवलोकन करें) तर्कतः यह इस निष्कर्ष की ओर ले जाता था कि ब्रिटिश स्वयं ही भारत की राजनीतिक ताकतों की सत्ता स्थानांतरित कर देंगे और भारत को आजादी प्रदान कर देंगे। इसकी रेशा–रेशा आलोचना की गई थी।

इस कांग्रेस में मजदूर और किसान पार्टी के गठन की भी तीखी आलोचना की गई। यह कहा गया कि डब्ल्यू पी पी दो भिन्न वर्गों का मिश्रण करता है। कांग्रेस ने चेतावनी दी कि डब्ल्यू पी.पी. का गठन सही नहीं है क्योंकि इससे मजदूरों की पार्टी अपना वर्ग चरित्र खो देगी। शौकत उस्मानी और दूसरों ने डब्ल्यू. पी.पी. को भंग कर देने की मांग रखी। केवल टैगोर ने डब्ल्यू.पी.पी. को बनाये रखने के लिए अपनी दलीलें पेश की थी। उनका तर्क था कि कोमिंटर्न अनावश्यक रूप से डब्ल्यू.पी.पी. को सीपीआई का प्रतिस्थापन्न मान कर चिंतित हैं। परंतु तथ्य तो यही है कि सीपीआई और डब्ल्यू.पी.पी.एक ही हैं और ये अलग–अलग पार्टियां नहीं हैं। सीपीआई का अपना कोई अलग संगठन है नहीं। प्रचार भी डब्ल्यू.पी.पी. के नाम से ही किया जाता है। इसके अलावा सीपीआई ने यह साफ कहा है कि केवल डब्ल्यू. पी.पी. ही देश की सभी क्रांतिकारी शक्तियों को एकबद्ध कर सकती है और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का नेतृत्व कर सकती है। सीपीजीबी ने भी डब्ल्यू.पी.पी. को जारी रखने के लिए दलीलें दीं। परंतु अंततः कांग्रेस ने यह निर्णय किया कि डब्ल्यू.पी.पी. का निर्माण करना सही नहीं है।

एक दावा यह भी था कि कोमिंटर्न द्वारा डब्ल्यू.पी.पी. को भंग करने का निर्णय ठीक नहीं है और इसकी वजह से सीपीआई अपना जन मंच (प्लेटफार्म) खो देगी। लेकिन यह दावा ठीक नहीं है। जो ऐसी दलीलें रख रहे हैं वे उन परिस्थितियों को भुला दे रहे हैं जिनकी छाया में कोमिंटर्न ने ऐसा निर्णय लिया है। वास्तव में कोमिंटर्न ने (ई.सी.सी.आई. पंचम प्लेनम) खुद ही सीपीआई को ऐसी व्यापक जनाधार वाली पार्टी के निर्माण का सुझाव किया था जो एक सामंतवाद विरोधी कार्यक्रम के साथ पूर्ण स्वतंत्रता की मांग करती हो। कोमिंटर्न ने कभी भी इस सुझावित जन पार्टी को सी.पी.आई. के स्थानापन्न के रूप में नहीं देखा था। लेकिन इसने उम्मीद की थी कि यह राष्ट्रवादी आंदोलन पर मजदूर वर्ग का प्रभुत्व स्थापित करने में सीपीआई के हाथ में एक लाभदायक औजार बनेगी। इसका अर्थ यह है कि कोमिंटर्न इस व्यापक जन पार्टी को मजबूत, संगठित और भूमिगत कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व के अधीन व्यापक जनता का एक खुला मंच होगा।

परंतु डब्ल्यू.पी.पी., सी.पी.आई. के हाथ में औजार होने की बजाय, वस्तुतः खुद ही पार्टी बन बैठी। वास्तव में खुद सीपीआई का वजूद डब्ल्यू.पी.पी. से अधिक कुछ भी नहीं था। मजदूर वर्ग की पार्टी के अभाव में, विभिन्न वर्गों के व्यापक जन मंच (डब्ल्यू.पी.पी.) का उद्देश्य साम्राज्यवाद विरोधी, सामंतवाद विरोधी कार्यक्रम के अंतर्गत व्यापक जनता को आंदोलित करना मात्र रह गया। कहना नहीं होगा कि राष्ट्रवादी आंदोलन पर सर्वहारा प्रभुत्व स्थापित करने के लिए एक औजार बनने की बजाय यह एक पत्र व्यवहार विहीन नौका साबित होगी।

उस समय सी.पी.आई. के भीतर कानूनवाद और दक्षिणपंथी अवसरवाद बहुत मजबूत था। ये कमजोरियां एक स्वतंत्र और गुप्त पार्टी संगठन के निर्माण के विरोध में साफ प्रकट हो गई थी। इसके परिणाम में सीपीआई का वजूद नाममात्र को रह गया था। सीपीआई के नेतृत्व ने खुद व्यापक जन मंच (डब्ल्यू.पी.पी.) को एक सीमित उद्देश्य वाली कम्युनिस्ट पार्टी बना डाला। जिस डब्ल्यू.पी.पी. को सीपीआई के हाथ में औजार के रूप में कार्य करना था, ववह इसका विकल्प बन बैठी और इस प्रकार एक ऐसे समय में जब भारतीय क्रांति के लिए; कम्युनिस्ट पार्टी की मौजूदगी तत्काल आवश्यकता बन गई थी, यह एक मजबूत, संगठित और गैर कानूनी गुप्त–पार्टी बनाने की राह में रोड़ा बन गई। ऐसी स्थिति में उस डब्ल्यू.पी. पी. को जो कम्युनिस्ट पार्टी के सामने विकल्प बनकर खड़ी थी। भंग किए बिना, सीपीआई

के लिए अपना खुद का संगठन बना पाने की कोई संभावना नहीं रह गई थी। इसलिए डब्ल्यू.पी.पी. के संबंध में कोमिंटर्न का आकलन और निर्णय सही थे।

कोमिंटर्न की छठी कांग्रेस ने विश्वव्यापी आर्थिक संकट और उठ खड़ी होने वाली क्रांतियों की सही भविष्यवाणी की थी। इसने क्रांतिकारी पार्टियों के निर्माण पर जोक दिया था। भारतीय क्रांति के लिए मजदूर वर्ग एक पार्टी की, जो स्वतंत्र, मजबूत और गुप्त ही तत्काल आवश्यकता दरपेश थी। पहले ही काफी देर हो चुकी थी। इस स्थिति को मद्देनजर रखकर ही, कोमिंटर्न ने इस डब्ल्यू.पी.पी. को भंग करने की सलाह दी थी, जो सी.पी.आई. के सामने विकल्प के रूप में खड़ी हो गई थी। इसीलिए कोमिंटर्न ने आलोचना करते हुए कहा कि मजदूरों की पार्टी दो वर्गों की पार्टी नहीं हो सकती। अगर डब्ल्यू.पी.पी. को पुनर्जीवित किया जाता है तो सीपीआई को नेतृत्व, जो पहले से ही अवसरवाद और कानूनवाद के संक्रमित है, इसे कम्युनिस्ट पार्टी का विकल्प बना देगा।

राज्य का निष्कासन

1929 में आयोजित दसवें प्लेनम में राय को कोमिंटर्न से निष्काषित कर दिया गया। राय जिसने सीपीआई को अपनी व्यक्तिगत संपत्ति समझ रखा था, कोमिंटर्न के प्रतिनिधि के रूप में अपना प्रभाव समाप्त हो जाना पचा नहीं सके। अपनी कमजोरियों को समझ सकने की उनमें योग्यता नहीं थी। वे ब्रांडलेर और थाल्मेर समूह में शामिल हो गये (कोमिंटर्न ने निर्देश दिया था कि न तो कोई इस समूह से संपर्क रखेगा और न ही इनके पत्रों में लिखेगा।) इस अनुशासनहीनता के लिए राय को कोमिंटर्न से निष्काषित कर दिया गया।

शुरुआत में कोमिंटर्न भारत मे कम्युनिस्टट पार्टी बनाने के प्रयास में राय पर भरोसा करती थी। वेनगार्ड पत्रिका और राय द्वारा संपादित और जारी अन्य प्रकाशनों ने भारत में कम्युनिस्ट समूहों में एक बनाने में और शुरुआती वर्षों में कम्युनिस्ट पार्टी के प्रसार में, महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। परंतु यह तथ्य बिना किसी संदेह के सिद्ध हो चुका है कि राय में, जो अपने आत्मगत आकलन और आत्मोत्थानवादी (कैरियरवादी) कार्यशैली से मुक्त नहीं हो सके थे, उस नेतृत्व क्षमता का अभाव था, जो भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना महती कार्यभार को पूरा करने के लिए जरूरी होता है।

सीपीआई को कांग्रेस में हुए निर्णय के तीन महीने बाद प्रस्ताव प्राप्त हुआ। जनवरी 1929 को सीपीआई की सीईसी ने छठी कांग्रेस की थीसिस पर बहस की। इस प्रस्ताव के आधार पर और इसकी कार्यदिशा के अनुसरण में, भारत में मौजूद परिस्थितियों के देखते हुए, काम करने का निर्णय लिया गया। यह परीक्षण करने का भी निर्णय लिया गया कि पार्टी खुले रूप से अपना कार्य जारी रख सकती है या नहीं।

सी.ई.सी. की बैठक

सीपीआई के केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति, ने जो 1928 के अंत में भारत के मजदूर और किसान पार्टी के सम्मेलन के बाद अपनी बैठक कर रही थी, औपनिवेशिक और अर्द्धऔपनिवेशिक आंदोलनों पर कोमिंटर्न की छठी कांग्रेस में स्वीकृत थीसिस पर बहस की। सीपीआई को छठी कांग्रेस में लिये गये कोमिंटर्न का प्रस्ताव तीन महीने बाद मिला था। कोमिंटर्न की इस थीसिस ने मजदूर किसान पार्टी के निर्माण का विरोध किया था। थीसिस ने कांग्रेस के वामपक्ष और बुर्जुआ की विश्वासघाती भूमिका का पर्दाफाश करने के महत्व पर जोर दिया था। सीपीआई को महत्वपूर्ण सांगठनिक परिवर्तनों के लिए तैयार होने की जरूरत थी। सीपीआई ने इस थीसिस और भारत की मौजूदा परिस्थितियों पर आधारित कार्यदिशाा

के सूत्रीकरण का निर्णय लिया। मजदूरों और किसानों की पार्टी का विसर्जन नहीं किया गया। इसने कानूनी तरीके से कम्युनिस्ट पार्टी के अखिल भारतीय आयोजन की संभावना तलाशने का निश्चय किया। (यह वह समय था जब ब्रिटिश सरकार मेरठ षडयंत्र केस के लिए मंच तैयार करने में और कम्युनिस्टों तथा मजदूर वर्ग के लिए आंदोलनों पर आक्रमण करने में लगी हुई थी।)

द्वितीय अखिल भारतीय सम्मेलन के लिए प्रयास पूरे होने से पहले ही 1929 के मार्च में, साम्राज्यवादी सरकार ने मजदूर किसान पार्टी और कम्युनिस्ट पार्टी और जुझारू ट्रेड यूनियन नेताओं पर हमले शुरू कर दिये।

सीपीजीबी ने भी 1929 में डब्ल्यू.पी.पी. को जारी रखने की सलाह दी थी। यह आलोचना कि छठी कांग्रेसस की सलाह पर डब्ल्यू.पी.पी. को भंग करने के परिणाम में सी.पी. आई. ने अपना आधार गवां दिया है, सही नहीं थी। सीपीआई ने डब्ल्यू.पी.पी. के नाम से 1929 की लाहौर कांग्रेस के लिए घोषणापत्र प्रकाशित किया। 1930 में भी यह बंगाल में डब्ल्यू.पी.पी. के नाम से कार्य कर रही थी। 1929 में डब्ल्यू. पी.पी. का द्वितीय सम्मेलन भी आयोजित हुआ था। पहले सम्मेलन की तुलना में यह पूरी तरह विफल रहा। सीपीआई, डब्ल्यू.पी.पी. और ट्रेड यूनियनों के समूचे नेतृत्व को गिरफ्तार कर लिया गया था। असहयोग आंदोलन की शुरुआत होने के साथ ही राष्ट्रीय निम्न बुर्जुआ, जो अभी तक डब्ल्यू.पी.पी. के साथ के कांग्रेस पार्टी में चल गये। इससे बढ़कर सीपीआई ने जो कोमिंटर्न की छठी कांग्रेस की कार्यदिशा पर अपनी पकड़ बनाने में असमर्थ रही थी, इस आंदोलन से खुद को दूर रखा हुआ था। ट्रेड यूनियन आंदोलन भी कमजोर पड़ गया था। इन सभी वजहों से, मजदूर किसान पार्टी का भौतिक अस्तित्व लुप्त हो गया। हो सकता है कि कोमिंटर्न की नीति की वजह से ही, यह दुबारा जीवित नहीं हो सकी।

मेरठ षडयंत्र केस

1929 में एक अंतरराष्ट्रीय आर्थिक संकट ने पूंजीवादी व्यवस्था की बुनियादों को हिलाकर रख दिया। इस संकट ने मेहनतकश वर्गों के उफानों, उत्पीड़ितों के संघर्षों और स्वाधीनता आंदोलनों को समग्र रूप से पुनर्जीवित हो उठने के लिए संवेग प्रदान कर दिया था।

कोमिंटर्न की छठी कांग्रेस ने आगामी क्रांति का नेतृत्व संभालने के लिए खुद को तैयार करने का प्रयास किया था। ब्रिटिश सरकार जनता के संघर्षों एवं इस उत्थान पर काले कानूनों और निष्ठुर कारावास प्रावधानों के जरिये आक्रमण करना चाहती थी। इसने खुद को, कम्युनिस्ट पार्टी के इन जनांदोलनों के नेता के रूप में उभर कर सामने आ जाने की संभावना को छिन्न–भिन्न करने के लिए तैयार कर लिया था।

1929 में सरकार ने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और किसान कामगार पार्टी के 31 सदस्यों को देशव्यापी गिरफ्तारी की। एक ऐसे समय पर, जब यह भारी जनसंपर्क की बुनियाद पर एक जनाधार वाली पार्टी बन रही थी, इस आक्रमण ने कम्युनिस्ट पार्टी और मजदूर आंदोलन पर काफी विपरीत प्रभाव डाला था।

1929 में 29 मार्च को गिरफ्तारियां प्रारंभ हुई थीं। सीपीआई पूरी तरह से संवैधानिक पार्टी थी। यह ऐसी पार्टी थी जिसका किसी भी तरह के गुप्त संगठन बनाने का इरादा नहीं थाा। (डांगे का विचार था कि गांधी द्वारा पैदा कर दी गई परिस्थितियों में, एक गुप्त पार्टी के जरिए संगठित होने और कार्य करने की कोई संभावना नहीं थी)। देश में मौजूद सभी कम्युनिस्ट नेता गिरफ्तार किये जा चुके थे। सभी इक्तीस नेताओं पर आरोप पत्र दाखिल

किये जा चुके थे। इस केस की सुनवाई चार साल, 16 जनवरी 1933 तक चली। 28 नेताओं के तीन वर्ष की बामशक्कत जेल के साथ आजीवन कारावास की सजा दी गई। दो को छोड़ दिया गया। बाद में हाईकोर्ट ने इन सजाओं में कुछ कभी की थी।

कम्युनिस्ट पार्टी ने सुनवाई के, चार सालों के इस लंबे समय का अपने प्रचार के लिए एक प्लेटफार्म की तरह उपयोग किया। 18 कम्युनिस्टों और पार्टी के हमदर्दों द्वारा दिया गया बयान, कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा सूत्रबद्ध पहला विस्तृत दस्तावेज था। यह मुकदमा सीपीआई की कार्यदिशा की प्रस्तुति के लिए सहायक सिद्ध हुआ था।

मेरठ घोषणा के प्रमुख बिंदु

1. ''हमारी पार्टी सीपीआई, हमारी गिरफ्तारियों के समय कोमिंटर्न के साथ संबद्ध नहीं थी...

2. ''हम विश्वस्त हैं कि भारत जैसे, किसी औपनिवेशिक देश में, सर्वहारा क्रांति की पूर्वगामी क्रांति पूंजीवादी जनवादी प्रकृति की ही होगी।

यह ब्रिटिश साम्राज्यवाद के नियंत्रण से भारत की पूर्ण मुक्ति और सामंती समाप्ति का लक्ष्य प्राप्त करेगी और इसके परिणामतः एक स्वतंत्र जनवादी गणराज्य की स्थापना करेगी।''

''एक समय में पूंजीपति वर्ग एक ऐसी शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है जो साम्राज्यवाद और उसके संश्रयकारियों राजकुमारों और भूस्वामियों और स्वामीभक्त उच्च वर्गों तथा मजदूरों, किसानों, शहरी गरीबों, निम्न पूंजीपतियों और क्रांतिकारी नौजवानों के विशाल जनससमूह के बीच डांवाडोल स्थिति में रहती है।

एक समय में यह क्रांति और प्रतिक्रांति के बीच झूला झूलती रहती है। कुछ हद तक खास तौर से प्रारंभिक चरणों में यह क्रांतिकारी आंदोलन के विकास में मदद करती है, परंतु बाद में, यह इसकी बढ़त अधिक से अधिक बाधा पहुंचाने में लग जाती है, मुद्दों पर विनम्र पैदा करती है, आंदोलन को भटकाती है और जब कभी क्रांति की ताकत ग्रहण करने लगता है, यह खुद को प्रतिक्रांति की ताकतों के साथ अधिकाधिक सुनिश्चितता के साथ कतारबद्ध ही जाने को बाध्य पाती है।''

4. ''भारतीय कम्युनिस्टों का मूल कार्यभार, देश की मुक्ति के लिए, सामंतवाद के सभी अवशेषों को विनष्ट करने के लिए, कृषि क्रांति के लिए, सोवियत गणतंत्र–जैसा कि कोमिंटर्न की छठी कांग्रेस की औपनिवेशिक थीसिस में निर्देशित है– सर्वहारा और किसान की तानाशाही की स्थापना के लिए, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष चलाना है।''

5. ''मजदूरों और किसानों का भारतीय गणराज्य समाजवादी गणराजय नहीं होगा। बल्कि इसकी नीति और पूंजीवादी आधार पर औद्योगिक विकास की होगी ताकि जितनी जल्दी संभव हो सके, एक समाजवादी राज्य की स्थापना जा सके।

6. ''भारत में सोवियतों की स्थापना फौरी कार्यभार नहीं है। अभी, क्रांतिकारी संघर्ष उस तीव्रता तक विकसित नहीं हो सका है। परंतु सर्वहारा का यह दायित्व है कि वह अपने सहयोगियों के सामने बुर्जुआ जनवाद के दागों को और बुर्जुआ द्वारा अपनाये जाने वाले संघर्ष के तरीकों की छद्म क्रांतिकारिता को उघाड़ कर रख दे और उनके निज के जनसंगठनों को संघर्ष और सत्ता के अंगों में विकसित करनेकी आवश्यकता को स्पष्ट कर दे। जैसा कि लेनिन ने कहा था, बुर्जुआ गणराज्य के अंतर्गत जनतंत्र का उच्चतम रूप संविधान सभा है। परंतु भारतीय क्रांति इस चरण से नहीं गुजरेगा। भारतीय क्रांति सीधे इससे उच्चतर रूपप मजदूरों और किसानों की सोवियतों की तरफ आगे बढ़ जायेगा।''

परंतु उस पार्टी का समूचा नेतृत्व, जो अभी भ्रूणावस्था में ही थी, जेलों में कैद था, इसलिए पार्टी का कार्य बुरी तरह से प्रभावित हो गया था। मेरठ केस में गिरफ्तारियों के बाद से पार्टी छोटे–छोटे समूहों में बिखर गई। यह कोमिंटर्न द्वारा एक केन्द्रीय पार्टी को भूमिगत (गुप्त) तरीके से संगठित करने की सलाह का पालन न करने का परिणाम था। पार्टी में सांगठनिक एकता की कमी की वजह से समूहवाद और गुटवाद विकसिसत हो गये थे। यहां तक कि जेलों के भीतर भी उच्च नेतृत्व विभाजित हो गया था और स्वयं उनके बीच झगड़े शुरू हो गये थे। (डांगे) और स्प्रैट को पार्टी से निष्काषित कर दिया गया था।) जेल के बाहर पार्टी दो भागों में विभक्त थी। मजदूरों–किसानों की पार्टी नाममात्र को ही बची रह गई थी। मजदूर वर्ग के आंदोलनों में सीपीआई द्वारा अपनाई गई संकीर्णता की नीति ने पार्टी को भारी नुकसान पहुंचाया था। 1930–34 में राष्ट्रीय आंदोलन में कम्युनिस्ट पार्टी नितांत अकेली पड़ गई थी। चूंकि मेरठ षडयंत्र केस ने सविनय अवज्ञा आंदोलन को कम्युनिस्टों के हाथों में जाने से रोक लिया था, ब्रिटिश सरकार ने काफी प्रसन्नता और संतोष व्यक्त किया था।

ऐटक में पहला विभाजन

अपने गठन के दिन से ही, एटक पर दक्षिणपंथी और सुधारवादी नेताओं का नियंत्रण स्थापित था। 1927–29 की अवधि में कम्युनिस्ट और वामपंथी भी ऐटक में थोड़ी ताकत बना सकने में कामयाब हो गये थे, जिसके परिणामस्वरूप मजदूर वर्ग समाजवाद और समाजवाद और साम्यवाद की ओर आकर्षित हुआ था। मजदूर वर्ग ने राजनीतिक आंदोलन में सक्रिय हिस्सेदारी निभाई थी। सुधारवादी राजनीतिक आंदोलन में मजदूरों की भागीदारी के विरुद्ध थे। 1929 तक ऐटक ने पूर्ण स्वतंत्रता की मांग उठाई। मजदूरों के सशक्त आंदोलनों द्वारा नेताओं द्वारा लगाये गये प्रतिबंधों को पार जाने की घटनायें वृद्धि पर थी। इन सभी घटनाक्रमों ने ऐटक के भीतर वाम गुट और दक्षिण सुधारवादी गुट के बीच शत्रुता पैदा कर दी थी।

ऐटक की 29–30 नवंबर 1929 की नागपुर कांग्रेस में, नेतृत्व के सुधारवादी गुट ने ऐटक को विभाजित कर दिया। ऐसा ऐटक के भीतर कम्युनिस्टों के प्रभाव में वृद्धि की वजह से किया गया, जो सुधारवादी नेताओं को स्वीकार्य नहीं था। इस कांग्रेस में अंतर्राष्ट्रीय मजदूर वर्ग आंदोलन के साथ संबद्धता का मुद्दा बहस के लिए सामने आया। सुधारवादी नेता एन. एम. जोशी ऐटक को एम्स्टर्डम के ट्रेड यूनियनों के अंतर्राष्ट्रीय संघ (इंटरनेशनल फेडरेशन आफ ट्रेड यूनियन) के साथ संबद्ध कराने के अपने प्रयास में असफल रहे। कम्युनिस्ट रेड इंटरनेशनल लेबर यूनियन के साथ संबंद्धता चाहते थे।

1929 के दिसंबर की पहली तारीख को अवसरवादी नेताओं ने सम्मेलन किया और वी.वी.गिरि की चेयरमैनशिप के अधीन ''इंडियन फेडरेशन आफ ट्रेड यूनियन'' का गठन कर लिया। इस बैठक ने अपने नियमों का और कार्यक्रम इस प्रकार सूत्रीकरण किया था कि कोई भी कम्युनिस्ट या कम्यूनिस्ट विचारों वाला व्यक्ति संघ की सदस्यता पात्र नहीं हो सकता था। ऐटक के इस विभाजन को वामपंथियों और सुधारवादियों के बीच के झगड़े के रूप में देखना गलत है। यह नहीं भूला जाना चाहिए कि एक तरफ से ब्रिटिश साम्राज्यवादियों और बड़े राष्ट्रीय पूंजीपतियों ने तथा दूसरी तरफ से ट्रेड यूनियनों के अंतर्राष्ट्रीय संघ ने ऐटक के इस विभाजन को प्रोत्साहित किया था। ऐटक के इस विभाजन को साम्राज्यवादियों द्वारा देश के क्रांतिकारी आंदोलनों पर किए गये आक्रमण के एक हिस्से के रूप में देखा जाना चाहिए।

संक्षिप्त सारांश

1926–29 के दौरान भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन का विस्तार हुआ और ट्रेड यूनियन के मोर्चे पर पार्टी एक महत्वपूर्ण ताकत के रूप में उभर कर सामने आ गई थी। इस अवधि में फूट पड़ने वाले मजदूरों के संघर्षों के उफान के दौरान पार्टी ने मजदूर वर्ग के बीच अपनी पैठ बना ली थी। कोमिंटर्न ने ट्रेड यूनियन आंदोलन खड़ा करने में सीपीआई की मदद करने के लिए अपने प्रतिनिधि भी भेज दिये थे। इसी अवधि में (डब्ल्यू.पी.पी.) मजदूर किसान पार्टियां गठित की गई थी और वे अपपना जनाधार विकसित कर रही थीं।

यद्यपि कांग्रेस का नेतृत्व, जो दलाल बुर्जुआ और सामंत वर्ग का प्रतिनिधित्व करता था, स्वायत्तता (डोमिनियन स्टेटस) के लिए आतुर था, इस अवधि में, भारत की जनता के बीच पूर्ण स्वतंत्रता की मांग अत्यधिक लोकप्रिय थी। साइमन कमीशन के विरोध में होने वाला संघर्ष, एक और राष्ट्रवादी उफान का फौरी कारण बन गया। राष्ट्रवादी आंदोलन की इस लहर में मजदूर वर्ग ने बढ़ चढ़कर हिस्सा लिया। जनसंघर्षों के उफान को तोड़ डालने और दबा डालने के लिए ब्रिटिश सरकार, काले कानूनों के जरिए, खास करके अभी अभी जन्म लेने वाली कम्युनिस्ट पार्टी पर, ट्रेड यूनियनों और मजदूर किसान पार्टियों के भीषण दमन पर उतर आई थी।

कानपुर सम्मेलन के बाद, राय एवं अन्य प्रवासी कम्युनिस्ट क्रांतिकारी सीपीआई के विदेशी ब्यूरो के रूप में कार्य करना जारी रखा था। स्प्रैट और ब्रैडले ने भी, जो कोमिंटर्न के प्रतिनिधियों के रूप में भारत आये थे, सीपीआई में कानूनवादी और दक्षिणपंथी भटकावों में अपना योगदान दिया था।

मजदूर वर्ग में अपने काम में काफी सफलता अर्जित करने के बाद भी, बहरहाल किसानों को, जो भारतीय क्रांति की मुख्य ताकत थे, लामबंद करने के काम को जरूरी महत्व नहीं दिया गया। तथ्यतः पंजाब को छोड़कर अन्य सभी जगह मजदूर किसान पार्टी, सिर्फ मजदूरों और शहरी निम्न बुर्जुआ की पार्टी बनी रही। सीपीआई के निर्माण में स्प्रैट और ब्रैडले की भूमिका, जो मात्र ट्रेड यूनियन आंदोलन में सीमित थी, महत्वहीन थी।

उस समय पार्टी, मजदूर किसान पार्टी की सहायता से कांग्रेस के भीतर वामपक्ष की मजबूत करना चाहती थी। लेकिन सीपीआई के नेतृत्व ने खुद को किसी भी कीमत पर पार्टी का संवैधानिकता को बचाये रखने के लिए लालायित था। खुद को डब्ल्यू.पी.पी. के संगठन तक ही सीमित रखा था और उन्होंने एक मजबूत, संगठित और भूमिगत पार्टी के निर्माण की अवहेलना की थी। कोमिंटर्न भारत में, आसन्न विश्वव्यापी पूंजीवादी संकट को और पिछड़े देशों में जारी क्रांतिकारी उफानों को दृष्टिगत रखते हुए, एक मजबूत और स्वतंत्र कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण पर जोर दिया था और इस प्रकार, इसने डब्ल्यू.पी.पी. को भंग करने की सलाह दी थी, जो सी.पी.आई. का ही विकल्प बन गई थी।

कोमिंटर्न की छठी कांग्रेस ने राय के उस अनौपनिवेशीकरण सिद्धांत को ठुककरा दिया था जो यह प्रतिपादित करता था कि उपनिवेशों और अर्द्धउपनिवेशों में खुद औपनिवेशिक ताकत के अधीन पूंजीवाद स्वतंत्र रूप से विकसित हो रहा है और इस तरह से वह उन देशों को राजनीतिक स्वतंत्रता की और ले जा रहा है।

एक मजबूत, स्वतंत्र और भूमिगत पार्टी के निर्माण के फौरी कार्यभार पर छठी कांग्रेस के लगातार जोर देने के बावजूद, पार्टी के नेतृत्व ने कानून के अधीन रहते हुए सीपीआई का एक अखिल भारतीय सम्मेलन बुलाने का और पार्टी के संवैधानिक रूप ससे कार्य करने की संभावनाओं की तलाश करने का निश्चय किया। दूसरी तरफ, इसी समय, सरकार कम्युनिस्ट आंदोलन को अंकुरण की अवस्था में ही नष्ट कर डालने के लिए झपट पड़ने को आतुर थी और उसने मेरठ षडयंत्र केस का मंचन करने की सारी तैयारी कर ली थी। पार्टी

जो पूरी तरह से खुले रूप से काम कर रही थी, आक्रमण के समय बतख की तरह बैठी रह गई थी और इसे भरी नुकसान उठाना पड़ा था।

कोमिंटर्न पांचवी कांग्रेस के बाद, राय और सी.बी.जी.बी. दोनों पर सीपीआई को निर्देशित करने के कार्य करने का कार्यभार सौंपा गया था। राय सीपीआई के विदेशी ब्यूरो में कार्य करने में असफल रहे। इससे बढ़कर जब भारत में सीपीआई के संगठन की वास्तविक स्थिति सबकी जानकारी में आ गई तब राय की प्रतिष्ठा को भारी धक्का लगा। राय अपनी मजबूत निम्न बुर्जुआ अहमन्यता की वजह से इन घटनाओं को पचा नहीं सके। अंततः उन्होंने बैडले और थालमेर क्लिक से हाथ मिला लिया जिसने जर्मन क्रांति के साथ दगाबाजी की थी, और परिणामतः उन्हें कोमिंटर्न से निष्कासित कर दिया गया।

1929 के अंत से, समूचे विश्व में, पूंजीवादी अर्थव्यवस्था गंभीर आर्थिक संकट से तबाह हाल थी। स्टालिन की भविष्यवाणी सत्य साबित हुई थी। इस महामंदी ने द्वितीय विश्व युद्ध को जन्म दिया। जब सारी दुनिया आर्थिक संकअ से त्रस्त थी तब सोवियत यूनियन को ऐसे किसी भी संकट का सामना नहीं था। सोवियत यूनियन में तीव्र गति से विकास हो रहा था। इस सच्चाई ने समाजवादी और साम्यवादी विचारों के प्रसार में काफी मदद की।

भारत में आर्थिक संकट का बोझ मजदूरों और किसानों के मत्थे आ पड़ा था। कीमतों के गिरने की वजह से किसान साहूकारों के कर्जदार हो गये। लागाना माफी एवं करों को घटाने के लिए विशाल पैमाने पर किसान संघर्ष शुरू हो गये। यद्यपि कि संकट की वजह से व्यापार धंधा काफी मंदा चल रहा था, फिर भी एक साथ देखने पर बड़ा भारतीय बुर्जुआ मजबूत हो आया था। इसकी गतिविधियों विस्तारित हो गई थीं। खास तौर से कृषि उत्पादों के दामों में गिरावट ने इन्हें काफी लाभ पहुंचाया था। वास्तव में तो पूंजीवाद ने महामंदी की शुरुआत होने के पहले से ही मजदूर वर्ग पर आक्रमण कर दिया था। यौक्तीकरण के नाम पर काम के दिन की लंबाई बढ़ाना श्रम की तीव्रता बढ़ाना, मजदूरों, की छंटनी और तालाबंदी, आम बात हो गई थी। पिछले अध्याय में यह पहले ही कहा जा चुका है कि इन मुद्दों पर 1927–28 के बीच मजदूर वर्ग के कई बड़े संघर्ष शुरू हो गये थे।

इन वर्ग संघर्षों ने, राष्ट्रीय क्रांतिकारियों ओर कम्युनिस्ट आंदोलनों ने एक साथ मिलकर स्वतंत्रता आंदोलन के और उफान के लिए जमीन तैयार कर दी। 1929 के दिसंबर में आयोजित लाहौर कांग्रेस में पूर्ण स्वराज का प्रस्ताव स्वीकार किया गया (वास्तव में तो 1927 में कांग्रेस के मद्रास सत्र में ही यह प्रस्ताव पास हो गया था। लेकिन गांधी जो इस सत्र में शामिल नहीं थे, 1928 में डोमिनियन स्टेट की मांग आगे ले आये और इस तरह से प्रस्ताव को पुनः पेश करने की जरूरत आन पड़ी थी)।

तब भी गांधी ने संपूर्ण आजादी का विरोध किया था। लेकिन उन्हें कांग्रेस के भीतर वाम पक्षा के दबाव के आगे झुकना पड़ा था। 30 जनवरी 1930 को स्वतंत्रता दिवस के रूप में मनाया गया। अवज्ञा आंदोलन की पूर्व संध्या में गांधी ने दस सूत्री पूर्व चेतावनी (अल्टीमेटम) दिया। इस अल्टीमेटम में पूर्ण स्वतंत्रता का कोई उल्लेख मौजूद नहीं था। वे मात्र स्वायत्तता (डोमिनियन स्टेटस) चाहते थे। जब सरकार ने अवज्ञा आंदोलन की रची भर परवाह नहीं की तब गांधी ने नमक सत्याग्रह छेड़ दिया। नेतृत्व ने इस आंदोलन को शांतिपूर्ण बनाए रखने का अधिकतम संभव प्रयास किया। आंदोलन तेजी के साथ पूरे देश में फैल गया था और इसने सशस्त्र संघर्ष का रूप लेना शुरू कर दिया था। एक तरफ अवज्ञा आंदोलन समूचे देश में संवेग ग्रहण कर रहा था तो दूसरी ओर राष्ट्रीय क्रांतिकारियों और जनता ने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष छेड़ दिया था। जनता का उस क्रांतिकारी संघर्ष ने जिसने बड़े पूंजीपतियों और ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को भय से कंपा दिया था, इस समय गर्जना की थी।

****

हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोशिएसन

भगत सिंह एवं अन्य द्वारा स्थापित एस.एस.आर.ए. ने 1928 में वैज्ञानिक समाजवाद की ओर निर्णायक कदम आगे बढ़ा दिया था, और इसने इतिहास निर्माण में जनता की भूमिका को पहचानते हुए राष्ट्रवादी क्रांतिकारियों के आदर्शवादी विचारों की पैतृक प्रभुता पर करारा प्रहार किया। भगतसिंह विशेष रूप से मार्क्सवाद और साम्यवाद से प्रभावित थे, उन्होंने इसके प्रति अपनी रुचि प्रदर्शित की थी और वे दत्तचित्तता के साथ इसके अध्ययन में जुट गये थे।

1928 में एच.एस.आर.ए. ने क्रूर ब्रिटिश आफीसर सांडर्स का सफाया कर दिया। 1929 में भगतसिंह ने भारतीयों की स्वतंत्र के लिए तीव्र आकांक्षा के प्रतीक स्वरूप असेम्बली में बम धमाका किया और स्वेच्छा से खुद की गिरफ्तारी दी ताकि अदालत का, देशवासी आदमियों और औरतों में अपने क्रांतिकारी संदेश को प्रसारित करने के लिए, मंच के रूप में इस्तेमाल किया जा सके। 1929 में ही क्रांतिकारियों ने उस ट्रेन में बम विस्फोट किया जिसमें वायसराय यात्रा कर रहे थे। इन क्रांतिकारियों की कारखानों ने पूरे देश की जनता के दिलों में देशभक्ति की आग और आजादी की तड़प पैदा करने में महान सहयोग किया था। 1930 तक भगतसिंह का नाम देशभक्ति का पर्याय बन चुका था और उस अवधि की गुप्तचर रिपोर्ट साफ साफ कहती हैं कि उस समय वे गांधी से अधिक लोकप्रिय हो गये थे।

चटगांव विद्रोह

18 अप्रैल 1930 को सूर्यसेन के नेतृत्व में क्रांतिकारियों ने चटगांव के शस्त्र भंडार पर आक्रमण कर दिया और इस प्रकार राष्ट्रवादी क्रांतिकारियों के सशस्त्र संघर्ष के इतिहास में एक नया गौरवशाली अध्याय रच डाला। क्रांतिकारियों ने बिजली की तेजी से हमला बोला था और शहर पर कब्जा कर लिया था। उन्होंने जलालाबाद जिले में ब्रिटिश सेना के विरुद्ध गुरिल्ला युद्ध छेड़ दिया। जनता के सहयोग से क्रांतिकारियों का व्यक्तिगत कार्रवाइयों से जनकार्रवाई तक आगे बढ़ आना ध्यान देने योग्य है। परंतु उन 60 क्रांतिकारियों में से जो रिपब्लिकन आर्मी के नाम से युद्ध कर रहे थे, अधिकांश शहीद हो गये और शेष गिरफ्तार कर लिये गये। 1933 की शुरुआत में सूर्यसेन को भी गिरफ्तार कर लिया गया और 1934 में उन्हें फांसी पर चढ़ा दिया गया। बंगाल और पंजाब में एच.एस.आर.ए. जैसे संगठनों की गतिविधियां काफी बढ़ गई थीं।

पेशावर संघर्ष–गढ़वाली सैनिकों का विद्रोह

23 अप्रैल 1930 को अब्दुल गफ्फार खां की गिरफ्तारी के विरोध में जनता में विद्रोह कर दिया था और उत्तर–पश्चिमी सीमा के पेशावर शहर पर कब्जा कर लिया था। हथियार बंद पुलिस के साथ लड़ाई में सैकड़ों लोग मारे गये थे। वहां की 92 प्रतिशत जनता मुस्लिम थी। जनता के विद्रोह का दमन करने के लिए सरकार ने हिंदू गढ़वाली पुलिस का इस्तेमाल किया। सूबेदार गढ़वाली के नेतृत्व में गढ़वाली सैनिकों ने महान देशभक्ति प्रदर्शित की और उन्होंने अपने निहत्थे भाइयों पर गोली चलाने से इंकार कर दिया। गांधी ने फौज की इस ''अनुशासहीनता''की आलोचना की। 4 मई को सरकारी बलों ने शहर को कब्जे में ले लिया।

शोलापुर संघर्ष

4 मई 1930 को गांधी गिरफ्तार कर लिये गये। इस गिरफ्तारी के विरोध में शोलापुर के मजदूरों ने 7 मई को आम हड़ताल शुरू कर दी। उन्होंने शहर पर कब्जा जमा लिया। करीब 50,000 मजदूरों ने संघर्ष में भाग लिया। मार्शल ला लागू करने और भीषण सरकारी हिंसा ने संघर्ष को और भी भड़का दिया। गांधी द्वारा तैयार किये गये कार्यक्रम के 11 बिंदुओं में एक भी मजदूरों के मांग कं संबंध में नहीं था। इसके बावजूद अन्य शहरों में भी मजदूरों ने गांधी की गिरफ्तारी के विरोध में संघर्ष छेड़ दिया था।

इन संघर्षों ने उन दलाल पूंजीपतियों और सामंती ताकतों के शिविर में, जो कांग्रेस का नेतृत्व कर रहे थे और सरकार में भी घबराहट पैदा कर दी थी। इससे बढ़कर अवज्ञा आंदोलन स्वतःस्फूर्त रूप में धीरे–धीरे जनता के विभिन्न हिस्सों की अपनी खुद की मांगों के लिए एक राष्ट्रीय मंच बनता जा रहा था। गांधी संघर्ष को वापस लेने से हिचक रहे थे, इस डर से कि उन्हें उस समय से कहीं अधिक विरोध झेलना पड़ेगा, जो उन्होंने चौरी–चौरा की घटना को बहाना बनाकर असहयोग आंदोलन को वापस लेने पर झेला था। (1929 में गांधी मेरठ जेल में कम्युनिस्ट बंदियों से मिलने गये थे। जब बंदी कम्युनिस्टों ने गांधी से पूछा थाा कि क्या वे चौरी चौरा जैसी घटना को दुबारा घटने पर अवज्ञा आंदोलन को वापस ले लेंगे, तब गांधी ने स्पष्ट रूप से कहा था कि वे आंदोलन वापस नहीं लेंगे।)

जब आंदोलन, जो एक समझौते पर पहुंचने के लिए छेड़ा गया था, अपनी सीमा से आगे बढ़ गया और साम्राज्यवाद विरोधी क्रांतिकारी आंदोलन में परिवर्तित होने लगा, तब दोनों ही पक्ष समझौते के लिए आतुर हो गये। इसके परिणामस्वरूप 5 मार्च 1931 को गांधी–इरविन पैक्ट पर हस्ताक्षर कर दिये गये। दलाल पूंजीपति एक बार पुनः राष्ट्रवादी उफान को ठंडा करने में कामयाब हो गया था। सरकार ने सरकार से कोई आश्वासन प्राप्त किये बिना ही आंदोलन वापस ले लिया था। सरकार उन कार्यकर्ताओं को रिहा करने के लिए राजी हो गई थी, जिन्होंने हथियार नहीं उठाये थे। गांधी पुलिस द्वारा कार्यकर्ताओं और जनता पर ढाये गये अमानवीय जुल्मों के विरुद्ध जांच पर दबाव न डालने के लिए सहमत हो गये थे। अप्रत्यक्ष रूप से गांधी ने यह ीाी व्यक्त कर दिया था कि भगतसिंह को फांसी दिये जाने का भी विरोध नहीं करेंगे। 23 मार्च 1931 को भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को फांसी पर चढ़ा दिया गया।

कराची कांग्रेस सत्र ने सर्वसम्मत से गांधी–इरविन पैक्ट को स्वीकार कर लिया। जवाहर लाल नेहरू ने भी, जो कम्युनिस्ट कहे जाने लगे थे, इस पैक्ट को स्वीकार कर लिया। बोस जिन्होंने शुरू में सार्वजनिक रूप से पैक्ट का विरोध किया था, कांग्रेस सत्र में पैक्ट पर सहमत हो गये थे। सीपीआई ने इस सत्र में कार्रवाई का मसौदा मंच (ड्राफ्ट प्लेटफार्म आफ एक्शन) शीर्षक से एक दस्तावेज वितरित किया था। अवज्ञा आंदोलन के वापस हो जाने के बाद भी जनता के संघर्ष खास तौर से किसानों के संघर्ष जारी रहे थे। इन सभी आंदोलनों पर पुलिस ने भीषण अत्याचार किया था।

द्वितीय अवज्ञा आंदोलन

गोलमेज सम्मेलन के दौरान ब्रिटिश सरकार ने स्वतंत्रता या स्वायत्तता (डोमिनियन स्टेटस) के संबंध में कोई भी आश्वासन नहीं दिया था। कांग्रेस अपनी अनिच्छा के बावजूद पुनः आंदोलन शुरू करने के लिए मजबूर हो गई। जैसी कि पूर्व योजना थी, सरकार ने आंदोलन से पहले ही सभी कांग्रेसी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। कांग्रेस पार्टी पर प्रतिबंध लगा दिया गया। गांधी जिनकी आंदोलन में रत्ती भर भी रुचि नहीं थी, अपनी ''रचनात्मक

गतिविधियों में व्यस्त थे'' 1932–34 के दौरान जनता बिनाा किसी नेता के संघर्ष करती रही। धीरे–धीरे यह आंदोलन कमजोर हो गया। मई 1934 में, आल इंडिया कांग्रेस कमेटी ने आंदोलन को वापस लेने का निर्णय पास कर दिया। (सरकार ने इस निर्णय के पास हो जाने पर ही कांग्रेस नेताओं को जेल से रिहा किया था।) जून में कांग्रेस के ऊपर से प्रतिबंध हटा लिया गया। कांग्रेस ने आगामी चुनावों में भाग लेने का निश्चय कर लिया था।

नागरिक अवज्ञा आंदोलन के दौरान सीपीआई

मेरठ षडयंत्र केस से सीपीआई पूरी तरह से हिल गई थी। जेल के भीतर और बाहर दोनों तरफ गुटवाद फैल गया था। सीपीआई एकजुट पार्टी नहीं रह गई थी। 1933 तक कोई भी केन्द्रीय समिति मौजूद नहीं थी।

जेल के बाहर रह जाने वाला नेतृत्व अनुभव की कमी की वजह से संकीर्ण मनोवृत्ति का था। सीपीआई छठे कोमिंटर्न की नीति को संकीर्ण तरीके से लागू कर रही थी। उस ससमय जी.के.यू. और सी.पी.आई. रेलवे मेन्स यूनियन पर बंबई कम्युनिस्ट पार्टी का नियंत्रण था। गैर कम्युनिस्ट विपक्ष की बात सुने बिना, पार्टी ने राष्ट्रीयकरण, कार्य बोझ में वृद्धि, मजदूरी में कटौती और छंटनी के मुद्दों पर कपड़ा मिल मजदूरों की आम हड़ताल का आह्वान हो गई। कम्युनिस्टों के नेतृत्व वाली अन्य हड़तालें भी असफल रहीं। ये यूनियनें रायवादियों के हाथों में चली गईं।

राय 1930 में भारत वापस आये थे। उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्व हथियाने का प्रयास किया किन्तु असफल रहे। वे तोड़ फोड़ में लग गये। मेरठ षडयंत्र केस में हुई गिरफ्तारियों से पैदा हुई। स्थितियों का फायदा उठाते हुए राय के अनुसरणकर्ता खास तौर से ट्रेड यूनियन के मोर्चे पर तोड़–फोड़ की गतिविधियों में लिप्त हो गये। परिणामस्वरूप, ट्रेड यूनियन आंदोलन धीरे धीरे रायवादियों के हाथों में सरक गया था। अपनी संकीर्ण वामपंथी अवस्थिति से राय अब नग्न दक्षिणपंथी अवसरवाद के गड्ढे में जा गिरे थे। उन्होंने कांग्रेस को साथ पूर्ण एकता का समर्थन करना शुरू कर दिया। बाद के दिनों में तो वे यह मांग तक करने लगे थे कि कांग्रेस के भीतर किसी भी दूसरी पार्टी को प्रवेश की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए।

बंबई की कम्युनिस्ट पार्टी देशपांडे और रणदिवे ने अपनी अलहदा बोल्शेविक पार्टी का गठन कर लिया और कोमिंटर्न की मान्यता के लिए प्रार्थना भेज दी। बंगाल में भी सीपीआई, जो अभी भी डब्ल्यू.पी.पी. के नाम से कार्य कर रही थी; विभिन्न समूहों में विभाजित हो गई। कोमिंटर्न की छठी कांग्रेस ने न तो राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने की और न ही कांग्रेस के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने की सलाह दी थी। इसने ''वाम'' कांग्रेस और राष्ट्रीय बुर्जुआ की दोगली भूमिका का पर्दाफाश करने को कहा था। इसने सीपीआई को अपनी अलग अलग पहचान और स्वतंत्रता को बनाये रखने की सलाह दी थी। भारतीय कम्युनिस्टों ने इस सलाह को पूरी तरह से संकीर्ण अर्थों में ग्रहण किया था। वे अवज्ञा आंदोलन से एकदम ही अलग रह गये थे। कुछ पार्टी कार्यकर्ताओं, सदस्यों और हमदर्दों ने, जो राष्ट्रवादी आंदोलन से खुद को अलग–थलग कर लेने की नीति से सहमत नहीं थे, आंदोलन में सक्रिय हिस्सा लिया थे। इसी समय में, कम्युनिस्ट नेतृत्व के अधीन स्थित मजदूर वर्ग आंदोलन, ऐटक से बाहर निकल आया था और इसने एक लाख ट्रेड यूनियन समिति (आर.टी.यू.सी.) का गठन कर लिया था।

जिस दौरान समूचा देश जनांदोलन में सक्रिय था, सीपीआई गुटीय झगड़ों में लिप्त थी। जेलों के भीतर से नेतागण बाहरी गुटीय झगड़ों को हवा दे रहे थे।

सीपीआई की कार्रवाई का मसौदा मंच
(ड्राफ्ट प्लेटुफार्म आफ एक्शन आफ सीपीआई)

जिस कम्युनिस्ट पार्टी का आंदोलन विभिन्न छोटे–छोटे समूहों में बंट गया था और इसका अस्तित्व नाममात्र का रह गया था, उसी समय ड्राफ्ट प्लेटफार्म आफ एक्शन आफ सीपीआई शीर्षक से दिसंबर 1930 में इम्प्रेकोर में सीपीआई के नाम पर प्रकाशित हुआ। इस दस्तावेज में पहली बार भारत के क्रांतिकारी आंदोलन का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया था। यह पहला विस्तृत दस्तावेज था जो सभी वर्गों और सामाजिक समूहों को दृष्टिगत रखते हुए तैयार किया गया था। कोमिंटर्न की सातवीं कांग्रेस तक यह कार्यक्रम सीपीआई के लिए कोमिंटर्न की नीति के रूप में अस्तित्वमान रहा था। यद्यपि कि यह दस्तावेज सीपीआई के नाम से प्रकाशित हुआ था परंतु इसे कोमिंटर्न द्वारा सूत्रबद्ध ही माना जाता था।

ड्राफ्ट प्लेटफार्म के कुछ महत्वपूर्ण बिंदु

1. इस दस्तावेज ने क्रांतिकारी चरण का सही आकलन पेश किया था। इससे स्पष्ट तौर पर कहा कि कृषि क्रांति, राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का आधार है। ''भारतीय जनता की गुलामी को समाप्त करने के लिए और मजदूर तथा किसान वर्ग को उस गरीबी के गर्त से उबारने के लिए, जो उन्हें नीचे ही नीचे दबाये चली जाती है, देश की स्वाधीनता को हासिल करना और कृषि क्रांति के झंडे को ऊपर उठाना आवश्यक है... ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भूस्वामीवाद के विरुद्ध एक कृषि को ही भारत की क्रांतिकारी मुक्ति का आधार होना चाहिए।''

2. इस दस्तावेज ने दलाल पूंजीपति वर्ग की प्रकृति को, जो कांग्रेस की पृष्ठ शक्ति था और राष्ट्रीय सामंतवाद के साथ इसके संबंध को भलीभांति समझा था और आकलित किया था। परंतु इसने समूचे सामंतवाद को एक ही थोक समझ लिया था। यह सोचता था कि भारतीय क्रांति एक आम बगावत की शकल लेगी।

''भूस्वामित्व और साहूकारी व्यवस्था के साथ गठबंधित रहने और मेहनतकश जनता के क्रांतिकारी जनविद्रोह के विचार मात्र से भयभीत रहने वाला पूंजीपति वर्ग, काफी पहले ही देश की मुक्ति संघर्ष और कृषि समस्या के क्रांतिकारी हल के साथ विश्वासघात कर चुका है।''

3. इसने कांग्रेस और विशेष रूप से कांग्रेस के वामपंथी नेताओं के बारे में विभ्रम निवारण के लिए अथक संघर्ष करने की आवश्यकता पर पुनः जोर देने का सही काम किया है। इसने वामपंथी छद्म के उद्घाटन की आवश्यकता की वकालत की है।

''भारतीय क्रांति की विजय के सामने सबसे बड़ी बाधा यह सच्चाई है कि हमारे जनता के विशाल जनसमूहों ने अभी भी राष्ट्रीय कांग्रेस के बारेमें भ्रम पाल रखा है और वे इस वास्तविकता को समझ नहीं सकी है कि यह पूंजीपतियों के उस वर्ग संगठन का प्रतिनिधित्व करती है जो हमारे देश की मेहनतकश जनता के मूल हितों के विरोध में कार्यरत है।''

''गांधी के ग्यारह बिंदु... चैम्बर आफ कामर्स एवं ऐसे ही संगठनों के कार्यक्रम का प्रतिनिधित्व करते हैं।''

''भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और खास करके इसके वाम पक्ष ने अपनी सारी शक्तियों का इस्तेमाल जनता के संघर्ष को ब्रिटिश साम्राज्यवादी संविधान और अधिनियमों के दायरे में ही बनाये रखने में किया है और करता रहेगा।''

''अगर हम वाम राष्ट्रीय सुधारवादियों को मजदूरों और किसानों सेस अलगाव मे डालना चाहते हैं तो हमें इनके विरुद्ध कठोर युद्ध छेड़ना होगा और मजदूरों किसानों की

व्यापक जनता को कम्युनिस्ट पार्टी के बैनर तले, भारत की साम्राज्यवाद विरोधी कृषि क्रांति के लिए लामबंद करना होगा।''

यह दस्तावेज कांग्रेस के तथाकथित वाम नेताओं के विरुद्ध दृढ़ संघर्ष पर सही जोर देता है, परंतु यह इन तथाकथित वाम नेताओं और इसके सच्चे राष्ट्रवादी तत्वों के बीच फर्क करने में असफल रह जाता है। यह कमी सीपीआई नेतृत्व द्वारा दस्तावेज की संकीर्ण व्याख्या में सहायक रही है। यह (29 मार्च 1930) को इम्प्रेकोर में प्रकाशित कुल्लीसन द्वारा दी गई चेतावनी पर ध्यान रखने में भी नाकामयाब रहा।

सीपीआई की मूल प्रवृत्ति मात्र ''...राष्ट्रीय कांग्रेस के विरुद्ध दृढ़ संघर्ष'' हो सकती है। ''इससे कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा विशाल मेहनतकश वर्गों की आंदोलित करने के उद्देश्य से, भारतीय बुर्जुआ की छद्म लड़ाइयो, ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के साथ अति सीमित झगड़ों तक फायदा उठाना वर्णित नहीं बल्कि पूर्व पल्लवित ही होता है।''

4. ''क्रांति के वर्तमान चरण के मुख्य उद्देश्य''

1. ''ब्रिटिश शासन को सशस्त्र संघर्ष द्वारा उखाड़ फेंक कर भारत की पूर्ण स्वतंत्रता हासिल करना सभी ऋणों को मंसूख करना। ब्रिटिश कारखानों, बैंकों, रेलवे, समुद्री और नदी आवागमनों और बागानों को जब्त कर लेना।''

2. ''सोवियत सरकार की स्थापना।

राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के आत्मनिर्णय अधिकार को जिसमें अलग हो जाने का अधिकार शामिल है, चरितार्थ करना। मजदूरों और किसानों के सोवियतों के भारतीय संघीय गणराज्य की स्थापना करना।''

3. ''भूस्वामियों, शासक राजाओं, मठों–मंदिरों, ब्रिटिश सरकार के अफसरों और साहूकारों की जमीनों, वनों और अन्य सभी सम्पतियों की बिना मुआवजा जब्ती करना और उन्हें, मेहनतकश किसान समुदायों के इस्तेमाल के लिए हस्तांतरित कर देना। सभी बंधुआ मजदूरी के सभी समझौतों और किसानों पर साहूकारों और बैंकों के ऋण बकाया की पूर्ण मंसूखी।''

4. ''आठ घेरा का कार्यदिवस लागू करना और श्रम दशाओं में क्रांतिकारी सुधार लाना। मजदूरी में वृद्धि करना तथा बेरोजगारों राज्य द्वारा निर्वाह किया जाना।''

5. ड्राफ्ट प्लेटफार्म ने यह स्पष्ट कर दिया था कि गांधी हरिजनों की सेवा करने के नाम पर दरअसल जाति व्यवस्था को बनाये रखना चाहते हैं। ''केवल गांधीवादी किस्म के सुधारों समेत जातिवाद का कटोरा के साथ पूर्ण उन्मूलन और कृषि क्रांति और ब्रिटिश शासन का बलपूर्वक उच्छेद ही मेहनतकश प्रजा और गुलामों की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और संवैधानिक मुक्ति का पथ प्रशस्त करेगा।''

6. ''आज का प्रमुख और मूलभूत कार्य, लम्बे समय से स्थगित पड़े, एक केन्द्रीकृत अनुशासित, एकबद्ध भूमिगत जनपार्टी की स्थापना के और हमारे देश की मुक्ति के लिए क्रांतिकारी आंदोलन खड़ा करने के कार्य को पूरा करना है।''

7. ''भारत की कम्युनिस्ट पार्टी घोषित करती है कि यह स्वयं को संगठित विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन का कम्युनिस्ट इंटरनेशनल का एक हिस्सा मानती है।''

रेड ट्रेड यूनियन कमेटी का गठन :

जुलाई 1931 में ऐटक का दूसरी बार विभाजन हुआ। कलकत्ता अधिवेशन में कम्युनिस्ट अलग हो ही गये और उन्होंने आर.टी.यू.सी. का गठन कर लिया।

राय–कांडेलकर–कार्निक गुट पहले से ही ट्रेड यूनियन आंदोलन में तोड़ फोड़ की कार्रवाई में संलिप्त था। राय के अनुयाइयों और अध्यक्ष बोस कलकत्ता सत्र में निकृष्टतम गैर जनतांत्रिक तरीकों पर उतर आये थे। राय क शिष्यों ने कम्युनिस्टों पर उन्हें संगठन से निकाल बाहर करने के लिए पूर्व नियोजित आक्रमण किया था। इसने धैर्य के चुक जाने पर एस.वी.देशपांडे के नेतृत्व में कम्युनिस्टों ने अधिवेशन का बहिष्कार कर दिया था और आर. टी.यू.सी. का गठन हो गया था। ऐटक का यह विभाजन राष्ट्रीय आंदोलन के भीतर वामपंथियों के दोगले नेतृत्व के विरुद्ध अथक संघर्ष चलाने की कोमिंटर्न की सलाह की कम्युनिस्टों द्वारा संकीर्ण व्याख्या का परिणाम था। पहले से विभाजित ऐटक के इस विभाजन ने मजदूर वर्ग के आंदोलन को गंभीर क्षति पहुंचाई। इस विभाजन पर इम्प्रिकोर (इंटरनेशनल प्रेसकरस्पांडेंस) ने फरवरी–मार्च 1933 के अंक में लिखा थाः

''अनेक कम्युनिस्ट ट्रेड यूनियनों और राजनीतिक पार्टियों को समान समझते हैं... इसका परिणाम यह हुआ है कि मजदूर आंदोलन के भीतर हुआ विभाजन यांत्रिक तरीके से ट्रेड यूनियनों के विभाजन में स्थानांतरित हो गया है। कम्युनिस्टों ने पार्टी और ट्रेड यूनियनों के बीच अंतर को भुला दिया और इसलिए वे इतनी अनपेक्षित आसानी के साथ उन राष्ट्रीय सुधारवादियों के उकसावे में आ गये जो ट्रेड यूनियन को भंग कर डालने की नीति को सफलता के साथ जारी रखे हुए थे... कम्युनिस्टों की गलत अवस्थिति का लाभ उठाते हुए राष्ट्रीय सुधारवादी, एकता के जुमलों के पीछे छुपते हुए, ट्रेड यूनियनों को और ट्रेड यूनियनाों की कलकत्ता कांग्रेस को, विभाजित कर सकने में समर्थ हो गये।''

इस अवधि में पार्टी को सही रास्ते पर लाने और पुर्नरक्षित करने के प्रयास किये गये थे। सीपीआई की कलकत्ता कमेटी गठित की गई। इसने पार्टी की एकता के लिए आह्वान किया। कुछ प्रांतों में ''यंग कम्युनिस्ट लीगों' का गठन कर लिया गया था और ये सक्रिय हो गई थीं। राष्ट्रीय आंदोलन और मजदूर के वर्गीय आंदोलनों में अपनाये गये संकीर्ण तरीकों पर पुनर्विचार प्रारंभ हो गया था। मई 1932 में इन्हीं परिस्थितियों में तीन कम्युनिस्ट पार्टियों का खुला पत्र प्रकाशित हुए थे। चीन की कम्युनिस्ट पार्टी सीपीसी का खुला पत्र प्रकाशित हुआ था।

तीन कम्युनिस्ट पार्टियों का खुला पत्र :

ऐसा माना जाता है कि जेलों में कैद कुछ कम्युनिस्ट नेताओं ने कोमिंटर्न से एक दस्तावेज सूत्रबद्ध करने के लिए प्रार्थना की थी जिसका उपयोग पार्टी के दिशा निर्देश के रूप में किया जा सके, जो राजनीतिक और सांगठनिक समस्याओं से ग्रस्त थी और यह खुला पत्र इसी का परिणाम था।

यह खुला पत्र चीन, ग्रेट ब्रिटेन और जर्मनी की कम्युनिस्ट पार्टियों के नाम से जारी हुआ था। इस पत्र ने सीपीआई का ड्राफ्ट प्लेटफार्म डाक्यूमेंट (मसौदा मंच दस्तावेज) पर खुद को आधारित करने की सलाह दी थी। इसने राष्ट्रीय आंदोलन में कांग्रेस के साथ सहयोग शुरू करना चाहिए। (यह ड्राफ्ट प्लेटफार्म में नहीं मौजूद था)। लेकिन इस पत्र ने आर.टी.यू.सी. के गठन को प्रगतिशील कदम वर्णित किया था। (सीपीसी के अगले वर्ष के पत्र में इस भूल को सुधारने का प्रयत्न किया गया था।)

पत्र के कुछ महत्वपूर्ण बिंदु

''कम्युनिस्ट आंदोलन की सामान्य तस्वीर संतोषजनक नहीं है। एक तरफ तो मजदूर वर्ग आंदोलन का जबर्दस्त विकास हुआ है, जैसा अतीत में कभी नहीं देखा गया। दूसरी

तरफ कम्युनिस्ट पार्टी अभी भी कमजोर समूहों की एक छोटी सी संख्याा (यद्यपि यह संख्या बढ़ रह है) से मिलकर बनी हुई है, जो अक्सर ही जनसमूहों से अलग रहते हैं, जिनका एक दूसरे के साथ संबंध नहीं है, जिनमें एकता नहीं है, और जो कुछ स्थानों में राष्ट्रीय सुधारवाद से अपनी स्पष्ट भिन्नता नहीं दर्शा सके हैं और इसकी तरफ दोलायमान नीति अपनाते हैं। एक एकीकृत अखिल भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के लिए संघर्ष करने की बजाय, हम स्थानीयतावाद, प्रांतीयवाद जनता के साथ स्व अलगाव आादि पाते हैं, यद्यपि जिसे 1930 में कुछ हद तक समझा भी जा सकता था, परंतु अब यह क्रांतिकारी सर्वहारा आंदोलन के समक्ष मुख्य खतरे का प्रतिनिधित्व करता है।''

''कम्युनिस्ट हिरावल को पिछड़ जाने से उबर कर आवश्यक रूप से शीघ्रता के साथ और सर्वाधिक दृढ़ता के साथ आगे आना होगा। यह उन सभी कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के लिए पहला और सबसे महत्वपूर्ण कार्य है, जो सीपीआई के एक्शन प्लेटफार्म पर मजबूती के साथ खड़े हैं और जो भारतीय और अंतर्राष्ट्रीय सर्वहारा के उद्देश्यों के प्रति निष्ठावान हैं।''

इस प्रकार, वर्तमान समय में, बुर्जुआ, राष्ट्रीय कांग्रेस, और इसके वाम पक्ष, बोस, कांडेल्कर, राय आदि का स्वतंत्रता संघर्ष के गद्दारों के रूप में पर्दाफाश करके ही सर्वहारा को बुर्जुआ विश्वासघातियों के प्रभाव से मुक्त किया जा सकता है और सर्वहारा को एक सक्रिय राजनीतिक शक्ति से जन आंदोलन पर सम्प्रभुत्ता प्राप्त नेतृत्वकारी शक्ति में बदला जा सकता है और चरितार्थ किया जा साकता है, जब न कम्युनिस्ट पार्टी राष्ट्रीय सुधारवादियों के विरुद्ध अविचलित संघर्ष के आधार पर, स्वतंत्रता संग्राम में सर्वाधिक ऊर्जा के साथ भाग ले।''

3. ''बहरहाल, ''वाम'' राष्ट्रीय सुधारवाद के खिलाफ संघर्षरत रहनेके दौरान खुद को जनता के उन जन आंदोलनों से अलग कर लेना सही नहीं है जो प्रकटतः राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रभावहीन दिखाई पड़ते हैं। बुर्जुआ कांग्रेसी नेतृत्व और उन मजदूरों, किसानाों और शहरी निम्न बुर्जुआ के क्रांतिकारी तत्वों के बीच एक फर्क बना लेना अत्यन्त आवश्यक है, जो राष्ट्रीय कांग्रेस के विश्वासघाती चरित्र को न समझ पाने के कारण उसका अनुसरण करते हैं क्योंकि उन्हें सच ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रभुत्व में ही अपनी गुलामी दिखाई देती है।

4. ''यह आवश्यक है कि कांग्रेस द्वारा संगठित सभी जन प्रदर्शनी में हिस्सा लिया जाये, अपने खुद के कम्युनिस्ट नारों और पर्चों के साथ आगे आया जाये; पुलिस के साथ मुठभेड़ों में आगे रहा जाये, पुलिस के साथ मुठभेड़ों में आगे रहा जाये, सभी राजनीतिक गिरफ्तारियों का विरोध किया जाये इत्यादि; कांग्रेस नेताओं खास करके 'वाम' नेताओं की लगातार आलोचना की जाये, जनता के संघर्ष उच्चतर रूपों के लिए आह्वान किया जाये, जनता के संघर्ष उच्चतर रूपों के लिए आह्वान किया जाये, मेहनतकश लोगों के सामने अधिक ठोस और अधिक क्रांतिकारी कार्यभार रखे जायें।''

''अगर ''संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चे'' का भ्रम राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रभाव को बनाये रखने में अपनी भूमिका निभाता है, तो कम्युनिस्टों का आत्म–अलगाव वस्तुगत रूप से सुधारवादियों को ही मदद करेगा और बुर्जुआ राष्ट्रीय कांग्रेस से मजदूरों को तोड़ कर अपने पक्ष में ले आने की प्रक्रिया की गति धीमी पड़ जायेगी।''

5. ''बुर्जुआ राष्ट्रीय कांग्रेस के विरुद्ध संघर्ष करते समय कुछ साथी (कामरेड) स्वतंत्रता आंदोलन को एक रूप मानते हुए, सर्वहारा के हित को यांत्रिक रूप से, उसके विरोध में देखते हैं, जबकि दूसरे कम्युनिस्ट, इस गलत समझ के विरुद्ध लड़ते हुए बुर्जुआ के बारे में, अस्थिरता के बारे में, निम्न बुर्जुआ के ढुलमुलपन और हिचकिचाहट के बारे में भूल जाते हैं,

व्यवहार में उनके साथ शामिल हो जाते हैं, या उनका अनुसरण करने लगते हैं; और इस प्रकार वस्तुगत रूप में अनुसरण को राष्ट्रीय बुर्जुआ नेतृत्व के अधीन बना देते हैं।''

6. ''वैचारिक रूप से और सांगठनिक रूप से एकजुट, कोमिंटर्न के एक सच्चे प्रभाग के रूप में, सीपीआई के क्रियामंच (प्लेटफार्म आफ एक्शन) और कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के कार्यक्रम के लिए संघर्ष करने वाली एक अखिल भारतीय भूमिगत, केन्द्रीकृत कम्युनिस्ट पार्टी के नारे को, लोगों को इकट्ठा करने और पार्टी निर्माण के लिए और ढुलमुलपन के विरुद्ध, अलग दायरे में पड़े रहने की प्रवृत्ति के विरुद्ध, संघर्ष को धीमा करने के विरुद्ध, राष्ट्रीय सुधारवाद तथा अवसरवादी संकीर्णता के विरुद्ध, सभी के विरुद्ध जो मजदूर वर्ग के विजय पथ में बाधा पहुंचाते हैं, संघर्ष का केन्द्रीय नारा बन जाना आवश्यक है।''

7. ''अगर कम्युनिस्ट (अपने पास सीपीआई के प्लेटफार्म एक्शन के मौजूद रहते हुए) और वर्तमान पत्र से सहमत होते हुए भी, भारतीय और वैश्विक सर्वहारा के महान ऐतिहासिक उद्देश्यों के लिए संघर्ष करने की बजाय, सिद्धांतविहीन संकीर्ण झगड़ा गुटबाजी और व्यक्तिगत समूहबंदी के रास्ते का अनुसरण करते हैं तो इससे बड़ा कोई अन्य अपराध नहीं होगा।''

सीपीआई को सीपीसी का खुला पत्र

जुलाई 1933 में सीपीसी ने सीपीआई को एक खुला पत्र भेजा। यह याद रखना आवश्यक है कि सीपीसी ने पहले से ही अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन में एक सम्मानित स्थान प्राप्त कर लिया था। यह पत्र भी ड्राफ्ट प्लेटफार्म की सीमाओं के भीतर अपने विचारों को व्यक्त करता था। यह ट्रेड यूनियन मोर्चे पर सीपीआई द्वारा अनुसरण की जाने वाली संकीर्ण प्रवृत्ति की आलोचनाा भी करता था। यह सुधारवादी ट्रेड यूनियनों में काम करने की जरूरत की व्याख्या करता था। संयुक्त मोर्चे की रणनीति के अपने स्वयं के अनुभवों के मद्देनजर, इसने अपनी बिरादर पार्टी के लिए संयुक्त मोर्चेकी अपनी द्वन्द्वात्मक समझ को व्यायायित करने का प्रयास किया था। इसने स्पष्ट रूप से, वाम संकीर्णता और अवसरवाद, दोनों के विरुद्ध और एक केन्द्रीकृत, भूमिगत पार्टी संगठन के निर्माण के लिए संघर्ष करने की आवश्यकता को व्याख्यायित किया था।

पत्र के कुछ महत्वपूर्ण बिंदु

1. ''भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण प्रक्रिया की धीमी गति से हम ज्यादा और ज्यादा असहज होते जा रहे हैं। यह सही है कि भारत में कम्युनिस्टों ने अनेक कठिनाइयों का सामना किया है।... इन समस्त कठिनाइयों के बावजूद, हमें इस वास्तविकता को समझ लेना चाहिए कि सभी कम्युनिस्ट समूहों को एक साथ लाने के लिए, एक अखिल भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी संगठित करने के लिए, परिस्थितियां अनुकूल हैं और पूर्णतः परिपक्व हैं।... भारतीय बुर्जुआ, जिसने नागरिक अवज्ञा आंदोलन रोक दिया है और जो अपनी समर्पण नीति को जारी रखे हुए हैं, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शासन का रास्ता साफ करता है। इसी समय, मेहनतकशों के और भी बड़े हिस्से साम्राज्यवादियों और सामंतवादियों के विरुद्ध संघर्ष के क्रांतिकारी रास्ते की ओर देखने लगे हैं, वे क्रांतिकारी नेतृत्व की तलाश में हैं। इन स्थितियों में, कम्युनिस्ट पार्टी का शीघ्र निर्माण, भारतीय क्रांति का केन्द्रीय कार्यभार बन गया है।''

2. ''कम्युनिस्टों का काम है, इन सभी जनवादी आंदोलनों में, वर्तमान व्यवस्था के खिलाफ असंतोष से पैदा सभी आंदोलनों में, उनके खड़े होने के कारण कोई भी सवाल रहे हों, प्रवेश करना और उसका नेतृत्व अपने हाथ में ले लेना और सभी जगह कम्युनिस्ट प्रचार

और उत्प्रेरण (एजीटेशन) के साथ पहुंच जाना, किसी भी बहाने, अपने प्रस्तावों और नारों को सामने ले आना, लगातार विश्लेषण करना और दिखाना कि व्यवहारिक रूप से राष्ट्रीय सुधारवादियों का रास्ता पराजय और गुलामी का रास्ता है।''

3. ''हमारी पार्टी एक जन पार्टी बन चुकी है और यही चीन के राजनीतिक कार्यक्षेत्र में एक बड़ी भूमिका निभा रही है। ऐसा सिर्फ जनवादी आंदोलनों में खासकर चीन को आजादी के लिए साम्राज्यवाद विरोधी संघर्षों में, हमारी पार्टी की भागीदारी की वजह से संभव हो सका है... हमारी पार्टी का पुराना नेतृत्व संयुक्त मोर्चे की रणनीति लागू करते समय निकृष्टतम अवसरवादी गलतियां करने से बच नहीं सका। यह पर्याप्त रूप से कम्युनिस्ट पार्टी की स्वतंत्रता की रक्षा नहीं कर सका और बुर्जुआ के हित में ही, जनता के संघर्ष को सीमित और संकीर्ण करता रहा। और अपने हमने राष्ट्रीय बुर्जुआ के साथ संयुक्त क्रांतिकारी मोर्चे की रणकुशलता का पालन कितने ही बुरे तरीके से क्यों न किया हो, कितनी ही बड़ी गलतियां क्यों न किया हो, फिर भी यह संयुक्त मोर्चे के उन रणकौशलों की ही देन है कि साम्राज्यवादियों के विरुद्ध संघर्ष में कारक (फैक्टर) में बदल देने में अपनी सफलतायें अर्जित की हैं।''

4. ''क्रांति के हमारे अनुभव, जिन्हें हम आपके साथ साझा करना चाहते हैं। मुख्य रूप से स्वतंत्रता आंदोलन के नेतृत्व के लिए, जो क्रांति के भाग्य के लिए निर्णायक है, सर्वहारा के संघर्ष में निहित है। परंतु सर्वहारा का प्रभुत्व की पूर्वापेक्षा है, मजदूर वर्ग और मेहनतकश किसान समुदायों की मजबूत बनाने के लिए पार्टी के अथक प्रयास की।...''

5. ''यहां हम आपका ध्यान उस सर्वाधिक गंभीर गलती की और दिलाना चाहते हैं जो कुछ उन भारतीय कम्युनिस्टों द्वारा की गई हैं, जो पार्टी और ट्रेड यूनियन की भूमिकाओं को गड्डमड्ड कर देते हैं और जो सर्वहारा की एकता के लिए संघर्ष का नेतृत्व अपने हाथों में ले लेने में असमर्थ हैं... कुछ भारतीय कम्युनिस्ट यह समझने में असमर्थ हैं कि अवसरवाद के विरुद्ध संघर्ष की चाहत का अर्थ अनिवार्यतः यह नहीं है कि जन संगठनों में फूट पड़ जाये और उन ट्रेड यूनियनों से कम्युनिस्टों और वर्ग सचेत मजदूरों को निकाल लिया जाय जिन पर अभी सुधारवादियों और राष्ट्रीय सुधारवादियों का नेतृत्व कायम है।''

6. ''... आपको उस निम्न बुर्जुआ व्यक्तिवाद, स्वकेन्द्रित गर्व के विरुद्ध आवश्यक रूप से संघर्ष चलाना चाहिए जो पार्टी की एकबद्धता में रोड़ा बना हुआ है। आपके उनके खिलाफ अवश्य संघर्ष करना चाहिए जो एक अखिल भारतीय भूमिगत कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण की अनिवार्यता से इंकार करते हैं या विरोध रखते हैं। हमें उन सबके विरुद्ध संघर्ष चलाना चाहिए जो कानूनी संभावनाओं के इस्तेमाल की उपेक्षा करते हैं, जो पुछल्ले की स्थिति धारण किये रहते हैं, जो कांग्रेसियों और सुधारवादी नेताओं का पर्दाफाश करने में कोताही दिखाते हैं और जो कम्युनिस्टों को जनवादी आंदोलनों से और साम्राज्यवाद विरोधी संघर्षों से कम्युनिस्टों को दूर खींच लाते हैं।''

पार्टी के पुनर्निर्माण का प्रयास

1930 की शुरुआत में, कलकत्ता पार्टी के पुर्नसंगठन के लिए एक महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया था। 1931 में हलीम ने पहल की और ड्राफ्ट प्लेटफार्म और बिरादराना पार्टियों के पत्रों के आधार पर क्रांति– हमारे कार्यभार नाम से एक दस्तावेज तैयार किया। कमेटी ने पार्टी एकता के और एक तदर्थ केन्द्रीय कमेटी के निर्माण के लिए प्रयास किए। जब पार्टी कठिन दौर में थी तब नौजवान कम्युनिस्टों ने खास तौर से कानपुर, कलकत्ता और बंबई में ट्रेड यूनियन मोर्चे पर कार्य किया था। अमीर हैदर खान ने, जो रूस से लौटे थे, दक्षिण भारत में

कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण के लिए कड़ा श्रम किया था। पुलिस आफीसरों की रिपोर्ट के अनुसार, कोमिंटर्न द्वारा भारत में भेजे गये तमाम लोगों में, वह सर्वाधिक सक्षम संगठनकर्ता था। उसने 1933 में, तदर्थ केन्द्रीय कमेटी (सीसी) के निर्माण में निर्णायक भूमिका भी निभाई थी।

1930 की शुरुआत में, कलकत्ता और इसके परिधिगत स्थानों में दस के करीब समाजवादी समूह कार्यरत थे। उनके पास अपने खुद को पत्र थे। एम.ए.फारुकी, सोमनाथ लाहिड़ी, रणेन सेन, मोहिनी सिंह, भवानी सेन और अन्य महत्वपूर्ण कम्युनिस्टों नेताओं ने ठीक इसी समय में अपना राजनैतिक जीवन शुरू किया था। 1933 के बाद से कलकत्ता कमेटी ने द कम्युनिस्ट नामक पत्र प्रकाशित करना शुरू किया था।

सीपीआई ने भागीदारी पार्टियों से प्राप्त पत्रों के बाद अपना अलगाव खत्म करने के प्रयास किये। 1933 में इसने ऐटक के साथ काम करना शुरू किया। बाद में इसने सीएसपी (कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी) के साथ संपर्क स्थापित किए।

गांधी के नेतृत्व के प्रति मोहभंग होने और महामंदी के दौरान सोवियत यूनियन की विजयों ने कांग्रेस में वाम विचार फैल गये थे। कांग्रेस का वाम पक्ष और समाजवादी विचारों वाले निम्न बुर्जुआ धड़े काफी मजबूत हो गये थे। वास्तव में कांग्रेस के भीतर वर्ग शक्तियों के पुर्नसमूहन के लिए अनुकूल वातावरण निर्मित हो रहा था। राष्ट्रीय बुर्जुआ और निम्न बुर्जुआ को शक्तिशाली मजदूर पार्टी के पीछे लामबंद होने के लिए प्रेरित करने की आवश्यक दशायें स्थापित हो चुकी थीं। अगर अपने पीछे मजदूर वर्ग की पृष्ठभूमि वाली एक कम्युनिस्ट पार्टी मौजूद होती तो यह स्थिति उसके दलाल पूंजीपति की, एक एक वैकल्पिक शक्ति, बनकर सामने आ खड़े होने के लिए काफी मुफीद थी। परंतु उस समय पार्टी केवल नाममात्र को ही मौजूद थी। इन परिस्थितियों में 1934 में सीपीआई से स्वतंत्र एक कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का निर्माण हुआ। बाद के समय में इस सीएसपी ने सीपीआई की उन्नति में काफी सहायता की थी।

तदर्थ केन्द्रीय कमेटी

1933 के अंत तक मेरठ षडयंत्र के अभियुक्त जेल से बाहर आने लगे थे। इसके साथ ही पार्टी की पुनर्रचना के प्रयासों ने गति प्राप्त कर ली थी। अगस्त में जी.एस. अधिकारी रिहा हुए। वे नवंबर में कलकत्ता चले गये थे। कलकत्ता कमेटी ने कम्युनिस्टों की एक गुप्त मीटिंग आयोजित की। दिसंबर में इस पांच दिवसीय सम्मेलन चार भिन्न स्थानों में चला था। इन लोगों ने इस सम्मेलन में भाग लिया था। अब्दुल हलीम, बंगाल से लाहिड़ी; अधिकारी, एस.जी. पक्कड़ बंबई से; यूपी से पी.सी. जोशी पंजाब से गुरुदत्त सिंह; नागपुर से जयवंत।

अधिकारी के सचिवत्व में तदर्थ कमेटी गठित कर ली गई। चूंकि यह संपूर्ण पार्टी का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी, इसलिए इसे तदर्थ केन्द्रीय कमेटी का ''केन्द्रक'' माना गया।

इस सम्मेलन में ये निर्णय लिए गये–

1. नये राजनीतिक प्रस्ताव और कार्यक्रम को तैयार करना है; 2. अन्य राज्यों के पार्टी समूहों के साथ संपर्क कायम करना है; 4. बंबई और अन्य प्रांतों में गुटीय झगड़ों को सुलझाना है; 5. मार्च 1934 में ऐसी केन्द्रीय कमेटी के निर्माण के लिए जो नियमित रूप से कार्य करे, एक अखिल भारतीय सम्मेलन आयोजित करना है।

1933 के अंत तक जोगेलकर, एस.एस.मिराजकर और एस.वी. घाटे भी, जेल से रिहा होने पर तदर्थ सी.सी. में शामिल कर लिये गये। 1934 से कलकत्ता कमेटी का पत्र द कम्युनिस्ट, केन्द्रीय कमेटी के मुखपत्र के तौर पर निकलने लगा।

1933–34 की अवधि में कम्युनिस्ट पार्टी एक राजनीतिक शक्ति के रूप में पुनः प्रकट हो गई थी। परंतु कम्युनिस्ट पार्टी पर रुकावटें जारी रही थीं। 1933 से हड़तालों में वृद्धि होने लगी थी। कम्युनिस्ट कार्यकर्ता नये स्थानों में फैलने लगे थे। अधिकारी गिरफ्तार हो गये। मीर जाफर ने सचिव का दायित्व ग्रहण कर लिया। 1935 में मीर जाफर और देशपांडे सिंगापुर में, जब वे कोमिंटर्न की सातवीं कांग्रेस में शामिल होने जा रहे थे, गिरफ्तार कर लिये गये। सोमनाथ लाहिड़ी ने अपनी पहल पर कुछ समय तक सचिव का कार्य किया। 1936 तक सीसी की सक्रियता ऐसी ही अस्थिरता का शिकार बनी रही थी। 1934 की जुलाई में सरकार द्वारा सीपीआई पर प्रतिबंध लगा दिया गया। यह प्रतिबंध 1943 तक जारी रहा था।

पार्टी का विस्तार

तदर्थ केन्द्रीय कमेटी का गठन 1933 में हुआ था। जैसा कि कलकत्ता सम्मेलन ने तय किया था, 1934 में, राजनीतिक थीसिस का मसौदा (ड्राफ्ट पोलिटिकल थीसिस) और पार्टी संविधान प्रकाशित कर लिया गया। राजनीतिक थीसिस ड्राफ्ट प्लेटफार्म और दो खुले पत्रों के आधार पर तैयार की गई थी। समूचे पार्टी संगठन में इन पर बहसें चलाई गईं। इन बहसों से वाम संकीर्ण गलतियों से बाहर आने में मदद मिली।

सीपीआई द्वारा प्रकाशित यह पहला विस्तृत कार्यक्रम यह पहला कार्यक्रम था। पार्टी संविधान ने पहली बार लेनिनवादी पार्टी के निर्माण के लिए आवश्यक सांगठनिक सिद्धांतों को दर्ज किया था। यह नहीं, इसने गुप्त पार्टी निर्माण पर और गुप्तता की तकनीकी प्रक्रिया पर भी ध्यान केन्द्रित किया था। गुप्त और खुले संगठनों के बीच तालमेल पर भी बहस हुई थी। ये दस्तावेज सीपीआई के क्रांतिकारी पार्टी के रूप में उमर आने में अत्यंत मददगार हो सकते थे। नागरिक अवज्ञा आंदोलन के बाद की राजनीतिक स्थितियों ने जनता के साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन पर मजदूर वर्ग के प्रभुत्व स्थापित हो सकने के लिए अनुकूल वातावरण निर्मित कर दिया था।

सी.पी.आई. की सी.ई.सी. बैठक 1935 में नागपुर में आयोजित हुई। एस.जाम्मेकर, एस. जयवंत बंबई से, पी.सुन्दरैया मद्रास प्रांत से और लाहिड़ी तथा रणेब बंगाल से सम्मेलन में शामिल हुए थे। 1935 में, सिंगापुर में लाहिड़ी और देशपांडे की गिरफ्तारी के बाद लाहिड़ी ने सचिव का दायित्व संभाल लिया था। 1936 की शुरुआत में बंबई के पार्टी सेंटर से लाहिड़ी गिरफ्तार कर लिए गये। आइ.एन.सी. की लखनऊ कांग्रेस के संदर्भ में अप्रैल 1936 में सी.ई. सी. की पुनः बैठक हुई। इस मीटिंग ने पीसी जोशी को अपना सचिव चुन लिया। पी.सी. जोशी अगले बारह वर्षों तक सचिव बने रहे थे तब तक जब उन्हें दक्षिणपंथी अवसरवादी के रूप में तीखी आलोचना झेलनी पड़ी थी और उन्हें उनके पद से हटा दिया गया था और पार्टी से निस्काषित कर दिया गया था। खैर, पीसी जोशी, एक घोष, जी.ए. अधिकारी और आर.डी. भारद्वाज को लेकर पोलिट ब्यूरो का गठन कर लिया गया। जोशी ने पार्टी का केन्द्र कलकत्ता को हस्तांतरित कर दिया।

1936 में कम्युनिस्ट, कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में शामिल हो गये। उस समय सी.एस. पी. पहले से ही जन आधारित पार्टी के रूप में कार्य कर रही थी। सी.एस.पी. ने पहले यू.पी. बिहार में ताकत इकट्ठा की थी और उसके बाद दक्षिण की ओर रुख किया था। इसने किसानों को भी संगठित किया था। सीपीआई के लिए जनता में खास करके किसानों में, देश के विस्तृत क्षेत्रों में घुसपैठ करने में, सी.एस.पी. काफी मददगार साबित हुई थी। सी.एस. पी. के प्रांतीय स्तर के लगभग सभी संगठन सीपीआई के नियंत्रण मे आ गये थे।

इस अवधि में पंजाब में हरकिशन सिंह सुरजीत, सत्यपाल, डांगे और जेड एक अहमद ने पार्टी में प्रवेश लिया था और काम करना शुरू किया था। अंडमान की सजायाफ्ता (क्रांतिकारी), भवानी सेन और प्रमोद दास गुप्ता भी सी.पी.आई. में शामिल हुए। सुनील मुकर्जी ने पूर्णिया के किसान विद्रोह पर आधारित, बिहार में सी.पी.आई. का गठन किया। जेड.ए. अहमद, सैयद जहीर और ज्योति बसु जो इंग्लैण्ड में अपने उच्च अध्ययन के दौरान कम्युनिस्ट बन गये थे, इसी समय पार्टी में शामिल किये गये थे।

1937 के अंत में पार्टी को बंबई में स्थानांतरित कर दिया गया। 1938 की फरवरी से बंबई से नेशनल फ्रंट नाम से एक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित होना शुरू हुआ था। इस पत्र के संपादक मंडल में, जोशी–मुख्य संपादक, अधिकारी, डांगे और घोष शामिल थे। बंगाली पत्र गणशक्ति मराठी पत्र क्रांति पुनः प्रकाशित होने लगे थे। तेलगु में नवशक्ति, तमिल में जनशक्ति और मलयालम में प्रभात का भी प्रकाशान शुरू हो गया था।

1936 की दत्त–ब्रेडले थीसिस का अनुसरण करते हुए और राष्ट्रीय मोर्चे की नीति अपनाते हुए सीपीआई का नेतृत्व एक बाद पुनः कानूनवाद की ओर बढ़ चला था और खुले तौर से कार्य करने लगे थे।

सीपीआई–किसान आंदोलन

ठीक शुरुआत से ही कोमिंटर्न सीपीआई को किसान आंदोलन के निर्माण पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए कहती रही थी। परंतु शुरुआत से ही सीपीआई किसान आंदोलन की अवहेलना करती आई थी और इसमें अपनी अरुचि प्रदर्शित करती रही थी। सीपीजीबी के नेता स्प्रैट और ब्रैडले ने जो कोमिंटर्न द्वारा भेजे गये थे, केवल ट्रेड यूनियनों के निर्माण को ही महत्व दिया था। ड्राफ्ट प्लेटफार्म ने पहली बार कृषि क्रांति को भारतीय क्रांति की धुरी घोषित किया था। ऐसे समय में जब अपनी वाम संकीर्णता की नीति से छुटकारा पा रही थी और इसने प्लेटफार्म की क्रांतिकारी नीति को लागू करने के लिए प्रयास शुरू कर दिये थे, दत्त, ब्रैडले थीसिस ने सी.पी.आई. को दक्षिणपंथी अवसरवादी नीति की ओर मोड़ दिया। यही वह तरीका है जिससे क्रांतिकारी कृषि कार्यक्रम का महत्व खत्म कर दिया गया। किसान आंदोलन में सीपीआई की भूमिका को इसी पृष्ठभूमि में देखा जाना चाहिए।

हम जानते हैं कि भारत के आधुनिक इतिहास के समूचे दौर में, किसानों ने अनगिनत साम्राज्य विरोधी और सामंतवाद विरोधी लड़ाइयां लड़ी हैं। प्रथम विश्व युद्ध के बाद के आर्थिक संकट ने अनेक किसान संघर्षों को जन्म दिया था। चंपारण से लेकर बारदोली तक कांग्रेस ने किसान संघर्षों का नेतृत्व भूस्वामियों और धनी किसानों के हितों की सुरक्षा करने के लिए किया था। दक्षिण भारत में राज्यों, आन्ध्रा, मद्रास, मालाबार, कोचीन और त्रावणकोर में लगान में कमी के लिए ऋण माफी के लिए, बंधुआ मजदूरी की समाप्ति के लिए स्वतः स्फूर्त किसान संघर्ष उठ खड़े हुए थे। सी.एस.पी. के नेताओं, एन.जी.रंगा, कृष्णा पिल्लई, ए. के.गोपालन, ई.एम.एस. नम्बूदरीपाद और अन्य ने इनकी अगुवाई की थी।

ठीक इसी अवधि में, बिहार में सहजानन्द सरस्वती एवं सी.एस.पी. नेताओं में किसान संघर्ष जारी थे। 1930 के दशक के प्रमुख केन्द्र बन गये थे। बंगाल और पंजाब में डब्ल्यू.पी. पी. के नेतृत्व में किसान आंदोलन शुरू हुए थे। समाजवादियों की पहल पर अखिल भारतीय किसान कांग्रेस का गठन किया गया। आगे चलकर इसे अखिल भारतीय किसान सभा–ए–आइ.के.एस. कहा जाने लगा। सी.एस.पी. के साथ काम करते हुए, सीपीआई ने बिना किसी विशिष्ट क्रांतिकारी कृषि कार्यक्रम के, स्वतः स्फूर्त तरीके से, किसान संघर्षों का नेतृत्व संभाल लिया। लेकिन अपनी वर्ग सहयोग की कार्यदिशा में यह सी.एस.पी. के साथ काम

करती रही। सीपीआई द्वारा किसान सभा की गतिविधियों के लिए किये गये प्रयास और कोष बहुत कम थे। इस वजह से वह नाममात्र कुछ क्षेत्राों में ही सीमित रह गया था। यह ऐसे किसी अखिल भारतीय स्तर के संगठन में नहीं बदल सका, जो पूरे देश में किसानों के व्यापक समुदायों को नेतृत्व दे सकता। 1942 तक सीपीआई ने ए.आई.के.एस. पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। परंतु न तो इसने खुद को किसान समुदायों के निर्विवाद नेता के रूप में विकसित करने का प्रयत्न किया और न ही इसने इस ताकत का उपयोग राष्ट्रीय आंदोलन पर कांग्रेस के एकाधिकार को तोड़ने में किया।

गांधी, राष्ट्रीय कांग्रेस में मजदूरों और किसानों को शामिल करने की अनुमति के खतरों को साफ–साफ देख रहे थे। कांग्रेस हमेशा खुद को मजदूरों और किसानों के संघर्षों के प्रति अरुचि प्रदर्शित करती रही थी। कांग्रेस प्रभाव को काम करने के सभी तरीके इस्तेमाल किये गये थे।

ट्रेड यूनियन आंदोलन में एकता

1933 के बाद से आर.टी.यू.सी. ने सुधारवादी ट्रेड यूनियनों के साथ काम करना शुरू किया। मजदूर वर्ग पर पूंजीवाद के आक्रमण में वृद्धि के साथ साथ मजदूरों के संघर्ष भी खड़े होने लगे थे। मजदूर एकता के लिए मजदूरों का दबाव बढ़ता ही जा रहा था। 1935 में ए.आई.टी.सी. और आर.आई.टी.सी. के बीच एक साथ मिलकर काम करने के लिए बातचीत शुरू हुई। 1935 के कलकत्ता सत्र में ए.आई.टी.यू.सी. और आर.टी.यू.सी. का विलय हो गया। देश में हड़तालें उठान पर थीं। सरकार ने विरोध भी जारी थे। सरकार ने बंबई औद्योगिक विवाद अधिनियम (बांबे इंडस्ट्रियल डिस्प्यूट एक्ट) 1936, पारित किया। 1935 में, 145 हड़तालें हुई थीं, जिनमें करीब 1,44,217 मजदूरों ने भाग लिया था। 1937 में 137 हड़तालें हुई थीं जिनमें 1,68,029 मजदूरों ने भाग लिया था। कानपुर की कपड़ा मिलों में और कलकत्ता की जूट मिलों में भी अनेक हड़तालें हुई थीं। बंगाल की जूट मिलों के 25000 मजदूर अपनी रोजी रोटी गवां बैठे थे। आसाम में डिगबोई आयल मजदूरों ने 1939 में हड़ताल कर दी। कांग्रेस सरकार ने हड़ताल पर अमानवीय विरोध लागू किया था।

कम्युनिस्टों ने इन हड़तालों के संयुक्त नेतृत्व के लिए प्रयास किए थे। वे अपने ट्रेड यूनियन आधार को विस्तार करना चाहते थे। 1938 में नागपुर में ऐटक सत्र आयोजित हुआ। एन.एफ.टी.यू. पुनः ऐटक में शामिल हो गयी थी। यह एकता, ''किसी भी अंतर्राष्ट्रीय संगठन से संबद्धता न करने'', ''हड़ताल और राजनीतिक मामलों में तीन चौथाई बहुमत'' जैसी शर्तों पर स्थापित हुई थी। ये शर्तें एन.एफ.टी.यू. के संचालन पर नियंत्रण के अतिरिक्त थीं। एन. एफ.टी.यू. के साथ प्राप्त की गई सिद्धांतविहिन एकता को आगे चलकर भंग होना ही था।

कांग्रेस सरकारों ने, जो इस बार सत्ता में आई थी, किसानों और मजदूरों को नियंत्रित रखने और उन पर आक्रमण करने में ब्रिटिश सरकार को मात कर दिया था।

ए.आर.एस.एफ. का निर्माण :

सी.पी.आई. ने 1930 के दशक में विद्यार्थी संगठनों के निर्माण के लिए, विभिन्न प्रांतों में प्रयास किये थे। दिसंबर 1935 में बंगाल प्रांतीय छात्र लीग का गठन हुआ था। विभिन्न राज्यों में ऐसे ही संगठन गठित किये गये थे। इन संगठनाों के माध्यम से और कुछ छात्र नेताओं की पहले से 1936 में अखिल भारतीय विद्यार्थी संघ : आईएसएफ (आल इंडिया स्टूडेंट फेडरेशन : ए.आई.एस.एफ.) का निर्माण हुआ। ठीक शुरुआत से आइसफ पर कम्युनिस्टों का नियंत्रण स्थापित था।

अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ का गठन

प्रेमचंद एवं अन्य प्रगतिशील लेखकों की पहलकदमी पर 1936 में कर लिया गया था।

संक्षिप्त सारांश

1929 में शुरू होने वाली वैश्विक महामंदी के परिणामस्वरूप मजदूरों किसानों एवं अन्य उत्पीड़ित जनों को भीषणतम कठिनाइयां झेलनी पड़ी थीं और जनता के बीच सामान्य बेचैनी की आग ने पूरे देश को अपने लपेटे में ले लिया था।

मेरठ षडयंत्र केस में हुई गिरफ्तारियों की वजह से अपने संगठन के छिन्न–भिन्न हो जाने के कारण कम उम्र कम्युनिस्ट पार्टी ने काफी गंभीर उथल पुथल का सामना किया था और चूंकि पार्टी में राजनीतिक सांगठनिक और वैचारिक एकता स्थापित नहीं की जा सकी थी, अतः यह अनेक समूहों में बिखर गई थी। दरअसल उस समूहवाद के उत्श्रृंखल हो जाने की वजह से, जो जन्म से ही इसमें मौजूद था, कम्युनिस्ट पार्टी एक केन्द्रीकृत संगठन नहीं रह गई थी।

ऐसी स्थिति में, एक देशव्यापी साम्राज्यवाद विरोधी उबाल उठ खड़ा हुआ था और कांग्रेस के बाहर, भीतर दोनों तरफ पूर्ण स्वराज की मांग ने जोर पकड़ लिया था। जब दलाल बुर्जुआ ने भी डोमिनियन स्टेटस की अपनी मांग के लिए कठोर रुख अपना लिया था, कांग्रेस ने नागरिक अवज्ञा आंदोलन छेड़ दिया था। जहां राष्ट्रवादी क्रांतिकारियों का वीरोचित संघर्ष इस अवधि में चरम पर जा पहुंचा था, वहीं मजदूरों और किसानों ने भी जुझारू संघर्ष छेड़ दिये, हालांकि ये ज्यादातर स्वतःस्फूर्त ही थे। इस प्रकार एक विस्फोटक स्थिति का निर्माण हो गया था। नागरिक अवज्ञा आंदोलन के जुझारू और क्रांतिकारी पथ पर बढ़ते हुए गांधीवादी सीमा को पार कर जाने से भयभीत होकर गांधी ने ब्रिटिश सरकार से न्यूनतम आश्वासन भी पाये बगैर, अपमानजनक गांधी–इरविन पैक्ट पर हस्ताक्षर करके गांधी ने अवज्ञा आंदोलन को वापस ले लिया।

1930 की शुरुआत से ही सीपीआई के पुनर्गठन और पुननिर्माण के लिये प्रयास जारी थे। ऐसी परिस्थिति में, सीपीआई का ड्राफ्ट प्लेटफार्म आफ एक्शन सामने आया था और इसने कांग्रेसी नेतृत्व के साम्राज्यवाद समर्थक और सामंतवाद समर्थक प्रतिकारी चरित्र को ठीक ढंग से पहचान लिया था और तथाकथित वाम नेताओं के विरुद्ध समझौताविहीन संघर्ष चलाने की आवश्यकता महसूस कर ली थी। यह दस्तावेज ने जो भारतीय क्रांति में कृषि क्रांति के महत्व को प्रदान करता था, सीपीआई के लिए एक विस्तृत कार्यक्रम को सूत्रबद्ध करने का प्रयास किया था। ड्राफ्ट प्लेटफार्म की रोशनी में, गलतियों को सुधार कर, पार्टी के पुर्नसंगठन के प्रयास शुरू किये गये थे और एक मजबूत भूमिगत पार्टी की आवश्यकता को भी मान लिया गया था।

परंतु पार्टी ने वाम संकीर्णतावादी की मनोवृत्ति अपना ली थी और वह राष्ट्रीय आंदोलन से खुद को अलग करते रखते हुए स्वनिर्मित अलगाव के गर्त में जा पड़ी थी। वाम संकीर्णता की यह रणनीति की गलत समझ और व्यवहार में इसकी रणकुशलता को गलत तरीके से लागू करने का परिणाम थी। हालांकि इसने बड़े पूंजीपतियों द्वारा साम्राज्यवाद के साथ सांठ–गांठ कर लेने की सही पहचान कर ली थी, परंतु सी.पी.आई. इस पर ध्यान देने में असफल रह गई कि ड्राफ्ट प्लेटफार्म न तो बुर्जुआ के साथ संयुक्त मोर्चे को और न ही, उसके साथ मिलकर संयुक्त कार्रवाई का परित्याग करता है। यह संकीर्ण समझ ट्रेड यूनियन में भी प्रवेश कर गई थी और उसे आर.आई.टी.सी. के गठन को अंजाम तक पहुंचा दिया।

तीन पार्टियों के और सीपीसी के खुले पत्रों ने बहरहाल इन संकीर्ण गलतियों को पहचानने और सुधारने में मदद पहुंचाई। पार्टी ने उन मजबूत कानूनवादी और राष्ट्रवादी भटकावों को सुधारने की तरफ निर्णायक कदम बढ़ाये थे, जो जन्म से ही इसके भीतर मौजूद थे और पार्टी ने राष्ट्रीय आंदोलन और समग्रता में भारतीय क्रांति, दोनों के प्रति मजदूर वर्ग के सही दृष्टि को अपनाने का भी प्रयास किया था।

पार्टी ने राष्ट्रीय आंदोलन में अपनी सर्वहारा दृष्टि के साथ भाग लेने का प्रयास किया था और सी.एस.पी. में प्रवेश किया था। यह ट्रेड यूनियन में एकता स्थापित करने के लिए और किसान आंदोलन का निर्माण करने के लिए आतुर थी। यह वही अवधि थी जब बाद के दिनों के बिहार, केरल एवं अन्य स्थानों के मजबूत किसान आंदोलन की बुनियाद रखी गई थी। सीपीआई ने, अपने इतिहास में पहली बार कोमिंटर्न के एक भारतीय घटक के रूप में घोषित किया था और कोमिंटर्न से इसके संबद्ध संगठन के रूप में मान्यता हासिल की थी।

1936 में दत्त ब्रैडले थीसिस को अपनाने से पहले सीपीआई ने अपने अलगाव और गुटीय झगड़ों से उबरकर अपने वर्ग चरित्र को सुधार कर, एक मजबूत और वास्तविक क्रांतिकारी पार्टी के निर्माण की ओर पहले कदम बढ़ाये थे।

1935–39 की अवधि में, जिसमें साम्राज्यवाद तेज गति से, द्वितीय विश्व युद्ध के ओर चला जा रहा था और सभी महत्वपूर्ण साम्राज्यवादी देशों में फासीवाद अपनी ताकत को मजबूत करता रहा जा रहा था, जापान ने फासीवादी शिविर में पदार्पण किया। स्पेन में प्रतिक्रांति के जरिये फासिस्ट फ्रैंको सत्ता में आया। समूचे विश्व में पूंजीवाद ने मजदूर वर्ग के विरुद्ध आक्रामक हो रहा था। फ्रांस में संयुक्त मोर्चे की रणनीति की मदद से कम्युनिस्टों ने फासिस्टों को पराजित कर दिया था। 1935 में सातवीं कांग्रेस में कोमिंटर्न ने **फासिज्म विरोधी जन मोर्चा (पीपुल्स फ्रंट अगेंस्ट फासिज्म)** के लिए आह्वान किया था।

कोमिंटर्न की सातवीं कांग्रेस

कोमिंटर्न की सातवीं कांग्रेस 1935 में 25 जुलाई से 21 अगस्त तक चली थी। यह कोमिंटर्न की अंतिम कांग्रेस थी। यह कांग्रेस ऐसे समय में आयोजित हुई थी जब सारे विश्व में फासीवाद एक प्रमुख खतरे के रूप में मंडरा रहा था।

1. सभी पूंजीवादी देशों में, मजदूर वर्ग के संयुक्त मोर्चे पर आधारित व्यापक फासिस्ट विरोधी संयुक्त जन मोर्चा (ब्राड बेस ऐंटी फासिस्ट पीपुल्स युनाइटेड फ्रांट का निर्माण करना है। इसका अर्थ यह है कि मजदूर वर्ग का संयुक्त मोर्चे को जिसमें सामाजिक जनवादी भी शामिल रहेंगे ऐसे किसी फासीवादी विरोधी मोर्चे का आधार होना चाहिए। बुर्जुआ के फासिस्ट विरोधी पक्ष को भी जनता को भी जनता के मोर्चे में स्थान देना चाहिए। छठी कांग्रेस के नारे 'युद्ध को गृह युद्ध में बदल देना चाहिए। छठी कांग्रेस के नारे 'युद्ध को गृह युद्ध में बदल दो के स्थान पर सातवीं कांग्रेस ने फासिस्ट विरोधी सरकार का नारा दिया था।

2. ''उपनिवेशों और अर्द्धउपनिवेशों में कम्युनिस्ट पार्टी के सामने सबसे बड़ा कार्यभार एक साम्राज्यवाद विरोधी जनमोर्चे के निर्माण के लिए कार्य करना है। इस उद्देश्य से यह आवश्यक है कि साम्राज्यवाद को बाहर खदेड़ने के लिए, देश की स्वतंत्रता के लिए, निपष्ठुर दस्ता के विरुद्ध राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन में व्यापक जनता को लो आया जाये; राष्ट्रीय सुधारवादियों के नेतृत्व में चल रहे साम्राज्यवाद विरोधी जनांदोलनों में सक्रिय भाग लिया जाये और एक सुनिश्चित साम्राज्यवाद विरोधी मंच (प्लेटफार्म) के आधार पर राष्ट्रीय क्रांतिकारियों और राष्ट्रीय सुधारवादी संगठनों के साथ संयुक्त कार्रवाई किया जाये।

भारत पर दिमित्रोव की रिपोर्ट यह कहती है :

''भारत में कम्युनिस्टों को सभी कार्रवाईयों उनको भी हुए जो राष्ट्रीय सुधारवादी नेतृत्व के अधीन है, समर्थन करना चाहिए, उन्हें आगे बढ़ाना चाहिए और उनमें भाग लेना चाहिए। अपनी राजनीतिक और सांगठनिक स्वतंत्रता को बनाये रखकर, उन्हें संगठनों के भीतर अपना सक्रिय कार्य जारी रखना चाहिए, जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में भागीदार है; ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के विरुद्ध भारतीय जनता के मुक्ति आंदोलनों के और आगे विकास के उद्देश्य से, उन संगठनों के भीतर राष्ट्रीय क्रांतिकारी पक्ष के मणिभीकरण (क्रिस्टलाइजेशन) की प्रक्रिया को फलीभूत करना चाहिए।''

''राष्ट्रीय कांग्रेस के भीतर और बाहर, दोनों जगह भारतीय कम्युनिस्टों को आवश्यक रूप से, समाजवादी उत्पीड़कों के विरुद्ध जनता के संघर्ष का नेतृत्व करते हुए, देश की सच्ची साम्राज्यविरोधी ताकतों को मजबूत एकता स्थापित करनी चाहिए।''

इस प्रकार सातवीं कांग्रेस भारतीय कम्युनिस्टों को सुझाव देती है, 1. कांग्रेस के भीतर और बाहर; दोनों तरफ मौजूद साम्राज्य विरोधी ताकतों को संघटित (कंसोलिडेट) करने का, 2. साम्राज्यवादी उत्पीड़कों के विरुद्ध चल रहे व्यापक जनता के संघर्षों के विरुद्ध चल रहे व्यापक जनता के संघर्षों का नेतृत्व अपने हाथ में लेने का। कांग्रेस में वांग मिंग के भाषण में, और भी अधिक स्पष्टता के साथ कहा गया था कि साम्राज्य विरोधियों को आंदोलित करने का काम आइ.एन.सी. के भीतर ही सीमित नहीं रहना चाहिए।

दिमित्रोव रिपोर्ट में दी गई सलाह पर कम्युनिस्टों को कांग्रेस में, साम्राज्यविरोधी संयुक्त मोर्चे के निर्माण के लिए काम करना चाहिए, एक सही सलाह है परंतु सी.पी.आई. को यह काम अपनी चाहिए, एक सही सलाह है परंतु सी.पी.आई. को यह काम अपनी स्वतंत्रता को खोये बिना करना होगा। यह निर्णायक बात है। कांग्रेस संगठनों के भीतर एक राष्ट्रीय क्रांतिकारी मोर्चे के निर्माण के लिए काम करना भी सही है। परंतु उस समय मौजूद परिस्थितियों में उन लोगों के बारे में विशिष्ट विश्लेषण नहीं किया गया था, जो वाम पक्ष के रूप में चिन्हित थे। यह रिपोर्ट छठी कांग्रेस, ड्राफ्ट प्लेटफार्म और बिरादराना पार्टी के पत्रों की, कांग्रेस में तथाकथित वाम की वृद्धि के संबंध में चेतावनी को भूल चुकी थी। दिमित्रोव रिपोर्ट ने इस आयाम की पूर्ण उपेक्षा की थी।

वांग मिंग का भाषण उस संकीर्ण समझ और व्यवहार का सही चित्रण करती है, जिससे भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी उस समय तक चिपकी हुई थी।

''भारत के हमारे कामरेड, काफी लंबे समय से 'वाम' संकीर्णता की गलतियों से पीड़ित हैंः उन्होंने राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा संगठित सभी जन प्रदर्शनों में भाग नहीं लिया।... भारतीय अभी हाल तक सोचनीय हद तक जनसमूहों से, साम्राज्यवाद विरोधी जनसंघर्षों से कटे रहे हैं... यह अभी हाल में भी हुआ है कि अखिल भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी... ने खुद का संकीर्णतावादी गलतियों से मुक्त किया है और साम्राज्यवाद विरोधी संयुक्त मोर्चे के निर्माण की तरफ पहले कदम बढ़ाये हैं। फिर भी हमारे नौजवान भारतीय कामरेड, इस रास्ते को अख्तियार करने के बावजूद संयुक्त मोर्चे की रणनीति की समझ में काफी पीछे हैं। यह इस तथ्य से भी प्रकट होता है कि अभी पिछले साल दिसंबर में राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चा स्थापित करने के प्रयास करते समय, हमारे भारतीय साथियों ने उनके सामने ऐसी मांगे रखी थीं 'भारतीय मजदूरों और किसानों के सोवियत गणराज्य की स्थापना', 'जमींदारों की सभी संपत्तियों की बिना मुआवजा जब्ती', ''सामान्य हड़ताल को कार्रवाई का एकमात्र कार्यक्रम मानना' आदि। भारतीय कामरेडों की तरफ से ऐसी मांगे रखना एक उदाहरण है, जो दिखाता है कि किस प्रकार साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चे की रणनीति की जारी न रखा जाये।''

इस कांग्रेस में भारत से कोई भी सम्मानित नहीं हुआ था। (मीर जफर, आर देशपांडे सिंगापुर में गिरफ्तार कर लिये गये थे) सीपीजीबी ने, जो सीपीआई को निर्देशित करती थी, भारत का प्रतिनिधित्व किया था। सीपीआई को इस कांग्रेस के प्रस्ताव जनवरी 1936 में प्राप्त हुए। उस समय सीपीआई पहले से ही अलगाव से बाहर आने के और अपनी वाम संकीर्णता की गलतियों के ठीक करने में लगी हुई थी। अक्टूबर 1935 के कम्युनिस्ट रिव्यु से लिया गया– अनुच्छेद इसे स्पष्ट रूप से दिखाता है।

''हम उक्त (साम्राज्यवाद विरोधी) आंदोलन को मात्र कांग्रेस के बाहर ही सीमित रखने का विरोध करते हैं और हम ऐसे आंदोलन को कांग्रेस के भीतर भी जारी रखने की आवश्यकता पर जो देते हैं...'' इसके साथ ही कांग्रेस के भीतर काम करने को जरूरत से ज्यादा महत्व देने के खतरे की और भी सही चेतावनी दी थी। ''परंतु कांग्रेस के भीतर काम करने और कांग्रेस को बदलने की संभावनाओं को जरूरत से ज्यादा आकलित नहीं किया जाना चाहिए। बुर्जुआ संविधान में परिर्वतन के द्वारा अपनी शक्ति को खो देने का भरसक प्रयत्न करेंगे और वे पुनः निम्न बुर्जुआ को धोखा देने के लिए छल प्रपंच का भरपूर प्रयास करेंगे– कम्युनिस्टों को बाहर निकाल दिया जाना भी दूर की बात नहीं है।''

त्रासदी यह है कि दत्त ब्रैडले थीसिसस को अपनाा लेने का बाद सीपीआई ने न केवल साफ साफ गलतियां की थीं बल्कि युद्ध के बाद कांग्रेस से बाहर निकाल देने का अपमान भी सहा था। बहरहाल कांग्रेस के प्रस्तावों की रोशनी में, सीपीआई ने कांग्रेस के समाजवादियों के साथ संश्रय बनाने के प्रयत्न किये।

दत्त ब्रैडले थीसिस

सातवीं कांग्रेस के प्रस्तावों के प्राप्त होने के पहले से ही, दत्त और ब्रैडले ने कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी (रूस में मसानी के साथ) संवाद शुरू कर दिया था। वे नेहरु से भी मिले थे। नेहरु ने यह स्पष्ट कर दिया था कि वे गांधी के नेतृत्व और तरीकों को नहीं त्याग सकते। 29 फरवरी 1936 को इम्प्रिकार ने दत्त और ब्रेडले द्वारा लिखित भारतीय प्रश्न पर सुझाव प्रकाशित किये। यही प्रसिद्ध दत्त ब्रैडले थीसिस है।

दत्त–ब्रैडले थीसिस ने सातवीं कांग्रेस द्वारा अनुमोदित साम्राज्यवाद विरोधी संयुक्त मोर्चे को पूर्णतया विरुपित कर दिया। दत्त और ब्रेडले ने वास्तव में सी.पी.जी.बी. की नीति को लागू करने का प्रयास किया था जो उस समय कानूनवाद में गहरे तक धंसी हुई थी। उन्होंने यह अवस्थित की थी कि साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चे का अर्थ कांग्रेस मात्र है। उनका विचार था कि संयुक्त मोर्चे का कार्यभार कांग्रेस को मजबूत बनाने का और उसका विस्तार करने का था। जब कांग्रेस ने अवज्ञा आंदोलन को साथ धोखा किया था और चुनावों में भाग लेने को आतुर थी, उन्होंने सोचा था कि कांग्रेस वाम की ओर झुकी रही है। (जन आंदोलनों को फौलादी मुक्के से कुचल डालने में चुनाव बाद बनी कांग्रेसस सरकार द्वारा ब्रिटिश सरकार को मात्र देने के बावजूद उन्होंने अपना रुख नहीं बदला)। उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यभार को कांग्रेस के भीतर एक वाम पक्ष के विकसित करने तक ही सीमित कर डाला था। यह सही है; लेनिन ने कहा था कि राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के संयुक्त मोर्चे (यु.एफ.) पर मजदूर वर्ग का प्रभुत्व, ऐसे किसी मोर्चे को बनाने के लिये पूर्वशर्त नहीं है। परंतु उन्होंने यह भी कहा था कि इस तरह से साथ काम करना, मात्र तात्कालिक है और यह एक ऐसी शक्तिशाली कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण के लिए साधान मात्र है, जो बुर्जुआ जनवाद से लड़ सके। दत्त और ब्रैडले ने न केवल लेनिन की इस थीसिस से मुख मोड़ा बल्कि समस्त वर्गीय संगठनों को कम्युनिस्ट पार्टी के तले ले आने के कोमिंटर्न के निर्देश को भी धता बता दी और

सीपीआई को अपने जन संगठनों को कांग्रेस के भीतर शामिल कर देने के लिए प्रयास करने का निर्देश दिया। सीधे कहा जाये तो उन्होंने भारतीय जनता के मजदूर वर्ग की पार्टी को बड़े बुर्जुआ की सेवा में लगा देने का प्रयाास किया था।

1. दत्त और ब्रैडले ने ''साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष के लिए ''साम्राज्य विरोधी संयुक्त जन मोर्चा (द युनाइटेड एंटी इम्पीरियलिस्ट पीपुल्स फ्रंट) के लिए'' आह्वान किया।

2. ''राष्ट्रीय कांग्रेस ने निःसंदेह, राष्ट्रीय संघर्ष के लिए भारतीय जनता की व्यापक शक्तियों को एक करने के वृहद कार्य को पूर्ण किया है, और आज भी यह राष्ट्रीय मुक्ति की आकांक्षा रखने वाले अनेक भिन्न तत्वों का प्रमुख मौजूद संगठन बनी हुई है। किसी को भी एकता नहीं दी जा सकती, जो राष्ट्रीय कांग्रेस के जरिये प्राप्त हुई है और जो प्रस्ताव यहां प्रस्तुत किये गये हैं, वे इस एकता को एक और भी व्यापक मोर्चे तक आगे बढ़ाने के साधनों को प्रयत्न करने की नीयत से किये गये हैं।

''साम्राज्यवाद विरोधी जनमोर्चे को वास्तविक बनाने के काम में राष्ट्रीय कांग्रेस सबसे बड़ी भूमिका और सबसे अग्रणी भूमिका निभा सकती है। यह भी संभव है कि राष्ट्रीय कांग्रेस, अपने संगठन और कार्यक्रम को और आगे रूपांतरित करके, साम्राज्यवाद विरोधी जन मोर्चे का स्वरूपप बन जाये, क्योंकि वास्तविकता महत्वपूर्ण है न कि नाम।''

3. ''इसलिए पहला उद्देश्य यह होना चाहिए कि राष्ट्रीय कांग्रेस के संयुक्त मोर्चे को सभी मौजूदा संगठनों, ट्रेड यूनियनों, किसान युनियनों, नौजवान संघों या अन्य साम्राज्यवाद विरोधी जनससंगठनों को, उनकी फौरी मांगों के लिए जनसंघर्ष के आधार पर एक विशाल साम्राज्यवाद विरोधी जन मोर्चे में स्थापित कर दिया जाये।

''इसके साथ ही हमें राष्ट्रीय कांग्रेस के संविधान में इस तरह से बदलाव लाने का प्रयास करना चाहिए कि इसके साथ, ट्रेड यूनियनों, किसान यूनियनों, नौजवान संघों के प्रतिनिधियों को संबंधित करने की अनुमति किल जाये।''

4. कांग्रेस तंत्र (मशीनरी) का कार्य का मौजूदा तरीके को जनतांत्रिक नहीं माना जा सकता। व्यवहार में बहुत कम मुट्ठी भर नेता इस पर अपनी पूर्ण पकड़ बनाये हुए हैं।... इसे, आधुनिक जनवादी अवधारणा के अनुसार एक लोकप्रिय पार्टी में बदलने के लिए इसके संविधान को पूरी तरह बदल डालना (ओवरहालिंग करना) आवश्यक है।''

5. ''कांग्रेस समाजवादी ट्रेड यूनियनवादियों कम्युनिस्टों और वाम कांग्रेसी पूर्ण स्वतंत्रता के लिए साम्राज्यवादी संघर्ष के, जनसंगठनों के निर्माण और जन संघर्षों के विकास के, कांग्रेस के संविधान, नीति, संगठन और नेतृत्व में बदलाव हेतु संघर्ष के न्यूनतम कार्यक्रम (मिनिमम प्रोग्राम) की मूलभूत आवश्यकताओं पर एकजुट होने में समर्थ होना चाहिए। मौजूदा कांग्रेस में समस्त क्रांतिकारी (रैडिकल) तत्वों के समूह के रूप में कांग्रेसस सोशलिस्ट पार्टी, विशेष महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है। यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है कि कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में, कार्यक्रम और नीतियों के प्रश्नों से स्पष्ट (क्लैरिफाई) कर लेने के लिए प्रत्येक प्रयास किये जाने चाहिए।''

6. ''साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चे के लिए चुनावों का प्रश्न प्रधान (कार्डिनल) महत्व का है... यह अत्यंत आवश्यक है कि साम्राज्यवादियों और उनके संश्रयकारियों के विरुद्ध राष्ट्रीय मोर्चे की एकता को बनाये रखा जाये और कांग्रेस से बाहर के प्रतिक्रांतिकारी दक्षिण पक्षीय तत्वों के, जो साम्राज्यवाद के साथ सहयोग में खड़े रहते हैं, लाभ के लिए अपने वोटों का बंटवारा नहीं होने देना चाहिए।

7. ''आंदोलन के मौजूदा चरण के अनुरूप, यह समय निःसंदेह सार्विक और समान मताधिकार और सीधे तथा गुप्त मतदान पर आधारित एक संविधान सभा बुलाने की मांग को अपने केन्द्रीय नारे के रूप में पेश (लांच) करने के लिये उपयुक्त है।''

8. कांग्रेस के दक्षिण पक्ष पर हमला विश्वसनीय होना चाहिए न कि राष्ट्रीय मोर्चे को विभाजित करने वाला।

दत्त ब्रैडले सिद्धांत ने उन भारतीय कम्युनिस्टों में काफी विभ्रम फैला दिया था, जो उस समय अपनी दक्षिण और वाम दोनों ही विच्युतियों की त्यागते हुए क्रांतिकारी पथ पर एकजुट हो रहे थे। इन थीसिसों पर अनेक आलोचनायें सामने आईं जो राष्ट्रीय आंदोलन पर मजदूर वर्ग के प्रभुत्व के लिए प्रयास की आवश्यकता को पूरी तरह दरकिनार करती थीं। परंतु पोलिट ब्यूरो ने इसे ज्यों को त्यों स्वीकार कर लिया था। ऐसे समय में जब पार्टी अपने वाम संकीर्णता से बाहर आ रही थी और धीरे–धीरे क्रांतिकारी कार्य दिशा स्थापित करने के प्रयास कर रही थी, दत्त–ब्रैडले थीसिस कम्युनिस्ट पार्टी के दक्षिण अवसरवाद के गड्ढे में गिर जाने का आधर बन गई। 7 नवंबर 1936 को सी.पी.जी.बी. के सचिव हैरी पोलिट, दत्त और ब्रैडले ने संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चा (द युनाइटेड नेशनल फ्रंट) का लेखन किया। उन्होंने इस लेख में लिखा था कि राष्ट्रीय कांग्रेस को राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चे की बुनियाद बनाने के प्रयास किये जाने चाहिए। उन्होंने युनाइटेड फ्रंट नाम बदलकर द युनाइटेड नेशनल फ्रंट कर दिया था ताकि साम्राज्वाद विरोधी राष्ट्रीय आंदोलन में बुर्जुआ को अधिक महत्व दिया जाये।

दत्त ब्रैडले थीसिस ने यह चिन्हित किया था कि कम्युनिस्टों का यह कर्तव्य है कि इसके भीतर की वाम ताकतों को मजबूत बनाकर कांग्रेस को एकजुट जुझारू संगठन में बदल दें। इसने स्वयं कांग्रेस को ही साम्राज्यवाद विरोधी संगठन के ओर संयुक्त मोर्चा के रूप में वर्णन किया था। इसने नेहरु की बावजूद इसके कि उन्होंने कहा था कि वे सिर्फ गांधी द्वारा निर्देशित रास्ते पर चलेंगे, वाम पक्ष का नेता मान लिया था। इसने सच्चे राष्ट्रवादियों, देशभक्तों और वामपंथियों की धक्का देकर दलाल पूंजीपतियों के नेतृत्व तले लाने की कोशिश की थी। यह प्रवृत्ति स्वाभवतः अगले चरण में कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा गांधी को राष्ट्रीय आंदोलन का निर्विवाद नेता मान लेने तक ले गई। उस समय जब सामान्य कांग्रेसी और दलाल पूंजीपति तक गांधी के नेतृत्व में विश्वास खोने लगे थे, सी.पी.आई. ऐसे स्तर तक कि उनके नेतृत्व की बिला शर्त स्वीकृति तक नीचे गिर गई थी।

अवज्ञा आंदोलनवाद (पोस्ट – डिस ओबिडियेंस) की अवधि में कांग्रेस–सीपीआई के संबंध

अवज्ञा आंदोलन के बाद कांग्रेस की छवि और सम्मान काफी नीचे गिर चुकी थी। कांग्रेस ने भारत सरकार अधिनियम 1935 (गोवर आफ इंडिया एक्ट 1935) के अनुसार होने वाले आगामी चुनावों की तैयारी शुरू कर दी थी। इस संबंध में गांधी ने अपने घनिष्ठ मित्र बिड़ला से को बताया था कि कांग्रेस में हमेशा ही एक ऐस गुट रहा है जो विधान सभाओं (कौंसिलों) में भाग लेना चाहता रहा है। नेतृत्व केवल इसी गुट के हाथ में रहना चाहिए। लेकिन लखनऊ में नेहरु को, जो दक्षिणपंथियों का ''विरोध'' कर रहे थे अध्यक्ष बना दिया गया (ऐसा नेहरु की बहुत थोड़े से सदस्यों का समर्थन प्राप्त होने के बावजूद किया गया)। यह लखनऊ सत्र ही था कि जब नेहरु ने अपना प्रसिऋ 'समाजवादी' भाषण दिया था। इस बहस में कि चुनावों के बाद मंत्रालयों का गठन किया जाये या सरकार के रास्तें में रोड़ा अटकाने के लिए विपक्ष में बैठा जाय, नेहरु, बोस और सी.एस.पी. ने मंत्रालय को बनाने का विरोध किया था। पटेल, राजेन्द्र प्रसाद आदि दक्षिणपंथी नेताओं ने सत्ता हस्तगत करने के पक्ष में अपने तर्क दिये थे। गांधी ने प्रस्ताव रखा था कि यह निर्णय चुनाव के बाद लिया जा

सकता है। तब कांग्रेस ने चुनावों के लिए तैयारी शुरू कर दी। नेहरु ने सोशलिस्टों और कम्युनिस्टों के सभी नारे स्वीकार कर लिये थे। परंतु वे शब्दों तक ही सीमित रहे थे। सभी प्रस्ताव गांधी की इच्छानुसार ही पारित हुए। कुछ दलाल पूंजीपति तो नेहरु के समाजवादी शब्दाडंबर से भयभीत तक हो गये थे। लेकिन दलाल पूंजीपति बिड़ला विश्वस्त थे कि नेहरु का समाजवाद तो उनके अपने वर्ग हित में है।

दत्त–ब्रैडले थीसिस के आधार पर, सीपीआई ने कांग्रेस को एक जुझारू संगठन के रूप में बदलने का प्रयास शुरू कर दिया था। इसके लिए, इसने कांग्रेस में किसान सभाओं ओर ट्रेड यूनियनों की सामूहिक सदस्यता के लिए प्रार्थना की। इसने कांग्रेस के संविधान में इस मांग के अनुकूल सुधार करने की मांग रखी। नेहरु ने इसे अपनी मांग को मानते हुए, इसके लिए अभियान चलाया। लेकिन सच में नेहरु ने कभी भी संविधान सुधार के प्रयास नहीं किऐ थे। नेहरु कम्युनिस्टों के सभी नारों को, खुद उठाकर, मात्र शब्दों में, अमल में नहीं, रियल सोशलिस्ट हो गये।

सीपीआई के सीसी की नजर में नेहरु ''कांग्रेस हाई कमान के प्रधान के रूप में खड़े ऐसे मैन हैं जो आज शायद कांग्रेस के भीतर मौजूद समस्सत वाम दिशा की प्रवृत्ति के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याता हैं। ''प्रतिक्रियावादी नेतृत्व को बेड़ियां पहचानने का चरण एकदम से तैयार है।'' परिणाामस्वरूप सीपीआई के नेतृत्व को कांग्रेस पार्टी के नेतृत्व का आकलन, उसे संपूर्णता में देखते हुए बदल देना था। 'द कम्युनिस्ट' यह कहता है :

''अपनी संपूर्णता में (आइ.एन.सी.) कांग्रेसी नेतृत्व और बुर्जुआ का एक हिस्सा जो इसका समर्थन करता रहा है, पिछले कुछ वर्षों के दौरान वाम की और मुड़ गये हैं, समर्थक बुर्जुआ भी वाम की तरफ झुक गये हैं। इतना ही नहीं इसने आगे यह कहा कि....''

कांग्रेस के प्रतिक्रियावादी नेतृत्व के वास्तविक प्रतिनिधि नेहरु में, एक वास्तविक वाम नेता के रूप में, अविचल विश्वास सीपीआई को बाद में इस परिणति तक ले गया कि उसने सी.एस.पी. और बोस के साथ संबंध खत्म कर लेने का जोखिम उठा लिया।

अवसरवाद के कीचड़ में सीपीआई इतने गहरे तक धंस गई थी कि कुछ हद तक वास्तविक और अपेक्षतयाः स्थिर सी.एस.पी. की राष्ट्रीय ताकतों, बोस और दूसरों को यह अति वामपंथी मानने लगी थी। कांग्रेस में वाम पक्ष को मजबूत करने के बहाने, सी.पी.आई. ने वस्तुतः उस गांधी–नेहरु नेतृत्व के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया था, जो कांग्रेस में दलाल पूंजीपति का प्रतिनिधित्व करता था।

बोस के केस में सीपीआई का रुख इसकी अवसरवादी नीति का स्पष्ट उदाहरण है। जब 1938 में बोस कांग्रेस के अध्यक्ष चुन लिए गये थे, तब सीपीआई ने इसे वाम की विजय कहा था। त्रिपुरा अधिवेशन में सीपीआई और सी.एस.पी. दोनों ने गांधी के मनोनीत मट्टाभि सीतारमैया के विरुद्ध बोस की उम्मीदवादी का समर्थन किया था। परंतु ठीक इसी सीपीआई ने तब गांधी के साथ सहयोग किया था जब वे बोस के गैरजनतांत्रिक तरीके से हटाने का प्रयास किया था। सी.पी.आई. द्वारा अवसरवादी दिशा लेने की वजह से बोस अकेले अलगाव में डाल दिये गये थे। गांधी ने वाम शक्तियों के उहापोह का, खास तौर से सी.पी.आई. की अवस्थिति का लाभ उठाते हुए बोस का राजनीतिक सफाया कर डालने का प्रयास किया था। तथाकथित समाजवादी नेहरु, स्वाभवतः, बोस के प्रति शर्मनाक गैर जनतांत्रिक रवैये में गांधी के साथ खड़े थे।

कांग्रेस ने 1937 का चुनाव जीत लिया और जैसा कि अपेक्षा थी, उसने मंत्रालयों के गठन का निश्चय किया। सात प्रांतों में कांग्रेसी सरकारें बना ली गईं। यद्यपि कि 'समाजवादी' नेहरु कांग्रेस के अध्यक्ष थे, पर विधान सभाओं में चुने गये सदस्य और मंत्रालयों के सदस्य

दक्षिणपंथी थे। सी.पी.आई. तक यह समझने में असमर्थ रही कि दक्षिण कैम्प का वास्तविक नेता कोई दूसरा नहीं बल्कि हैं। सी.पी.आई. ने भी चुनावों में भाग लिया था। इसने 108 सीटों पर चुनाव लड़ा था और 8 सीटें जीती थीं। कांग्रेस सरकार ने शुरू शुरू में लीगों में काफी उत्साह और आशा जगा दी थी। परंतु तब वे मजदूरों और किसानों के संघर्षों के भीषाण दमन पर उतर आये। इस मामले में कांग्रेस सरकारें ब्रिटिश सरकार से अधिक भयावनी थी। मद्रास में राजा जी सरकार ने सीपीआई और सीएसपी पर भारी नियंत्रण लगा रखा था। इन सरकारों ने राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन को आगे न ले जाकर, बड़े पूंजीपतियों और भूस्वामियों को सत्ता सौंप जाने के पूर्वाभ्यास में मदद पहुंचाई थी। (रोचक तथ्य यह है कि सीएसपी ने कांग्रेस सरकार के गठन का विरोध किया था, सीपीआई ने समर्थन!) कांग्रेस शासन के एक साल बीतने से पहले ही लोगों में इन सरकारों के खिलाफ नाराजगी शुरू हो गई थी। कांग्रेसी नेताओं का भ्रष्टाचार और भाई–भतीजावाद बहुत अधिक बढ़ गया था और इन सरकारों से घृणा करने लगे थे। गांधी और नेहरु ने भी समझ लिया था कि इन सरकारों को ज्यादा समय तक जारी रखना खतरनाक सिद्ध होगा। उन्होंने सोचना शुरू कर दिया था कि किसी न किसी बहाने से इन सरकारों से त्यागपत्र दिलवा देना होगा। 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ जाने ने उन्हें इन अलोकप्रिय सरकारों से छुटकारा पा लेने का चेहरा छिपाऊ बहाना मिल गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध

साम्राज्यवादी युद्ध का अवधि

पहली सितंबर 1939 को, हिटलर ने पोलैंड पर आक्रमण कर दिया। ब्रिटेन और फ्रांस ने जर्मनी के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। द्वितीय विश्व युद्ध प्रारंभ हो गया। वायसराय ने घोषणा किया कि भारत में युद्ध ब्रिटेन के साथ शामिल हो रहा है। सुरक्षा अधिनियम जारी कर दिया गया। बड़े पूंजीपति गदगद थे कि अब प्रथम विश्वयुद्ध की तरह वे पुनः भारी मुनाफा बटोरने का सुअवसर प्राप्त करने जा रहे हैं। उन्हें युद्ध प्रयासों के समर्थन का निर्णय लिया। मुस्लिम लीग ने युद्ध का समर्थन किया। गांधी ने ब्रिटेन को सहानुभूति पत्र भेजा। नेहरु समेत सभी महत्वपूर्ण नेता, युद्ध का समर्थन करना चाहते थे, लेकिन खुले तौर पर बिलाशर्त समर्थन देने से हिचक रहे थे। कांग्रेस ने युद्ध समाप्त होने तक संविधान सभा की मांग स्थगित कर दी और युद्धकालीन सरकार की मांग पेश की। ब्रिटिश सरकार ने यह न्यूनतम मांग तक ठुकरा दी। कांग्रेस को सरकार से छुटकारा पा लेने का मौका मिल गया, जो इसकी छवि और प्रतिष्ठा को गिराती जा रही थी। ब्रिटिश सरकार की इस दुराग्रही प्रवृत्ति के खिलाफ 'विरोध' के रूप में 23 अक्टूबर को कांग्रेस सरकारों ने अपना इस्तीफा सौंप दिया।

परंतु बोस और समाजवादियों ने युद्ध को साम्राज्यवादी करार देते हुए इसकी आलोचना की। बोस महसूस करते थे कि वह स्थिति आ पहुंची है कि युद्ध का इस्तेमाल स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए किया जाना चाहिए। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने जर्मनी और रुस के बीच 'नो वार पैक्ट' की आलोचना की। इससे, सी.पी.आई. और सी.एस.पी. के बीच के पहले से ही तनावग्रस्त रिश्ते और भी कटु हो गये।

सीपीआई ने सही ढंग से युद्ध को साम्राज्यवादी युद्ध माना था और सातवीं कांग्रेस द्वारा प्रस्तुत दिशानिर्देश को स्वीकार किया था : ''... कम्युनिस्ट युद्ध विरोधियों का नेतृत्व करेंगे, शांति के संघर्ष को संगठित करेंगे, साम्राज्यवादी युद्ध को गृहयुद्ध में बदल डालने के

लिए, युद्ध के फासीवादी युद्धोन्मादियों के खिलाफ, बुर्जुआ के विरुद्ध, पूंजीवाद को उखाड़ फेंकने के लिये अथक संघर्ष करेंगे।''

पार्टी के पोलिट ब्यूरो द्वारा जारी घोषणा पत्र ने इस तरह से उद्घोष किया थाः

''स्वतंत्रता और जनवाद की अंतर्राष्ट्रीय सेना के एक हिस्से के तौर पर भारतीय जनता का कर्तव्य हैः युद्ध का बिलाशर्त विरोध करना, ब्रिटिश साम्राज्यवाद को कमजोर करता, विश्व प्रतिक्रियावादी पर लगाम लगाना, और वैश्विक पैमाने पर क्रांति की ताकतों को मजबूत बनाना।

इसने और आगे कहा कि युद्ध के परिणाम में क्रांतिकारी स्थिति अपरिहार्य रूप से सामने आयेगी और इस साम्राज्यवादी युद्ध को गृहयुद्ध में बदलकर हम सफलतापूर्वक जनवादी क्रांति संपन्न करेंगे। इस तरह से इसने अपनी युद्ध नीति तैयार की थी।

''स्वतंत्रता के अधिकार से अपृथक, हमारा युद्ध विरोधी संघर्ष शांति, जनवाद और समाजवाद का वैश्विक संघर्ष का हिस्सा है।''

''राष्ट्रीय मुक्ति की प्राप्ति के लिए युद्ध संकट का क्रांतिकारी इस्तेमाल– यह राष्ट्रीय ताकतों के सम्मुख, नई अवधि में, केन्द्रीय कार्यभार है।''

''युद्ध संकट के गहराने और शुरू के लंबे होते जाने के साथ–साथ क्रांतिकारी प्रक्रिया हजार गुना तेज हो गयी है। सामान्य वर्षों की अवधियों में जितना कुछ घटित होता है, उतना नये अवधि में महीनों में घट जाता है... इस प्रकार साम्राज्यवादी युद्ध के राष्ट्रीय मुक्ति युद्ध में बदल जाने परिदृश्य उपस्थित हो जाता है।''

ये सही क्रांतिकारी रणनीतियां सीपीआई के **राष्ट्रीय जनवादी मोर्चे (नेशनल डेमोक्रेटिक फ्रंट)** के अवसरवादी चौखटे में जड़कर रखी गई थीं, जो और कुछ नहीं बल्कि दलाल पूंजीपति के पीछे–पीछे घिसटने की नीति ही थी।

''इसे भलीभांति सम्मान लेना चाहिए कि युद्ध के विरुद्ध और स्वतंत्रता के लिए आंदोलन एक राष्ट्रीय चरित्र तभी अख्तियार करेगा और प्रभावी तरीके से लामबंद होगा जब इसका नेतृत्व कांग्रेस द्वारा किया जायेगा कि सर्वहारा का प्रभुत्व कांग्रेस से बाहर रहकर स्वतंत्र रूपप से नहीं, इसके जरिये ही प्राप्त होगा।''

एक तरफ कांग्रेस, युद्ध में ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग की इच्छुक थी और लेकिन इस सहयोग को बिलाशर्त प्रस्तुत करने के लिए निःसहाय स्थिति में थी वहीं बोस और सी.एस.पी. युद्ध विरोधी गतिविधियों को स्वतंत्र रूप से चलाने की मांग कर रहे थे। सी. पी.आई. का विचार था कि कांग्रेस के बिना संघर्ष गलत होगा और कांग्रेस पर युद्ध के समय की क्रांतिकारी रणनीतियों को लागू करने के लिए दबाव डालना चाहिए। सी.पी.आई. यह भी महसूस करती थी कि राष्ट्रीय आंदोलन पर सर्वहारा का प्रभुत्व कांग्रेस के माध्यम से ही संभव हो सकेगा। इस समझ के साथ यह सोचती थी कि कर और लगान न चुकाने आदि के आंदोलनों और आम हड़तालों को इस प्रकार सहयोजित किया जा सकेगा कि आम बगावत के जरिये सत्ता प्राप्त कर ली जाय। इस तरीके सेच, बुर्जुआ क्रांति से समाजवादी क्रांति में चले जाना संभव होगा। इसने इन रणनीतियों को बोल्शेविक रणनीतियों! का नाम दिया। लेकिन कांग्रेस सी.पी.आई. की उम्मीद के अनुसार अवज्ञा आंदोलन को पुनः प्रारंभ करने के लिए, बल्कि किसी भी तरह का भी आंदोलन छेड़ने को तैयार नहीं थी।

''कांग्रेस नेतृत्व द्वारा संघर्ष प्रारंभ करने के लिए किसी भी कार्रवाई का आह्वावन नहीं किया गया, किसी तरह की भी तैयारी नहीं की गई।''

1940 में जब कांग्रेस आंदोलन छेड़ने के लिए बाध्य हो गई तब गांधी ने मात्र ''व्यक्तिगत सत्याग्रह'' छेड़ने की अनुमति दी थी, न तो उन्होंने लगान और कर भुगतान से

इंकार के आंदोलन के लिए अनुमति दी थी और न ही सीपीआई को आम बगावत का अवसर प्रदान किया था।

''यहां तक कि सत्याग्रह संघर्ष भी, जब कांग्रेस द्वारा शुरु किया जाता है, तब तुरंत ही राष्ट्रीय पैमाने का जन रूप आविष्कार कर लेता था और इसलिए क्रांतिकारी संभावनायें ग्रहण कर लेता; परंतु जब इस तरह के एक्शन के लिए किसी छोटे से समूह द्वारा ''आह्वान'' किया जाता है तब यह दुःसाहसवाद हो जाता है, यह राष्ट्रीय आंदोलन को भंग करता है और हमारी ताकतों को क्षति पहुंचाता है... कांग्रेस की एकता को बनाये रखना इस समय की सर्वोच्च आवश्यकता है। एकता को दक्षिण और 'वाम' दोनों तरफ से खतरा है।''

इस प्रकार सीपीआई ने कांग्रेस की एकता को सुरक्षित रखने का भार अपने सिर पर उठा लिया था। इसका मानना था कि 'सत्याग्रह' समेत कोई भी आंदोलन केवल तभी राष्ट्रीय स्वरूप ग्रहण करता है, जब इसे कांग्रेस के नेतृत्व में लड़ा जाता है। ग्रहण करता है, जब इसे कांग्रेस के नेतृत्व में लड़ा जाता है। सी.पी.आई. के अनुसार छोटी पार्टियों द्वारा किया गया आह्वान एक दुःसाहसपूर्ण कार्य हो जायेगा। यह राष्ट्रीय आंदोलन में सिर्फ फूट डालेगा और ताकतों को बिखरा देगा। वाम एकता को मजबूत बनाने और स्वतंत्रता आंदोलन पर मजदूर वर्ग का प्रभुत्व स्थापित करने का बहाना लेते हुए इसने बोस और सी.एस.पी. की, जो कुछ हद तक दृढ़ राष्ट्रवादी थे, कांग्रेस की एकता को भंग करने वालों के रूप में आलोचना करना शुरू कर दिया था और व्यवहार में यह बोस और सी.एस.पी. के दक्षिण खड़ी हो गई थी।

साम्राज्यवादी युद्ध की अवधि में, सीपीआई ने युद्ध विरोधी अभियान चलाया। 2 अक्टूबर 1939 में, बंबई में करीब 90,000 मजदूरों ने हड़ताल में भाग लिया था। इसके बाद अनेक हड़तालें हुईं। सीपीआई ने इन सभी हड़तालों में सक्रिय हिस्सा लिया था। पूरी अवधि के दौरान ए.आई.एस.एफ. काफी सक्रियता के साथ काम करती रही। यह एक बड़े छात्र संगठन के रूप में उठा खड़ी हुई थी। 1941 का पूर्णिया किसान आंदोलन, सीपीआई के नेतृत्व में शुरू हो गया। मार्च 1941 में कोट्युरु कामरेड्स फांसी पर चढ़ा दिये गये थे। मैसूर और त्रावणकोर राज्यों में भी किसान आंदोलन विकसित हो गये थे।

मार्च 1940 में आयोजित कांग्रेस के रामगढ़ अधिवेशन में वाम पक्ष के दबाव में नागरिक अवज्ञा आंदोलन को पुनः शुरू करने का प्रस्ताव पारित हुआ। उस समय यूरोप में हिटलर की सेना विजयें प्राप्त कर रही थी। कांग्रेस ब्रिटिश सरकार के साथ, जो उस समय कठिन स्थिति में थी, सहयोग करने की सोच रही थी, बस वह कांग्रेस को आश्वस्त भर कर देती कि संविधान सभा गठित कर दी जायेगी और युद्ध के बाद स्वतंत्रता प्रदान कर दी जायेगी। परंतु ब्रिटिश सरकार ने ऐसा कोई भी आश्वासन नहीं दिया। कोई अन्य विकल्प न रह जाने पर गांधी ने 'व्यक्तिगत सत्याग्रह' शुरू कर दिया। उन्होंने यह एक्शन इसलिए लिया था कि ऐसा प्रभाव उत्पन्न किया जा सके कि वे सरकार के खिलाफ है और साथ ही ब्रिटिश सरकार को कोई समस्या भी न उत्पन्न हो। इसके बावजूद, इस आंदोलन में करीब 20,000 लोग गिरफ्तार किए गये थे।

जब कांग्रेस का रायगढ़ अधिवेशन चल ही रहा था, तब बोस ने वहीं पर 'साम्राज्य विरोधी सेशन' संगठित किया था और कांग्रेस नेताओं की, उनकी उदासीनता के लिए आलोचना की थी। जब बोस ने 'व्यक्तिगत सत्याग्रह' में भाग लेना चाहा तो गांधी ने गांधी ने इसे तिरस्कृत कर दिया। मार्च 1940 में सी.एस.पी. ने कम्युनिस्टों पर ये आरोप लगाते हुए कि कम्युनिस्ट सी.एस.पी. की सभी ईकाइयों पर कब्जा कर रहे थे, उन्हें पार्टी से बहिष्कृत कर दिया।

यद्यपि सीपीआई दक्षिण अवसाद के गड्ढे में डूब रही थी, फिर भी ब्रिटिश सरकार के लिए यह एक दुःसहाय बनी हुई थी। सरकार पुनः बड़े पैमाने पर गिरफ्तारियां शुरू कर दीं। जब 1940 की जनवादी में ये गिरफ्तारियां शुरू हुई थीं, तब कम्युनिस्ट इस हमले के लिए तैयार नहीं थे। पूरा का पूरा नेतृत्व गिरफ्तार कर लिया गया था। यह पूरी तरह से प्रकट था कि सीपीआई नेतृत्व को आम बगावत की अपनी खुद की रणनीति पर यकीन नहीं था; नहीं तो वह इतने खुले कानूनी रूप से कार्य नहीं कर रही होती। मार्च 1940 करीब 700 लोग जिनमें 480 कम्यूनिस्ट शामिल थे, भारत सुरक्षा अधिनियम के तहत गिरफ्तार किये गये थे।

22 जून 1941 के हिटलर ने अचानक रूस पर बड़े पैमाने पर हमला बोल दिया और युद्ध का पूरा चरित्र ही बदल गया। फासीवादी विरोधी मोर्चा जो काफी समय से बन नहीं पा रहा था, अस्तित्वमान हो गया था।

जन युद्ध की अवधि

जब साम्राज्यवादी युद्ध, फासीवाद–विरोधी जन युद्ध में बदल गया तब विश्व की सभी कम्युनिस्ट पार्टियों को फासीवाद विरोधी रणनीतियां अपनानी पड़ गई थीं। रूस पर हिटलर के आक्रमण के बाद भी, कुछ समय तक साम्राज्यवादी युद्ध की रणनीतियों पर ही काम करती रही और युद्ध का चरित्र मे आये बदलाव की समझने में असमर्थ रही। देवली हवालात में मौजूद कम्युनिस्ट नेताओं ने, जनयुद्ध के चरित्र को पहचान कर, एक दस्तावेज तैयार किया (यह जेल दस्तावेज, सीपीजीबी की कार्यदिशा के आधार पर सूत्रबद्ध किया गया था)। पोलित ब्यूरो ने 5 दिसंबर 1941 को एक प्रस्ताव स्वतंत्रता की ओर (फारवर्ड टू फ्रीडम) स्वीकार किया। इसने जनयुद्ध के चरित्र की सही पहचान की थी और एक फासीवाद विरोधी मोर्चे के निर्माण के लिए आह्वान किया था।

उस समय मौजूदा परिस्थितियों में, भारत में युद्ध विरोधी रणनीति से फासीवाद विरोधी संयुक्त मोर्चे की रणनीति में संक्रमण आसान नहीं था। मौजूदा स्थिति में राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय कार्यभारों के बीच समन्वय एक कठिन काम था। जबकि, एक तरफ ब्रिटिश साम्राज्य का विरोध निर्णायक चरण पर पहुंच रहा था, उसी समय दूसरी तरफ फासीवाद विरोधी संयुक्त मोर्चे का निर्माण भी आवश्यक हो गया था। सी.पी.आई को एक वैसी ही स्थिति का सामना करना था, जैसी स्थिति का सामना यूरोप की कम्युनिस्ट पार्टियों को उस समय करना पड़ा था, जब सोवियत यूनियन ने जर्मनी के साथ नो वार पैक्ट कर लिया था।

''युद्ध के रूस के प्रवेश के जर्मनी को मानवता के प्रमुख शत्रु के रूप में अलग कर दिया था... इससे साम्राज्यवादियों का युद्ध जनता के युद्ध में परिवर्तित हो गया था और विश्वव्यापी जन एकता का द्वार खुल गया था।''

इस कथन के द्वारा सीपीआई ने युद्ध के चरित्र का सही आकलन किया था। परंतु इस बात के मद्देनजर कि ब्रिटेन के साथ संयुक्त मोर्चा बनाना आवश्यक हो गया है, इसने अन्य सभी मुद्दों को दृष्टि से ओझल कर दिया। जरूरत सावधानी के साथ, अंतरराष्ट्रीय और राष्ट्रीय कार्यभारों के बीच तालमेल बिठाने की और ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के साथ एकता और संघर्ष, दोनों के आधार पर संयुक्त मोर्चा बनाने की थी। परंतु व्यवहार में, सीपीआई ने ब्रिटिश सरकार के साथ शर्तहीन सहयोग की नीति अपना ली थी। अपनी अवस्थिति को उचित ठहराने के लिए इसने सूत्रीकरण किया था कि साम्राज्यवाद विरोधी संयुक्त मोर्चे और फासीवाद विरोधी मोर्चे के बीच कोई अंतर नहीं है और यह कि फासीवाद के खिलाफ युद्ध अपने आप में भारत का राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन है।

''अब युद्ध का विरोध करके स्वतंत्रता संघर्ष को और आगे नहीं ले जा सकते। अब हम इस युद्ध को जीत करके ही अपनी स्वतंत्रता को प्राप्त करना है।''

''समस्त जनों का युद्ध ही भारत का युद्ध है''

फासीवाद विरोधी अंतरराष्ट्रीय मोर्चा ही स्वतंत्रता के लिए भारत का मोर्चा है।

विश्व मुक्ति का युद्ध ही भारत की राष्ट्रीय मुक्ति का रास्ता है।''

पी.सी.जोशी सोचते थे कि युद्ध की समाप्ति के बाद, ब्रिटिश सरकार अपनी तरफ से भारत की स्वतंत्रता स्वीकार कर लेगी। उन्होंने औपनिवेशिक देशों में साम्राज्यवाद की ताकत को एक बड़ा शून्य बताया। सी.पी.आई. केवल एकता चाहती थी कि यानी कांग्रेस और मुस्लिम लीग की एकता। इसका विचार था राष्ट्रीय एकता के माध्यम से एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना करना और राष्ट्रीय सुरक्षा को हस्तगत करना।

इस समझ के साथ इसने ब्रिटिश सरकार को अपना शर्तहीन समर्थन प्रदान कर दिया था। इसने पूरी ताकत के साथ हड़ताल न करने की नीति (पालिसी आफ नो स्ट्राइक) को लागू किया। इसने उत्पादकता को बढ़ाने का कार्यक्रम हाथ में लिया और कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के बीच एकता के लिए और राष्ट्रीय सरकार के निर्माण के लिए प्रचार अभियान चलाया।

''राष्ट्रीय कांग्रेस हमारी जनता का प्रधान राजनीतिक संगठन है, जो अब तक हासिल कर ली गई भारतीय जनता की महानतम राष्ट्रीय एकता का प्रतिनिधित्व करती है। मुस्लिम लीग हमारे देश की दूसरा सबसे सबसे बड़े समुदाय का राष्ट्रीय संगठन है।... एक संयुक्त मोर्चे में सभी लोकप्रिय संगठनों की तत्काल एकता, भारतीय एकता के लिए सबसे विस्तृत आंदोलन होगा।''

''समस्त राष्ट्रीय आंदोलन को, लौह अनुशासित सर्व जन आंदोलन के लिए एक निर्णायक मोड़ लेना होगा।''

सीपीआई ने ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग का निर्णय लिया क्योंकि वह फासीवाद विरोधी संयुक्त मोर्चे में शामिल थी। उसका विचार था कि इससे फासीवाद को हटाया जा सकेगा और सोवियत यूनियन को सुरक्षित किया जा सकेगा। इसने कम्युनिस्टों की जेल से रिहाई के लिए और पार्टी पर जारी प्रतिबंध को समाप्त करने के लिए सरकार से समझौते की बात शुरू कर दी थी ताकि वे युद्ध में मदद के लिए व्यापक गतिविधियां शुरू कर सकें। पी.सी. जोशी ने व्यक्तिगत रूप ससे गृह सरकार के साथ संवाद शुरू किया। पार्टी ने कम्युनिस्ट पार्टी की कार्यनीति और योजना के बारे में विज्ञप्ति (मेमोरेंडम आन कम्युनिस्ट पार्टीज पालिसी एंड प्लान आफ वर्क तैयार किया और 23 अप्रैल 1942 की इसे सरकार के सामने प्रस्तुत कर दिया। यद्यपि सी.पी.आई. ने अपनी नीति बदल दी थी परंतु सरकार सी. पी.आई. ने अपनी नीति बदल दी थी परंतु सरकार सी.पी.आई. द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव की स्वीकार करने से हिचकती रही। परंतु 1941 के अंत तक ब्रिटेन एक कठिन परिस्थिति में फंस गया था। जापान ने मलाया, सिंगापुर और बर्मा पर कब्जा कर लिया था। ऐसे समाचार आने लगे थे कि जापान भारत पर आक्रमण करने ही वाला है। इन विपरीत परिस्थितियों में सरकार सी.पी.आई. के प्रस्ताव से संतुष्ट हो गई और कम्युनिस्टों की रिहाई के लिए रजामंद हो गई और इसने कम्युनिस्ट पार्टी पर से प्रतिबंध हटा लिया। एक सीमित अवधि तक कुछ कम्युनिस्ट स्वयंसेवकों को नागरिक सुरक्षा और गुरिल्ला संघर्ष का प्रशिक्षण भी दिया गया था। बहरहाल फासीवाद के खतरे की समाप्ति के साथ ही तुरंत सैनिक शिक्षा रोक दी गई थी।

भारत छोड़ो आंदोलन

जिस दौरान सी.पी.आर. एक तरफ ब्रिटिश सरकार से सहयोग की अपनी अवस्थिति (स्टैंड) की सूत्रबद्ध कर रही थी, उसी समय कांग्रेस सरकार के विरुद्ध कुछ टकरावादी स्थिति ग्रहण करने की प्रक्रिया में लगी हुई थी। 1942 की शुरुआत में युद्ध भारत की दहलीज तक पहुंच चुका था। अमेरिका के दबाव के सामने समर्पण करते हुए; ब्रिटेन ने क्रिप्स कमीशन को भारत भेजा। क्रिप्स मिशन मार्च 1942 में भारत आया। गांधी जो हमेशा ही ब्रिटिश सरकार के हित में कार्य करने को तैयार रहा करते थे। इस बार पूरी तरह से क्रिप्स कमीशन के विरोध के विरोध में खड़े थे। परंतु नेहरु सरकार के साथ किसी समझौते तक पहुंच जाना चाहते थे और जनता की जागृत की जागृत करते हुए ब्रिटिश सरकार के युद्ध प्रयासों में सहयोग प्रदान करना चाहते थे। वे केन्द्रीय सचिवालय में भी शामिल होने को तैयार थे। परंतु ब्रिटेन इस मामूली सा अनुदान भी देने को तैयार नहीं थी और यह भारत पर अपना औपनिवेशिक वर्चस्व भी तोड़ने को तैयार नहीं थी। केवल यह दिखावा करने के लिए क्रिप्स कमीशन को भेजा गया था कि वह समझौते की कोशि में लगी हुई है। इसे अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि क्रिप्स कमीशन युद्ध के बाद भारत की स्वतंत्रता के लिए कांग्रेस की दुराग्रही मांग की वजह से नहीं असफल हुआ था।

सी.राजगोपालाचारी और भोलाभाई पटेल ने, जो शुरुआत से ही युद्ध प्रयासों का बिलाशर्त समर्थन करना चाहते थे, कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया। गांधी के दबाव में नेहरू एवं अन्य नेता भी ब्रिटेन विरोधी स्टैंड लेने को बाध्य हो गये थे। दलाल बुर्जुआ और भूस्वामी वर्ग का एक हिस्सा इस निष्कर्ष पर पहुंच चुका था कि ब्रिटेन की हार अपरिहार्य है। गांधी ने भी युद्ध में ब्रिटेन की पराजय की भविष्यवाणी की थी। इसलिए उन्होंने क्रिप्स कमीशन के प्रस्ताव को ''एक डूबते हुए बैंक का बाद की तारीख का चेक (ए पोस्ट डेटंड चेक आफ ए क्रेशिंग बैंक) कहा था। उनके नजदीकी विश्वासपात्र पट्टाभि सीतारमैयार ने टिप्पणी की थी ''क्या भारत को एक डूबते जहाज का ट्रेलर बन जाना चाहिए या अपनी गाड़ी को डूबते तारे से बांध लेना चाहिए।'' गांधी और कुछ उद्योगपति, ब्रिटेन की पराजय की स्थिति में ''घर फूंक नीति (स्कार्च्ड अर्थ पालिसी)'' को लेकर चिंति थे। गांधी ने 27 अप्रैल को ए.आई.सी.सी. के इलाहाबाद सेशन में प्रस्तुत अपने मसौदा प्रस्ताव में कहा था ''ए.आई.सी.सी. के विचार से ब्रिटेन भारत की सुरक्षा कर सकने में असमर्थ है... जापान का भारत से कोई झगड़ा नहीं है... अगर भारत आजाद देता है तो उसका पहला कदम संभवतः जापान के साथ समझौता करना होगा।... यह कमेटी जापान सरकार और जापान और जापान की जनता को विश्वास दिलाना चाहती है कि भारत की न जापान से न किसी अन्य राष्ट्र से कोई दुश्मनी है।...''

''इस कमेटी के लिए घर फूंक नीति (स्कार्च्ड अर्थ पालिसी) की बाबत यह स्पष्ट घोषणा करना आवश्यक है... कांग्रेस की नीति कभी भी जनता की संपत्ति या उसके इस्तेमाल की चीजों को नष्ट करने की नहीं हो सकती।''

''... ब्रिटिश को भारत से चले जाना चाहिए'', ''इन विदेशी सेनाओं को हटा लें और इसके बाद कोई भी विदेशी सेना यहां न आये''

पटेल, प्रसाद, कृपलानी और कई दूसरों ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया। नेहरु ने इस प्रस्ताव की आलोचना की। उन्होंने कहा कि ''अगर बापू के दृष्टिकोण (अप्रोच) को स्वीकार किया गया तो हम धूरी राष्ट्रों (एक्सिस पावर्स) के निष्क्रिय साझेदार हो जायेंगे... ये सारी सोच और मसौदे की पृष्ठभूमि जापान का पक्ष लेती है... गांधी महसूस करते हैं कि जापान और जर्मनी जीतेंगे। यह भावना अचेतन रूप से उनके निर्णय को निर्देशित करती है।''

राजाजी जो दृढ़ दक्षिणपंथी माने जाते थे और 'समाजवादी' नेहरु दोनों के विचार इस प्रस्ताव के विरोध में एक थे। मतभेद इस स्तर तक जा पहुंचे थे कि राजाजी ने कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया। गांधी ने नेहरु और आजाद को भी त्यागपत्र सौंप देने का निर्देश दिया। नेहरु और आजाद में गांधी के विरोध में खड़े होने का साहस नहीं था। उन्हें गांधी के सामने समर्पण करना पड़ा और उनका प्रस्ताव स्वीकार करना पड़ा। नेहरु को स्वयं 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव प्रस्तुत करना पड़ा था। 8 अगस्त को भारत छोड़ो प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था। गांधी जी ने आह्वान किया करो या मरो। उन्होंने केवल प्रस्ताव पास किया था परंतु किसी सक्रिय कार्यक्रम को तैयारी नहीं की थी। इतना ही नहीं प्रस्ताव के अगले ही दिन गांधी वायसराय से मिलने चले गये।...(वायसराय ने गांधी जी से मिलने से मना कर दिया था)। उनका किसी भी तरह से आंदोलन का इरादा ही नहीं था। ब्रिटिश सरकार ने देश के हर कोने में गिरफ्तारियां शुरू कर दीं। इसने कांग्रेसी नेतृत्व को जेल की निचली तहों में ठूंस दिया। इतिहासकार कोशंबी ने बिना किसी कार्रवाई योजना के भारत छोड़ो आह्वान बड़े भारतीय बुर्जुआ के हित में बुद्धिमत्तापूर्ण रणनीति बताया है। वे लिखते हैं–

''अगर ब्रिटिश जीतते हैं तो स्पष्ट ही है कि कांग्रेस को जापान का समर्थन नहीं करना होगा : अगर दूसरी तरफ जापान भारत पर विजय प्राप्त करने में सफल हो जाता है (इस तथाकथित सुरक्षा क्षेत्र को ध्वस्त करने के लिए उन्हें बस शीघ्रता के साथ शक्तिशाली आक्रमण कर देना है) तो वह भारत पर ब्रिटिशों की सहायता का आरोप नहीं लगा सकेगा।''

गांधी जी की जनता की नब्ज पर अच्छी पकड़ थी। उन्होंने ताड़ लिया था कि युद्ध को लेकर जनताकी बढ़ती हुई हताशा को देखते हुए, समाजवादियों के आंदोलन ओर बोस की गतिविधियां एक जबर्दस्त जनविद्रोह को सुलगा देने वाली हैं। वे सोचते थे कि जनसंघर्षों का विरोध करके निंदित होने की बजाय, कम से कम नाममात्र के लिए सरकार के खिलाफ संघर्ष छेड़ना बेहतर होगा। भारत छोड़ो के इस सामान्य नारे द्वारा कांग्रेस बाद के दिनों में न केवल अपनी सरकार के बुरे कामों की वजह से उत्पन्न बदनामी के दागों की धो सकेगी बल्कि बिना किसी वास्तविक संघर्षों के छेड़े ही जनसंघर्षों की अगुवाई की प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेगी। स्वतंत्र आंदोलन के समूचे इतिहास में प्रत्येक चरण पर, परिस्थितियों के अनुरुप और जनता के मूड के आधार पर रणनीतियां बनाने में, बुर्जुआ नेतृत्व, मजदूर वर्ग की पार्टी सी. पी.आई. की तुलना में आगे रही है। इसे भारत छोड़ो आंदोलन के मामले में साफ–साफ देखा जा सकता है।

भारत छोड़ो का आह्वान करने के बाद जनता के निर्देश के लिए बिना कोई ठोस योजना दिये, कांग्रेस का समूचा नेतृत्व जेल में जा बैठा था। अगस्त से शुरू करके लगभग दस महीनों तक लगता था कि सरकार मौजूद ही नहीं थी। कई स्थानों पर सरकारी संपत्तियों फूंक डाली गई थीं। खासतौर से संचार प्रणाली बुरी तरह क्षतिग्रस्त कर दी गई थी। शुरुआत के केवल शहरों में सीमित आंदोलन धीरे–धीरे गांवों में भी फैलने लगा था। सी.एस.पी. और फारवर्ड ब्लाक ने भूमिगत रहते हुए, जनता को यथासंभव नेतृत्व प्रदान किया था। मध्य वर्ग और शहरी बुद्धिजीवियों ने आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया था। बिहार, उत्तर प्रदेश, मिदनापुर, उड़ीसा, महाराष्ट्र और कर्नाटक में आंदोलन जोर पकड़ता जा रहा था। उत्तर प्रदेश और बिहार में 1944 तक गुरिल्ला युद्ध चलता रहा था।

खासतौर से उन जगहों पर जहां किसान सभा मजबूत थी, संघर्ष काफी तीव्र था। यद्यपि कि सी.पी.आई. ने ब्रिटिश के साथ सहयोग का स्टैंड लिया था, इसके कार्यकर्ता काफी संख्या में सी.एस.पी. के नेताओं के नेतृत्व में संघर्ष में भाग लेते रहे थे। उत्तरी और मध्य बिहार में अस्सी प्रतिशत के लगभग थानों पर या तो विद्रोहियों ने कब्जा कर लिया था, या

वे खाली कर दिये गये थे। पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में आंदोलन काफी विस्तृत और तेज था। पुलिस और सेना द्वारा ढाये गये भीषण दमन के बाद भी 1944 तक गुरिल्ला युद्ध चलता रहा था। इन इलाकों में विद्रोहियों ने स्थानीय सरकारों का निर्माण कर लिया था और उन्होंने जे.पी. और लोहिया द्वारा, नेपाल की सीमा में स्थापित तदर्थ भारतीय सरकार के साथ संपर्क बना लिए थे।

मिदनापुर के तामलुक में और ताम्रलिप्त में स्थानीय सरकारें बना ली गई थीं और तामलुक, महिष दल, नेदीग्रा और बगबानपुर के थानों पर हमला बोल दिया गया था।

उड़ीसा के बालसोर में रक्त वाहिनी नाम के एक क्रांतिकारी संगठन ने संघर्ष की कमान अपने हाथ में ले रखी थी। कोरापुट में जनविद्रोह उठ खड़ा हुआ था। जयपुर के जमींदारों के खिलाफ लगान अदायगी, सुरक्षित व क्षेत्रों पर कब्जा और पुलिस थानों का फूंका जाना जोरों पर चल रहा था। तालचोर तिल्ला में 1943 तक गुरिल्ला युद्ध जारी रहा था। चासी मौलिया (किसान–मजदूर राज ने 1942 में तालचर नगर पर आक्रमण कर दिया था। इस आक्रमण को विफल करने के लिए सरकार ने वायु सेना की मदद ली थी।

पूर्वी भारत का संघर्ष मुख्यतः किसान संघर्ष था जबकि बांबे प्रांत में मध्य वर्ग सक्रिय थे और उन्होंने अरुणा आसफ अली जैसे समाजवादी नेताओं के नेतृत्व के अंतर्गत अनेक क्रांतिकारी कार्रवाइयों कार्रवाइयां की थीं। इनके अलावा खानदेश, सत्ताद और और जम्बूशर क्षेत्रों में भी किसान विद्रोह जारी थे। कर्नाटक में दूरसंचार और रेलवे को बड़े पैमाने पर निशाना बनाया गया था।

बहरहाल किसी ऐसे नेतृत्व के अभाव में जो अखिल भारतीय स्तर पर आंदोलन को संयोजित कर सकता और नेतृत्व दे सकता, सरकार, जनता के फासिस्ट दमन के जरिए आंदोलन को दबाने में समर्थ रही थी।

1943 के अंत तक तकरीबन 10,000 लीग पुलिसस की गोली सेस मारे जा चुके थे। सरकार ने आंदोलन कठोर दमन करके दबाने का प्रयास किया था और इसके लिए कम से कम सेना की कम से कम 57 बटालियनों का इस्तेमाल किया गया था। सरकार हेलीकाप्टरों और मशीनगनों द्वारा जनता पर गोलियों की बौछार कराने में भी नहीं हिचकिचाई थी। सरकार ने बिहार के पटना भागलपुर और मुंगेर, बंगाल के नदिया और तामलक और उड़ीसा के तालचेर में संघर्ष के दमन के लिए वायु सेना का इस्तेमाल किया था।

जनता ने 208 पुलिस थानों और चौकियों को, 332 रेलवे स्टेशनों को और 945 पोस्ट आफिसों को नष्ट कर दिया था। आंदोलन जो स्वतः स्फूर्त ढंग से उठ खड़ा हुआ था उचित नेतृत्व के अभाव में 1943 के अंत तक कमजोर पड़ गया था।

गांधी, जिन्होंने करो या मरो का नारा दिया था, कांग्रेस जिसने भारत छोड़ो का प्रस्ताव पास किया था, जेलों में बैठे, आंदोलन की आलोचना करते रहे थे। उन्होंने बार–बार घोषणा की कि कांग्रेस के नाम पर उस समय चलाये जा रहे आंदोलन से उनका कोई संबंध नहीं है। (किंतु ये ही कांग्रेस नेता, जेल से टूटने के बाद बेशर्मी के साथ डींग हांकते थे कि उन संघर्षों का नेतृत्व उन्होंने किया था। सी.पी.आई. न केवल जनता के इस महान संघर्ष से अलग खड़ी रही थी अपितु उसने संघर्ष का विरोध भी किया था इसने इस आंदोलन के आह्वान के लिए कांग्रेस पर आरोप लगाया था। इसने सी.एस.पी. और फारवर्ड ब्लाक पर भी जो कुछ हद तक इस आंदोलन का नेतृत्व संभाले हुए थे, हमला बोला था।

''ईमानदार परंतु अंधे देशभक्त इस जनविद्रोह का नेतृत्व देश की आजादी के लिए कांग्रेस संघर्ष के रूप में गठित करते हुए, करना चाहते हैं।''

''वर्तमान राष्ट्रीय विद्रोह नपे जो रास्ता अख्तियार किया है, वह मुक्ति या स्वतंत्रता का न होकर राष्ट्रीय आत्मघात का रास्ता है। यह अनिवार्य रूप से नागरिक क्षोभ और अव्यवस्था, अराजकता और यहां तक कि लूट और अग्निकांडों की तरफ ले जाता है, यह राष्ट्र की अपरिहार्य सुरक्षा को नष्ट करता है...। यह देशभक्ति के नाम पर पंचम स्तंभ गतिविधियों के लिए जनाधार पैदा करता है। संक्षेप में, यह ऐसा रास्ता है जो जो जनता की उस एकता की जड़ों पर ही हमला बोलता है, जो राष्ट्रीय सरकार की प्राप्ति के लिए और सफल राष्ट्रीय सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिए एकमात्र साधन हो सकती है।

सी.पी.आई. ने गांधी की रिहाई के लिए और राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के लिए, यह कहते हुए अभियान चलाया था कि यह उस समय की संकटपूर्ण स्थिति का मुकाबला करने का एकमात्र रास्ता है।

''इस खतरनाक स्थिति से निकलने का एक ही रास्ता है... जनता के खिलाफ दमनात्मक कार्रवाई को रोक दिया जाना, महात्मा गांधी तथा अन्य कांग्रेसी नेताओं की रिहाई और कांग्रेस एवं अन्य राजनीतिक पार्टियों, खासतौर से मुस्लिम लीग के साथ, एक ऐसी तदर्थ राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के लिए समझौता वार्ता चलाना, जो पूरी तरह संप्रभुत्ता प्राप्त हो और जनता को एक करने और उसे संयुक्त राष्ट्र के निकट सहयोग के साथ देश की आजादी और सुरक्षा के लिए गोलबंद करने के लिए संकल्पबद्ध हो।''

सीपीआई ने गांधी और अन्य कांग्रेसी नेताओं की रिहाई के लिए आंदोलन चलाया। यह चाहती थी कि कांग्रेस मुस्लिम लीग की अलग पाकिस्तान की मांग स्वीकार कर ले। (मुस्लिम लीग ने 1940 के लाहौर अधिवेशन में पाकिस्तान की मांग का प्रस्ताव पास कर लिया था)। इसने कांग्रेस और मुस्लिम लीग से (ब्रिटिश के नियंत्रणाधीन) राष्ट्रीय सरकार बनाने के लिए प्रार्थना की। इसने युद्ध की आवश्यकताओं को देखते हुए नो स्ट्राइक पालिसी अख्तियार की और उत्पादन बढ़ाने के लिए अभियान चलाया। अनाज की कमी को ध्यान में रखते हुए इसने काला बाजारियों के खिलाफ आंदोलन चलाया था।

सी.पी.आई. की प्रथम कांग्रेस

सी.पी.आई. की पहली कांग्रेस 23 मई से 1 जून 1943 तक, बंबई में आयोजित हुई थी। इस कांग्रेस में 139 डेलीगेट शामिल हुए थे। (139 डेलीगेटों में 86 बुद्धिजीवीी थे; 25 किसान वर्ग से आये थे, 22 औद्योगिक सर्वहारा और 15 महिलायें थीं)। कांग्रेस ने राजनीतिक प्रस्ताव और संविधान अंगीकृत किए थे। कांग्रेस के बाद भी सी.पी.आई. की नीति में कोई परिवर्तन नहीं आया था। महत्वपूर्ण केवल यह था कि पहली बार पूरे देश के सभी पार्टी सदस्यों का प्रतिनिधित्व करने वाली कांग्रेस का आयोजन कर लिया था।

स्तालिनग्राद में, हिटलर की सेना पर सोवियत रूस की निर्णायक विजय ने युद्ध की समूची परिस्थिति को ही उलट दिया था। यह स्पष्ट हो चला था कि फासीवाद की पराजय अनिवार्य है। यह जीत न केवल जर्मनी के बल्कि जापान के फासीवाद पर भी एक भारी चोट थी। यह कहते हुए कि स्टालिनग्राद विजय द्वितीय विश्व युद्ध में एक मोड़ बिंदु है, माओ ने लिखा था :

''... स्तालिनग्राद के सुरक्षा संग्राम के बाद में पिछले वर्ष के मुकाबले स्थितियां पूर्णतः भिन्न हैं। एक तरफ, सोवियत यूनियन अब बड़े पैमाने पर द्वितीय शीत प्रति आक्रमण संचालित करेगा, ब्रिटेन और यूनाइटेड स्टेट्स (अमेरिका) दूसरे मोर्चे को खोलने में अब ओर देरी नहीं कर पायेंगे (यद्यपिप कि निश्चित तारीख अभी भी नहीं बताई जा सकती) और यूरोप की

जनता प्रत्युत्तर में उठ खड़ी होने के लिए तैयार हो जायेगी। दूसरी तरफ जर्मनी और उसके यूरोपियन संश्रयकारियों के पास अब वह ताकत नहीं बची है कि वे बड़े पैमाने पर आक्रमण कर सकें और हिटलर के पास अब इसके सिवा कोई चारा नहीं बचा है कि वह अपनी पूरी कार्यदिशा को रणनीतिक आत्मरक्षा की बना ले। एक बार हिटलर बचाव की रणनीति की ओर मुड़ने को मजबूर हो जाता है, तो फासीवाद की भाग्य पर ग्रहण लग जायेगा। अपने जन्म से ही, हिटलर के राज्य जैसा कोई फासीवादी राज्य, अपना राजनीतिक और सामरिक जीवन आक्रामक बनाता है, और एक बार इसका आक्रमण रूक जाता है, तो इसका जीवन ही रूक जाता है। स्तालिनग्राद की लड़ाई फासीवाद के आक्रमण की रोक देने वाली है और इसलिए और सुरक्षात्मक है। यह पूरे विश्वयुद्ध के लिए ही सुरक्षात्मक है।''

''यह घटनाक्रम, सुदूर पूर्व पर सीधा प्रभाव डालने वाला है। आने वाला साल जापानी फासीवाद के आक्रमण के लिए भी अनुकूल नहीं है। जैसे–जैसे समय बीतेगा, इसका सरदर्द बढ़ता चला जायेगा जब तक कि यह कब्र में जाकर दफन नहीं हो जाता।''

''उन सभी को जो विश्व परिस्थिति को लेकर निराशावादी रूख अख्तियार किए हुए हैं, अपना दृष्टिकोण बदलना होगा''

सी.पी.आई. का नेतृत्व महसूस करता था कि भारतीयों के स्वतंत्रता बिना किसी प्रयास के प्राप्त हो जायेगी क्योंकि फासीवाद की पराजय और कांग्रेस तथा लीग के बीच एकता इसके चोबदार हैं, जो स्वतंत्रता प्राप्ति का रास्ता खोल देंगे।

1941 में, जब मलाया, सिंगापुर और बर्मा का पतन हो गया था, युद्ध भारत के पिछवाड़े तक आ पहुंचा था। परंतु 1942 तक जापान की बढ़त को रोक दिया गया था और जब पहली कांग्रेस चल रही रही थी, जापान को भी अपने साथी जर्मनी की तरह सुरक्षात्मक रूख अख्तियार करना पड़ गया था। जर्मनी या जापान, दोनों की तरफ से हमले का खतरा टल गया था।

कांग्रेस के शुरू होने के ठीक एक दिन पहले, 22 मई 1943 को, ई.सी.सी.आई. ने कोमिंटर्न के विसर्जन के अपने निर्णय की उद्घोषणा कर दी थी। (10 जून को इसकी समाप्ति हुई थी) सी.पी.आई. की पहली कांग्रेस एक ऐसे समय पर आयोजित हुई थी। जब अंतरराष्ट्रीय और राष्ट्रीय स्थितियों में तीव्र परिवर्तन घटित हो रहे थे और एक ऐसे चरण्ण की शुरुआत हो रही थी, जिसमें कम्युनिस्ट पार्टियों को राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का विश्लेषण करना था और अपनी राजनीतिक कार्यदिशा और रणनीति को खुद सूत्रबद्ध करना था। दरअसल इस कांग्रेस को सी.पी.आई. के इतिहास में एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना बन जाना चाहिए था। परंतु सिवा इस आश्वस्ति के कि सी.पी.आई. की पहली कांग्रेस कोमिंटर्न के जीवन काल में ही संपन्न हो गई थी, जहां तक भारतीय आंदोलन का प्रगति का सवाल है, इस कांग्रेस का कोई महत्व नहीं है।

सी.पी.आई. के नेतृत्व ने, जिसे स्वतंत्र रूप से मार्क्सवादी लेनिनवादी तरीके से राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में होने वाले परिवर्तनों के विश्लेषण की और नई परिस्थितियों के अनुरुप अपनी पहल पर रणनीति तैयार करने की कमी आदत नहीं रही, इस कांग्रेस को औपचारिक रूप से ही संपन्न किया था। (इसके लिए भी ब्रिटिश साम्राज्य के साथ बिलाशर्त एकता प्राप्त प्रदान करने के एवज में प्राप्त कानूनी अवसरों को धन्यवाद है।)

इस कांग्रेस ने उस जनयुद्ध की नीति (पालिसी आफ पीपुल्स वार की शत्रु सहयोगी और अवसरवादी रणनीति पर, जिसे सी.पी.जी.बी. के सचिव हैरी पोलिट और आर.पी.दत्त द्वारा सूत्रबद्ध किया गया था और जिसका सी.पी.आई. अनुसरण कर रही थी, सहमति की मुहर लगा दी थी। कांग्रेस द्वारा स्वीकृत राजनीतिक प्रस्ताव वास्तव में सी.पी.आई. की उस

राजनीतिक कार्यदिशा और रणनीति की पुर्नघोषणा थी, जो सी.पी.आई. द्वारा फरवरी 1942 में **स्वतंत्रता की ओर (फारवर्ड फ्रीडम)** के नाम से लागू की गई थी।

हम देख चुके हैं कि सी.पी.आई. के नेतृत्व में सर्वहारा पार्टी की अपनी स्वतंत्रता, स्वतंत्रता आंदोलन पर सर्वहारा की प्रभुता और कृषि क्रांति के कार्यक्रम के साथ किसानों की लामबंदी के प्रति, अनिच्छा दिखाई देती रही है। ठोस परिस्थितियों के अध्ययन पर आधारित कोमिंटर्न की सामान्य कार्यदिशा को रचनात्मक तरीके से लागू करने की बजाय सी.पी.आई. नेतृत्व में कोमिंटर्न के सुझावों पर अपने मनोगत आकलनों के आधार पर, अमल करने की मजबूत प्रवृत्ति रही है, वह भी केवल उन्हीं सुझावों पर जो उनके लिए स्वीकार योग्य हों। (और केवल नितांत यांत्रिक तरीके से)। दत्त–ब्रैडले थीसिस ने सी.पी.आई. की इन कमजोरियों को मजबूत होने में ही मदद की थी। यद्यपि कि कोमिंटर्न की सातवीं कांग्रेस द्वारा सूत्रबद्ध ''साम्राज्यवाद विरोधी संयुक्त मोर्चे की रणनीति'' मूलतः सही थी, परंतु सी.पी.आई. ने इसका खुद के अवसरवादी और यांत्रिक तरीके से पालन किया था। इसका परिणाम यह निकला कि साम्राज्यवादी युद्ध के चरण के दौरान एक ओर क्रांतिकारी रणनीति को स्वीकार करते हुए भी यह व्यवहार में यह बड़े बुर्जुआ का पुच्छल्ला बनी रही और इसने अपनी राजनीतिक पहलकदमी गवां दी।

सी.पी.आई. नेतृत्व का अवसरवाद, शत्रु सहयोग और यांत्रिक पहुंच जनयुद्ध के चरण में चरम पर पहुंच गई थी। पहले कांग्रेस के राजनीतिक प्रस्ताव शुद्ध अवसरवाद, शत्रु सहयोग और यांत्रिकता का सर्वोच्च उदाहरण ठहरता है। मंच को कांग्रेस और मुस्लिम लीग के झंडे से सजा और नेहरु तथा जिन्ना की तस्वीरें लगाना, सी.पी.आई. नेतृत्व के शत्रु सहयोग को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करता है।

जनयुद्ध के समय तक सी.पी.आई. को नेतृत्व ने अपना वर्ग नजरिया खो दिया था। कांग्रेस और लीग के वर्ग चरित्र का पर्दाफाश करने की बजाय लगातार राष्ट्रीय एकता पर जोर डालने की आदत को इसने मुकम्मल (परफैक्ट) बना लिया था। जिस शत्रु सहयोग का पालन यह दलाल पूंजीपति के प्रति करती थी, अब ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के प्रति भी करने लगी थी। इसने देश की सुरक्षा और जनता के युद्ध के नाम पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ बिलाशर्त सहयोग करना शुरू कर दिया था। यद्यपि कि साधारण आदमी के लिए भी यह स्पष्ट हो गया था कि जर्मनी या जापान द्वारा भारत पर कब्जा कर लेने का खतरा और समाजवादी आधार सोवियत रूस को चुनौती; समाप्त हो गया है, इसने अपनी अवस्थिति पर पुनर्विचार करने का ठोस प्रयास नहीं किया – उल्टे इसने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष का भी दृढ़ता कि साथ विरोध किया। इसने एक तरफ दलाल बुर्जुआ पार्टियों के साथ और दूसरी तरफ ब्रिटिश सम्राज्यवाद के साथ शत्रु सहयोग की होड़ लगा दी थी।

इस हेतु इसने मजदूरों, किसानों और उत्पीड़ित जनों के संघर्षों की बलि दे दी। हमेशा देश पर फासीवादियों के कब्जे से डरते रहने और हर जगह फासिवादियों के चौथे खंभे की कल्पना करते रहने की वजह से, सीपीआई जन संघर्षों के भारी उफान को विघटनकारी गतिविधि मानती रही थी। सीपीआई की कांग्रेस ने साम्राज्यवाद और दलाल पूंजीपति का दुमछल्ला बने रहने की इस नीति पर सहमति की मुहर लगा दी थी। पार्टी ने युद्ध बाद के इस क्रांतिकारी उफान नेता के रूप में खुद को स्थापित करने का सुनहरा अवसर गंवा दिया था।

राजनीतिक प्रस्ताव के कुछ महत्वपूर्ण बिंदु

1. जनता के युद्ध की अवधि के दौरान सी.पी.आई. ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद और नौकरशाही के बीच एक अस्तित्वहीन अंतर्विरोध का आविष्कार कर लिया था।इसने ब्रिटिश सरकार के सभी पापों और गलत कामों को ब्यूरोक्रेसी के मत्थे मढ़ दिया। इसने जनता की असंतुष्टि और साम्राज्यवाद के खिलाफ उसके विद्रोह को मात्र नौकरशाही पर दबाव डालने में न्यूनीकृत कर दिया। क्रिप्स मिशन की असफलता से लेकर खाद्य संकट तक, सबकुछ के लिए नौकरशाह को जिम्मेवार ठहराया था।

''... जब ब्रिटिश और अमेरिकन जनता के दबाव में, क्रिप्स मिशन फलीभूत हुआ तो इन प्रतिक्रियावादियों ने इसको विनष्ट कर दिया। क्रिप्स मिशन मुख्यतः इसलिए असफल हुआ कि नौकरशाही ने वास्तविक शक्ति जनता के हाथों सौंपने से इंकार कर दिया और जनता को सुरक्षा के लिए प्रभावकारी ढंग से गोलबंद करने में सक्षम राष्ट्रीय सरकार की स्थापना को रोक दिया... इन्होंने कांग्रेस द्वारा संघर्ष और असहयोग की धमकी का लाभ उठाया।''

2. इसने सोशलिस्ट पार्टी और फारवर्ड ब्लाक पर जो भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान और बाद में स्वतः स्फूर्त ढंग से फूट पड़ने वाले जनसंघर्षों का नेतृत्व लगाया और इसने उन्हें अपना मुख्य शत्रु मानकर इन पर अपने आक्रमण को अपना उद्देश्य बना लिया था।

''वे समूह जो पांचवा स्तंभ बनाता है, द्रोही बोस की पार्टी फारवर्ड ब्लाक है, सीएसपी है जिसने युद्ध के शुरू हो जाने पर समाजवाद के साथ धोखा किया है, जिसने अवसरवाद तथा तोड़फोड़ की नीति अपना ली है और जो त्रात्स्कीपंथियों की जमात में जा मिली है; और अंतिम रूप से त्रात्स्कीपंथी समूह है जो फासीवादियों का वेतनभोगी आपराधिक गिरोह है। कम्युनिस्ट पार्टी घोषित करती है कि प्रत्येक ईमानदार हिंदुस्तानी द्वारा इन समूहों को राष्ट्र का निकृष्टतम शत्रु मानना चाहिए, और इन समूहों को राजनीतिक जीवन से बाहर भगा कर इनका उन्मूलन कर देना चाहिए।''

''पांचवा स्तंभ जो राष्ट्रीय सरकार राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए नहीं बल्कि जापानियों के साथ समझौता करने के लिए चाहता है और इस प्रकार ब्रिटेन तथा अमेरिका की जनता और भारत की जनता के बीच एक खाई खोद देना चाहता है... नौकरशाही द्वारा ढाये जाने वाला भयंकर दमन एक तरफ से और पांचवे स्तंभ द्वारा नाराज देशभक्त जनों की मदद से चलाया जाने वाली विंध्वसात्मक कार्रवाई दूसरी तरफ से भारत के लिए की और साथ ही साथ संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्य के लिए एक गंभीर संकट की स्थिति पैदा कर रहे हैं।

''पांचवे स्तंभ ने जनांदोलनों में प्रवेश कर लिया है और इसके ऊपर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया है और इसने इसे राष्ट्रीय सुरक्षा के खिलाफ एक व्यापक विध्वंसक जनकार्रवाई की रूप संगठित करने का प्रयास किया है। इसने जनता को संचार और यातायात के साधनों को ध्वंस करने में लगा दिया है। इसने उत्पादन के खिलाफ हड़तालों और कामरोको आंदोलन का सूत्रपात कर दिया है। इसने पुलिस और जनता के विरुद्ध उत्तेजक बम विस्फोटों की कार्रवाइयां संगठित की हैं। इसने गांवों में अराजकता लूट और आतंक फैला दिया है और शैक्षिक संस्थानों में विद्रोह भड़काने का काम किया है। यह अपनी सभी कारस्तानियों का औचित्य ठहराने के लिए ''स्वतंत्रता आंदोलन'' का नाम लेती है... एक ऐसी स्थिति का निर्माण किया गया है जो आक्रमणकारी के लिए अत्यंत सुविधाजनक है।''

3. ''राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए राष्ट्रीय सरकार'' यह सी.पी.आई. का आधारभूत नारा था। इसकी दलील इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए राष्ट्रीय एकता के नाम पर, साम्राज्यवादी युद्ध प्रयासों के साथ शर्तहीन सहयोग करने की (अर्थात् कांग्रेस और लीग की एकता) की थी। युद्ध द्वारा उत्पन्न किये गये खाद्य संकट जैसी सभी बुराइयों का मूल कारण नौकरशाही

ही है, और इसलिए इनका निदान तानाशाही पर दबाव बढ़ाकर ही किया जा सकता है परंतु हमें ब्रिटिश सरकार के खिलाफ आंदोलन में नहीं उतरना चाहिए।

एक तरफ जब पूंजीपति वर्ग युद्ध काल में भारी लाभ अर्जित करते हुए और भी मोटा हुआ जा रहा था, दूसरी तरफ कहा जा रहा थाकि मजदूर या किसान अपने जीवन स्तर की बनाये रखने के लिए या अपनी दैनिक जरुरतों के लिए भी संघर्ष न करें। यह थी इसकी हड़ताल विरोधी नो स्ट्राइक नीति। अगर मजदूर या किसान अपने रोजाना के मुद्दों पर संघर्ष करते हैं तो यह अर्थवाद है; बिना थके उत्पादन में वृद्धि करते रहना मजदूरों और किसानों का कर्तव्य है। संक्षेप में कहा जाये तो बड़े पूंजीपति, व्यापारी वर्ग और भूस्वामी वर्ग युद्ध से उपार्जित लाभों को डकार कर मोटा होता चला जायेगा और ब्रिटिश साम्राज्यवाद अपने साम्राज्य को सुरक्षित कर लेगा। इसके लिए मजदूरों और किसानों की भूखे पेट रहकर दिन रात उत्पादन में लगे रहना चाहिए उन्हें युद्ध का सारा बोझ अपने कांधों पर उठा लेना चाहिए। सी.पी.आई. ने इस आधारभूत तथ्य को भी भुला दिया कि मजदूरों को न्यूतम जीवर स्तर की और किसानों को सामंती दममन से कुछ मुक्ति दिलाने की जरूरत है।

''आज का मूल नारा राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए राष्ट्रीय एकता का, राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए सरकार हासिल करने का है। आज की फौरी आवश्यकता सुरक्षा, भोजन और उत्पादन के लिए कार्यात्मक एकता बनाने की है। एकमात्र यही हमें स्वतंत्रता और विजय की तरफ ले जा सकता है।''

''मजदूर का यह देशभक्तिपूर्ण कर्तव्य है कि अधिक उत्पादन और बेहतर यातायात की व्यवस्था के लिए और बास तथा नौकरशाही क्या करते हैं, इसकी चिंता छोड़कर, काम में आने वाली रूकावटों के खिलाफ पहलकदमी लेकर सुरक्षा को मजबूत बनाये।''

''राष्ट्रीय परिदृश्य पर पांचवा स्तंभ प्रकट हुआ है, जमाखोरी को हर तरफ से प्रोत्साहित करता, खाद्य दंगों को भड़काता हुआ। ''सरकार तुम्हारा भोजन लूट रही है, इसलिए अपना अनाज बचाओ'', ''खाद्यान्न के लिए दंगा'' और ''भोजन का एक यात्रा रास्ता लूट'' इनके नारे हैं। यह दिखलाता है कि खाद्य संकट कितना विनाशक है और कैसे यह खतरा राजनीतिक संकट पृष्ठभूमि में और भी गहराता जा रहा है।''

''जब तक मजदूर वर्ग खुद कमर नहीं कर न लेता है और सेना तथा लोगों के लिए उत्पादन बढ़ाने हेतु देशभक्तिपूर्ण उत्पादन नीति लागू करने के लिए आगे नहीं आता है, तब तक नौकरशाही की मजदूर वर्ग विरोधी नीति, लाभ कमाने वाले मालिकों द्वारा उत्पादन में रूकावट डालना और नुकसान पहुंचाने तथा पांचवे स्तंभ की घृणित गतिविधियों को अंतिम रूप से पराजित नहीं किया जा सकता है।''

4. कांग्रेस तथा ब्रिटिश सरकार और कांग्रेस तथा लीग के किसी सहमति पर न पहुंच पाने के परिणामस्वरूप उत्पन्न गतिरोध ने देश को एक राजनीतिक संकट में धकेल दिया है। इस गतिरोध की समाप्ति के लिए, कांग्रेस नेताओं को रिहा किया जाना चाहिए। सी.पी.आई. का सामने इस मांग को उठाने के कार्यभार उपस्थित है। कांग्रेस को बिलाशर्त राष्ट्रीय सुरक्षा में सहयोग करना चाहिए और सरकार को चाहिए कि वे कांग्रेसियों को रिहा कर दें। कांग्रेस को पाकिस्तान की मांग ससे सहमत हो जाना चाहिए और लीग से एकता कर लेनी चाहिए। इस तरह से कांग्रेस और लीग को राष्ट्रीय सरकार बनाने में मदद करनी चाहिए। इस तरह से ही राजनीतिक संकट हल होगा। इस प्रकार सी.पी.आई. ने दलाल पार्टियों और साम्राज्यवाद के बीच एक समझौता करा देने के लिए, अपना कंधा पेश कर दिया था।

''दूसरे चरण में, जिसे कार्यवाही (एक्ट) में राष्ट्रीय एकता निर्मित करने का नाम दिया जा सकता है, वाम–राष्ट्रीय विच्युति प्रगति पर एक बड़ी रुकावट है। उदाहरण के लिए खाद्य

अभियान लेता जो खुद को नौकरशाही के पर्दाफाश तक सीमित कर लेता है साथ ही इसे एक सामान्य मांग के रूप में सूत्रबद्ध करता है, खाद्य की तरफ नहीं बल्कि दंगे की ओर ले जाता है...।''

''मुख्य विच्युति उत्पादन नीति के देशभक्तिपूर्ण राजनीतिक आधार को बिल्कुल ही नहीं समझ पाना है। किसान मोर्चे और मजदूर मोर्चे पर पुराने तरीके से अर्थात अधूरी मांगों के लिए किसान और मजदूर कोा एक करो के नारे पर काम करते रहना एक प्रवृत्ति बन गई है। यह शुद्ध अर्थवाद है। मजदूरों और किसानों को उत्पादन बढ़ा कर देश की रक्षा करने के देशभक्तिपूर्ण कार्य के लिए खड़ा करने से इंकार अपनी मांगों की ओर साथ ही संगठन को मजबूत बनाने की असफलता की तरफ ले जाना वाला है। यह मजदूरों और किसानों को पांचवे स्तंभ के सामने असहाय छोड़ देगा और औद्योगिक तथा अन्न दोनों के उत्पादन मोर्चे को विध्वंसक खतरे में डाल देगा।''

''इस अभियान को सबके सामने लाने के लिए जो नारा हम सबसे आगे रखेंगे वह है गतिरोध का अंत करो (एंड डेड लाक)। इस अभियान में लीग का समर्थन हासिल करने के लिए हमें यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि कांग्रेस नेताओं की रिहाई और कांग्रेस–लीग एकता ही आत्मनिर्णय का एकमात्र रास्ता है, कोई दूसरा नहीं।''

''... हमारी देशभक्त पार्टियों ने उस एकमात्र देशभक्तिपूर्ण कर्तव्य को तिरस्कृत करने की नीति अपना रखी है, जो स्थितियों की मांग है, जैसे कि देश की रक्षा के लिए लोगों को एक करने का कर्तव्य, इस नीति ने तानाशाही को दंगा–फसाद पैदा करने में और राष्ट्र के भाग्य को नष्ट करने में समर्थ बनाया है। हमारे देश की दो महान देशभक्ति पार्टियां यानी राष्ट्रीय कांग्रेस और मुस्लिम लीग, इस वास्तविकता को समझने की बजाय कि हमारा प्रथम निःशर्त और प्रमुख कर्तव्य देश की रक्षा करना है, इसके लिए लोगों को एक करने की बजाय इस बात का इंतजार कर रही है कि साम्राज्यवादी उन्हें सत्ता सौंप देंगे। उन्होंने अपनी नीति को उस राष्ट्रीय एकता की ताकत पर आधारित नहीं की है, जिसे अब बड़े पैमाने पर निर्मित कर पाना संभव है, मात्र इस सीधे कारण से प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक आदमी को समान कष्ट झेलना पड़ रहा है।''

''एकमात्र हमारी पार्टी है जिसके कांधों पर देश को नैतिक पतन और अनुत्साह के दलदल से बाहर निकालने का और सभी देशभक्त पार्टियों को अनेकता के बंजर पथ से मोड़कर देश की सुरक्षा के लिए अखिल भारतीय एकता के पथ पर जो आज एकमात्र संभव देशभक्तिपूर्ण पथ है, ले चलने का कार्यभार निर्भर करता है।''

सीपीआई कांग्रेस द्वारा अंगीकृत संविधान में तकनीकी प्रबंधन, भूमिगत पार्टी निर्माण, कानूनी और गैर कानूनी संगठनों के बीच समन्वय से संबंधित पहलुओं को त्याग दिया गया था। (1934 के मसौदा मंच (ड्राफ्ट प्लेटफार्म) के आधार पर सूत्रबद्ध विधानों में यह सभी पहलू सम्मिलित किये गये थे) ब्रिटिश सरकार ने, जो सशंकित थी कि सीपीआई युद्ध के बाद भूमिगत संगठन का निर्माण कर सकती है, इसके संविधान पर नजर डालने के बाद के अपना संतोष व्यक्त किया था।

इसका अपना आकलन कि युद्ध के बाद ब्रिटिश सरकार अपनी तरफ अपनी तरफ से आजादी दे देगी, युद्ध के बाद के दौर में जनता के व्यापक उभार पर अपेक्षित विचार करने में इसकी असमर्थता और ठीक जन्म से ही वैधानिकता (लीगलिज्म) के प्रति इसके प्रेम ने सीपीआई को भूमिगत पार्टी निर्माण को बिदा कर देने तक पहुंचा दिया था।

बी.टी. रणदिवे द्वारा कांग्रेस में प्रस्तुत उत्पादन पर रिपोर्ट, मजदूर वर्ग और राष्ट्रीय सुरक्षा (वर्किंग क्लास एंड नेशनल डिफेंस) सीपीआई द्वारा लागू की जा रही नो स्ट्राइक नीति का इन शब्दों में उल्लेख किया था।

''राष्ट्रीय संकट के कदमों पर चलकर खाद्य संकट और आर्थिक संकट भी चले आये, जिससे हड़तालों की स्वतःस्फूर्त लहरें फूट पड़ीं, अगर हम नहीं होते तो ये पूरे देश में फैल जातीं।''

''कामरेड्स, जब रेलवे बोर्ड अतिरिक्त भत्ते प्रदान करने से इंकार कर रहा था और जब रेलवे वर्कशापों में हड़तालें फूट पड़ी थीं, तब किसने अखिल भारतीय रेल हड़ताल को रोक दिया था? यह हम थे जो सबसे बड़ी रेल यूनियनों में से कुछ को संचालित करते हैं जैसे कि दक्षिण भारतीय रेलवे और कुछ अन्य घटकों के सहयोग से दूसरी युनियनों का संचालन करते हैं। अगर हमारी रेलवे मजदूरों पर मजबूत पकड़ नहीं होती तो सारे भारत में स्वतः स्फूर्त कार्रवाइयां फैल जातीं। हमने हड़ताली लहर को रोके रखा। हमने मजदूरों को उत्पादन बचाने के लिए आह्वान किया, जो सरकार द्वारा जारी आत्मघाती नीति के विरुद्ध राष्ट्रीय सुरक्षा का मूलाधार है।

''हमने हड़ताल से फैलने से रोक दिया; या हमने स्वतः स्फूर्तता में कूद पड़े और तेजी के साथ उसे शांत कर दिया; या विवादों का निस्तारणा को स्थगित रखते हुए हड़तालों को वापस ले लिया।''

''ऐसा हम इसलिए कर सके कि हमने वास्तविकता का अनुभव कर लिया था कि हम ऐसे समय में हड़तालों का घंटे काम पर मौजूद रहने, उत्सह नहीं मना सकते जब राष्ट्र को, मजदूरों के चौबीसों घंटे काम पर उपस्थित रहने की जरूरत है।''

रणदिवे ने उन कामरेडों पर वाम राष्ट्रवादी अवस्थिति लेने का आरोप लगाया जो उत्पादन को आर्थिक मांगे के साथ जोड़ देने की दलील दे रहे थे।

''कोई आश्चर्य नहीं होगा... अगर हमारे कुछ साथी उत्पादन का सशर्त समर्थन करने की राष्ट्रवादी अवस्थिति में फिसल जाते हैं।''

कांग्रेस ने 22 सदस्यों वाली केंद्रीय कमेटी का चुनाव संपन्न किया। ये सदस्य थे :

1. पी.सी. जोशी, 2. ए.के.घोष, 3. एस.वी. घाटे, 4. एस. ए. डांगे, 5. इकबाल सिंह, 6. सोमनाथ लाहिड़ी, 7. भवानी शंकर सेन गुप्ता, 8. एस.के.कृष्णन, 9. अरुण बोस, 10. मंजूर रिजवी, 11. एस.जी. सरदेसाई, 12. डा.जी. एम.अधिकारी, 13. आर.डी.भारद्वाज, 14. पी. सुदरैया, 15. बी.टी. रणदिवे, 16. ई.एम.एस. नंबूदरीपाद, 17. रणेन्द्रनाथ, 18. सज्जाद जहीर, 19. मोहन कुमार मंगलम, 20. एस.एस.बाटलीवाला, 21. विश्वनाथ मुखर्जी, 22. डी.एस.वैद्य।

जोशी, अधिकारी और रणदिवे को शामिल करते हुए एक पोलिट ब्यूरो का गठन किया गया। जोशी को पुनः महासचिव चुन लिया गया।

महासचिव की रिपोर्ट के अनुसार 1 मई तक पार्टी सदस्यता 15,563; ट्रेड यूनियनों की सदस्यता 3,01,400; किसान सभा 3,85,370; विद्यार्थी 39,155; महिलायें 41,100; बच्चे 9,000 और स्वयंसेवक 31,166 थे।

जनयुद्ध की समूची अवधि में चूंकि सीपीआई ने ब्रिटिश सरकार का बिलाशर्त समर्थन करने की अवस्थिति (पोजीशन) अख्तियार कर रखी थी, यह राजनीतिक रूप से अलगाव में पड़ गई थी और इसने अपनी प्रतिष्ठा गवां दी थी। फिर भी इसी अवधि में इसने अपने पार्टी संगठन का और अपने जनसंगठनों को विस्तार भी कर लिया था। पी.सी.जोशी ने दावा किया था कि यह विस्ताार साबित करता है कि पार्टी की राजनीतिक कार्यदिशा सही थी। राष्ट्रव्यापी शक्तिशाली जनविद्रोह के नेता के रूप में उभरने के अवसर को गंवा देने के समय, इस

प्रसार पर ही संतुष्ट होना हास्यास्पद है। यह प्रसाद भी इसलिए हो सका था कि उस समय इंडियन नेशनल कांग्रेस राजनीतिक पटल से बाहर थी और यह प्रसार कानूनी और अवसरवादी राजनीति के आधार पर हुआ था।

सी.एस.पी. तथा बोस के साथ सी.पी.आई. के संबंध

सी.एस.पी. मुख्यतः एक निम्न बुर्जुआ सुधारवादी पार्टी थी। इसमें विभिन्न रंगत वाले समाजवादी शामिल थे, जिनका विस्तार, वैज्ञानिक समाजवाद के साथ अपने संश्रय की उद्घोषणा करने वाले जयप्रकाश नारायण और आचार्य नरेन्द्र देव से लेकर सेकेन्ड इंटरनेशनल गिरोह तक था। सी.एस.पी. साम्राज्यवाद विरोधियों और समाजवाद की ओर झुकाव रखने वाले बुर्जुआ देशभक्त ताकतों के लिए एक मंच (फोरम) बन गया था। सीपीआई भी इसमें शामिल हुई थी और उसने इसके साथ काम किया था। शुरुआती वर्षों में उनके बीच अच्छे संबंध थे।

बोस साम्राज्यवाद विरोधी बुर्जुआ थे, राष्ट्रवादी थे और देशभक्त थे। शुरुआत में उनहोंने सामंतवाद के खिलाफ किसी भी संघर्ष का विरोध किया था। कांग्रेस में उन्होंने गांधी के नेतृत्व से मुकाबला किया था, परंतु आगा–पीछा करते हुए। कम्युनिस्टों के साथ काम के दौरान, धीरे–धीरे उनमें रुसी क्रांति और कम्युनिज्म के प्रति सकारात्मक रुख विकसित हो गया था। उन्होंने सी.एस.पी. और सीपीआई के साथ काम वाम समन्वय समिति (लेफ्ट–कोआर्डिनेशन कमेटी) में भाग लिया था। यहां तक कि उन्होंने समाजवाद को अपना लक्ष्य निर्धारित कर लिया था। कम्युनिस्टों और सीएसपी की मदद से उन्होंने गांधी के प्रत्याशी को हराकर कांग्रेस के अध्यक्षीय चुनाव में विजय हासिल कर ली थी। सीपीआई ने तो इसे वाम ताकतों की विजय ही बताया था।

जब गांधी ने बोस को कांग्रेस का नेतृत्व करने से गैर जनवादी तरीके से वंचित कर दिया था तब सीपीआई ने वाम एकता को त्याग दिया था जिसकी यह तब तक वकालत करती रही थी और कांग्रेस की एकता के नाम पर एक हर तरह से अवसरवादी स्टैंड लिया था और बोस को त्याग दिया था। गांधी के नेतृत्व का विकल्प खड़ा करने का प्रयास करने की और स्वतंत्रता आंदोलन में दलाल पूंजीवाद का एकाधिकार तोड़ने की बजाय इससने बोस और सीएसपी के साथ अपनी एकता की बलि देने की तैयारी कर ली थी।

युद्ध से पहले, सीएसपी और बोस ने साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चे में सक्रिय भाग लिया था और उन्होंने सोवियत यूनियन के स्टैंड का समर्थन किया था। लेकिन वे रूस द्वारा जर्मनी के साथ की गई संधि को समझ नहीं सके। जब युद्ध छिड़ गया तब वे कांग्रेस नेतृत्व की अवहेलना करते हुए युद्ध विरोधी गतिविधियों को संचालित करने के लिए आगे आ गये थे। वहीं सीपीआई ने यह दलील दी कि कांग्रेस से अलग हो कर संघर्ष करना गलत होगा। जनयुद्ध की अवधि में जब सीपीआई एक छोर तक चली गई थी और सीएसपी दूसरे छोर पर चली गई थी और इसने फासीवाद विरोधी संयुक्त मोर्चे की आवश्यकता को पूरी तरह से उपेक्षित कर दिया था। इस तरह से सीपीआई और सीएसपी ने जनयुद्ध की अवधि में एक दूसरे से विपरीत स्टैंड लिया था।

बोस, जो कांग्रेस में अकेले पड़ गये थे, युद्ध के दौरान कम्युनिस्टों की मदद से देश के बाहर निकल गये और रुस पहुंच गये। परंतु चूंकि रूस उस समय फासीवाद विरोधी संयुक्त मोर्चे में शामिल था, इसलिए बोस को रूस से, एक सेना बनाकर देश को मुक्त कराने की अपनी योजना के लिए रूस से मदद नहीं मिल सकी। तब वे मदद के लिए फासीवादी जर्मनी के पास पहुंचे। बोस ने जो हमेशा ही अंतरराष्ट्रीय मुद्दों को समझने में भ्रमित रहते

थे, इस बार भारी गलती कर दी थी। इस सहज कहावत के अनुसार कि शत्रु का शत्रु हमारा मित्र होता है, बोस के जर्मनी के संयुक्त मोर्चे से उस समय शामिल होने का आत्मघाती रास्ता अख्तियार किया जब समूचे विश्व के लिए यह खतरा बना हुआ था। इसमें कोई संदेह नहीं फासीवाद की विजय से स्वतंत्रता प्राप्ति की उम्मीद करना कच्चापन था और बुद्धिमानी की बात नहीं थी। बोस की मंशा अच्छी होने के बावजूद जनयुद्ध की अवधि में उन्होंने जो रणकौशल अपनाया था वह फासीवाद की ही मदद कर सकता था। फिर भी उन्हें फासीवादी मानना गलत है। इस पर अवश्य ध्यान दिया जाना चाहिए कि उन्होंने आई.एन.ए. को रूसी सेना से न लड़ने की ताकीद की थी।

भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान, सीएसपी और फारवर्ड ब्लाक दोनों ने ही जनता का नेतृत्व करने की भरसक कोशिश की। ब्रिटिश के पीछे–पीछे लगी हुई सीपीआई ने उन पर जनयुद्ध को नुकसान पहुंचाने का आरोप लगाया था और इसने उनके प्रति एक विरोधपूर्ण प्रवृत्ति अपना रखी थी। इसने उनको पांचवा खंभा, विघटनकारी गद्दार आदि बताते हुए बदनाम किया था। इस तरह से इसने राष्ट्रीय आंदोलन के अपेक्षतया विवश्वसनीय सहयोगियों से न केवल दूरी बना ली थी बल्कि उन्हें शत्रु के रूप में ही देखते थे। जब दलाल बुर्जुआ और इसके राजनीतिक प्रतिनिधियों ने सत्ता के हस्तांतरण के समय सीपीआई के खिलाफ धावा बोल दिया तब यह पूरी तरह अलगाव में पड़ गई।

युद्ध बाद का क्रांतिकारी उफान

जब युद्ध समाप्त होने पर आया था तब जून 1945 को सभी कांग्रेसी नेता रिहा कर दिये गये थे। कांग्रेसी नेता जिन्होंने ढाई साल जेल में बिताये थे, राष्ट्रीय हीरो के रूप में पहचाने गये यद्यपि कि उन्होंने भारत छोड़ो आंदोलन की भर्त्सना की थी, पर अब उन्होंने इस आंदोलन का श्रेय लेना शुरू कर दिया था। सरकार के साथ वार्तायें शुरू हो गईं। परंतु अपनी पाकिस्तान की मांग को लेकर लीग के अड़ जाने से किसी समझौते पर नहीं पहुंचा जा सका। यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने वायसराय को छोड़ कर बाकी सभी भारतीय सदस्यों वाली एक केन्द्रीय कार्यकारिणी गठित करने तक के लिए प्रयास किया था, परंतु वह अभी भी सत्ता सौंपने को तैयार नहीं थी। अगस्त 1945 में जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया था।

सारे दक्षिण भारतीय एशिया में जनता के साम्राज्य विरोधी उफान शुरू हो गया था। भारत में भी एक और क्रांतिकारी उफान फूटने को तैयार खड़ा था। परंतु अब कांग्रेस किसी तरह के भी संघर्ष के लिए तैयार नहीं थी। सीपीआई युद्ध के बाद संभावित जनउभार के बारे में सोचने की स्थिति में ही नहीं थी क्योंकि यह कांग्रेस नेताओं की जकड़ में आ गई थी, जेल से बाहर आते ही सीपीआई पर टूट पड़े थे। अनेक पी.सी.सी. कम्यूनिस्टों को कांग्रेस से बाहर कर देने को कटिबद्ध थे। जोशी ने कांग्रेस और गांधी के प्रति अपनी बेदाग निष्ठा और भक्ति का प्रदर्शन करते हुए कांग्रेस नेताओं को शांत करने का प्रयास किया परंतु असफल रहे।

''यह कांग्रेस है जिसने भारतीय स्वतंत्रता का बैनर का बीजारोपड़ किया था; ये कांग्रेस के नता ही हैं जिनसे हमने देशभक्ति के पाठ पढ़े हैं और आज ये कांग्रेस के लोग ही हैं, जो हमें हमारे जीवन के उसी उद्देश्य के लिए जो उन्होंने ही हमें सिखाया है, उनके साथ कंधे से कंधा मिलाते हुए लड़ने के हमारे अधिकार से वंचित करना चाहते हैं। हमारे लिए, कांग्रेस हमारे पैत्रिक संगठन है, इसके नेता हमारे राजनीतिक पिता हैं, इसके अनुसरणकर्ता हमारे हमबांह भाई हैं।''

कांग्रेस ने भारत छोड़ो आंदोलन की अवधि में कम्युनिस्टों की गतिविधियों की जांच के लिए एक कमेटी का गठन कर दिया। नेहरु के अधीनस्थ उस कमेटी ने कम्युनिस्टों के निस्काषन की सिफारिश की थी। इस प्रकार कम्युनिस्टों कांग्रेस को अपने इस्तीफे सौंप दिए।

मुख्य आरोप यह था कि छोड़ो आंदोलन के दौरान कम्युनिस्टों ने कांग्रेस की नीति के विपरीत काम किया था। कांग्रेस इस तथ्य को भी पचा न सकी थी कि सीपीआई ने पाकिस्तान की मांग का समर्पण किया था। परंतु इसने राजगोपालचारी जैसे उन लोगों पर कोई कार्रवाई नहीं की जो लगभग कम्युनिस्टों जैसी ही स्टैंड लिए हुए थे। बल्कि आगे बढ़कर उन्हें नेतृत्व में वापस ले लिया। उस समय कम्युनिस्टों पर आक्रमण करने का अनुकूल वातावरण मौजूद था और कांग्रेस ने इस अवसर का लाभ उठाया था। दलाल पूंजीपति वर्ग अपनी मुख्य मांगों के पूरा होने को निकट देख रहे थे, इसलिए उन्होंने कम्युनिस्टों सेस छुटकारा और इसे राजनीतिक रूप से अलगाव में डालना आवश्यक समझा था।

जिस दौरान कांग्रेस कम्युनिस्टों को राष्ट्र के गद्दार घोषित करते हुए, उन पर भारी आक्रमण (जानलेवा शारीरिक आक्रमण तक) कर रहे थे, उस समय पी.सी.जोशी कांग्रेस के प्रति वफादारी की घोषणा कर रहे थे और बेहद शर्मनाक तरीके से गांधी के पैरों पर समर्पण कर रहे थे। सारी शर्मा हया त्याग कर, कांग्रेस से खुद को निकाले जाने के बाद भी वे उससे एकता चाह रहे थे।

''आप हमारे उस महानतम राजनीतिक संगठन के सबसे पुराने नेता हैं, जिसके सदस्य होने का हमें गर्व था। आपको प्रकृतया एक उदार हृदय और सहनशील मस्तिष्क का मालिक होना चाहिए था। लेकिन देश के हालात वैसे नहीं हैं जैसे होने चाहिए। आपने हमारी पार्टी को ऐसे नाम दिये हैं, जैसे हमारा कोई भी साथी भारतीय हमें नहीं दे सकता, चाहे वह हमसे कितना भी मतभेद क्यों न रखता हो। आपने जनता को बताया है कि हमने ब्रिटिशों के लिए देश के साथ धोखा किया है। इस औचित्यपूर्ण के साथ हम कह सकते हैं कि आपने जापान के देश बेच देने की कोशिश की थी। लेकिन हम ऐसा नहीं कहते क्योंकि यह झूठ है। जैसे को तैसा का रास्ता कम्युनिस्ट रास्ता नहीं है, यह जंगल का कानून है।''

''जितना ही आप हमारी पार्टी पर कीचड़ उछालेंगे उतना ही हम अपने दिमाग को संतुलित बनाये रखेंगे, क्योंकि कि हम जानते हैं कि हमारा देश्य का कितना बुरा भविष्य होने वाला है, जब आप, इसके अग्रणी नेतागण, राजनीतिक तर्क रखने की बजाय, राजनीतिक निंदा पर उतर आये हैं जब आपकी सारी योजनायें मात्र एक दूसरे से झगड़ने की रह गई है और आप ब्रिटिश शासकों के साथ हमारे संघर्ष के लिए एक साझा योजना के बारे में सोचते तक नहीं।''

जनयुद्ध की अवधि के दौरान सीपीआई द्वारा अनुसरित गलत रणनीति की वजह से, युद्ध बाद की अवधि में राजनीतिक पहलकदमी गवां दी थी। युद्ध बाद के बाद के उस क्रांतिकारी जनविद्रोह का जिसने ब्रिटिश सरकार की ऐसी असहाय स्थिति में डाल दिया था कि वह अब आगे भारत का शासन करने की स्थिति में नहीं रही थी, सीपीआई दर्शक मात्र बन गई थी।

हड़तालों की लहर

युद्ध बाद की अवधि में, सारे ही देश में मजदूर वर्ग के संघर्ष फूट पड़े थे। नीचे दी गई सारिणी उस अवधि की हड़तालों की लहर की एक तस्वीर प्रस्तुत करती है।

वर्ष	हड़तालों की	हड़ताल में भाग लेने	कार्यदिवसों

	संख्या	श्रमिकों की संख्या	की हानि
1943	716	52,508	23,42,287
1944	658	55,051	34,47,306
1945	848	7,82,192	33,40,892
1946	1,616	19,61,948	1,27,17,762
1947	1,811	18,40,784	1,65,62,666

आइ.एन.ए. की सुनवाई

सरकार ने बोस द्वारा स्थापित भारतीय राष्ट्रीय सेना (इंडियन नेशनल आर्मी आइ.एन.ए.) के सैकड़ों बंदियों की खुली सुनवाई शुरु कर दी थी और उन्हें सजा भी दे रही थी। इस सुनवाई और सजा के खिलाफ बृहद जनआंदोलन प्रारंभ हो गया। कलकत्ता में जहां विद्यार्थी और मजदूर सड़क पर वीरतापूर्ण लड़ाई में जुटे हुए थे, और इसमें 84 लोग पुलिस की गोलियों से शहीद हो गये थे तथा 200 घायल हो गये थे, संघर्ष का दमन करने के लिए सेना बुलानी पड़ी थी।

यह सही है कि बोस द्वारा स्थापित आई.एन.ए. कभी भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद को कोई भौतिक नुकसान नहीं कर सकी थी, परंतु लोग इसे अपनी स्वयं की मुक्ति सेना मानती थी। इसीलिए इतना बड़ा जनआंदोलन खड़ा हो गया था। ब्रिटिश 20,000 आइ.एन.ए. बंदियों की शक्ति के खतरे से घबराई हुई थी। इसके साथ ही सरकार का यह भय छिपा नहीं रह सका कि आइएनए के विद्रोही विचार सेना में भी फैल सकते हैं।

रायल भारतीय नौसेना की बगावत

18–23 फरवरी 1946 में रायल भारतीय नौसेना ने बगावत कर दी। हड़ताल जो बंबई में, तलवार नामक जलपान पर शुरू हुई थी शीघ्र ही सभी बंदरगाहों तक फैल गई थी। 23 फरवरी तक 20 बंदरगाहों में 70 जलयानों पर 20,000 सैनिकों तक यह बगावत फैल चुकी थी। नौसैनिकों के समर्थन में कम्युनिस्टों के आह्वान के प्रत्युत्तर में बंबई के मजदूरों ने भी हड़ताल कर दी। यद्यपि कांग्रेस और लीग ने हड़ताल का विरोध किया था, फिर भी 30,000 कामगारों ने हड़ताल में भाग लिया था और उन्होंने सड़कों पर मुठभेड़ में बैरिकेड खड़े कर लिये थे। पुलिस फायरिंग में 228 नागरिक मारे गये थे और 1046 घायल हो गये थे। सीएसपी ने भी इस हड़ताल का समर्थन किया था जबकि कांग्रेस इसका विरोध कर रही थी पर खुलकर बोलने की उसकी हिम्मत नहीं थी।

भावी गृहमंत्री पटेल ने कांग्रेस के एक प्रमुख नेता तेन्नेती विश्वनंदम को लिखा था, ''सेना में अनुशासन के साथ ढिलाई नहीं की सकती, क्योंकि आजाद भारत में भी हमें सेना की जरूरत होगी।'' जिस दौरान बगावत जारी थी, नेहरु, ''हिंसा के जंगली विस्फोट को दबा देने की आवश्यकता से प्रभावित थे'' हां बाद में उन्होंने निश्चय ही, अपनी खास शैली में, विद्रोह को सलाम यह कहते हुए किया था कि इसने जनता और सेना के बीच की लौह दीवार को गिरा दिया है। पटेल के आग्रह पर नौसेना ने अपनी हड़ताल वापस ले ली। पटेल ने वादा किया था कि उनके खिलाफ कोई भी कार्रवाई नहीं की जायेगी और बड़ी सरलता के साथ अगले ही क्षण इस वादे को भूल भी गये थे। नौसेना की केंद्रीय कमेटी ने हड़ताल वापसी के समय यह घोषणा की थी : ''हमारी हड़ताल हमारे राष्ट्रीय जीवन में एक ऐतिहासिक घटना है। पहपपली बार सेवारत आदमी का और सड़क के आदममी का खून सामान उद्देश्य

के लिए एक साथ बहा है। हम सैनिक सेवा के लोग इसे कभी नहीं भूलेंगे। हम जानते हैं कि आप, हमारे बहन–भाई भी इसे नहीं भूलेंगे। हमारी महान जनता अमर रहे! जय हिंद!''

किसान संघर्ष

युद्ध बाद के क्रांतिकारी उफान में किसान संघर्षों की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी।

तेभागा किसान संघर्ष :

1946 में किसान सभा ने प्रसिद्ध तेभागा किसान संघर्ष शुरू किया। सभा के नेतृत्व में आसामी काश्तकारों ने जमींदारों से लगान घटाने की मांग की। उस समय लगान की दर फसल का आधा या उससे भी अधिक थी। वास्तव में क्लाउड कमीशन ने खुद ही लगान कम करने की सिफारिश की थी और किसान सभा इसे लागू किये जाने की मांग कर रही थी। कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं ने जो शहरी विद्यार्थी थे, इन देहातों में चले गये थे कि और वहां उन्होंने उन किसानों को आंदोलित करना शुरू किया था जिन्होंने मंदी और सूखा की वजह से अपनी जमीनें गवां दी थीं। उत्तरी बंगाल किसान आंदोलन की जलती जमीन था जहां ग्रामीण आबादी 60 प्रतिशत थी। नवंबर तक आंदोलन ने तेजी पकड़ ली थी और किसान जमींदारों के यहां पहुंचाने की बजाय अपने घर ले आये। मुख्य रूप से गरीब राजबंशी नामक आदिवासी तथा अन्य किसानों ने इस संघर्ष में भाग लिया था। मुस्लिमों ने भी काफी बड़ी तादाद में आंदोलन में हिस्सा लिया था। किसान स्वयंसेववक हाथों में लाठियां लिये हुए थे जोतेदारों और पुलिस का आक्रमण रोकने को तैयार थे।

1947 के बाद लीगी मंत्रिमंडल ने आंदोलन का सख्ती के साथ दमन करना शुरू कर दिया। बालूघाट में पुलिस के साथ संघर्ष में 20 संथाल शहीद हो गये। किसान कार्यकर्ताओं ने जमींदारों और राज्य के विरुद्ध हथियार उठा लेने के लिए आह्वान किया। बहरहाल संघर्ष का नेतृत्व करने वाली सीपीआई के पास न तो हथियार के और ना ही यह हथियारबंद संघर्ष के लिये तैयार थी। 28 मार्च को सीपीआई ने तेभागा आंदोलन के समर्थन में आम हड़ताल का आह्वान किया। परंतु यह हो नहीं सकी थी क्योंकि हिंदू महासभा द्वारा बंगाल विभाजन की मांग करते हुए आंदोलन छेड़ दिया था और परिणाम स्वरूप सांप्रदायिक दंगे भड़क गये थे।

पुनप्रा–वायलर किसान संघर्ष

यह त्रावणकोर (केरल) के राजसी प्रांत में, सीपीआई के नेतृत्व में सामंतवाद के विरुद्ध किसानों और मजदूरों का बहादुराना संघर्ष था। यद्यपि संघर्ष का काल सीमित था, फिर भी यह कम्युनिस्ट पार्टी के ऐतिहासिक अख्यान का एक गौरवशाली अध्याय है।

1946 तक कम्युनिस्ट पार्टी ने शेरतलाई–अलेप्पी अम्बुलपूजा क्षेत्र में अपना अच्छा जनाधार तैयार कर लिया था। पार्टी ने राज्य के दीवान, रामास्वामी अय्यर द्वारा सत्ता हस्तांतरण के बाद स्वतंत्रत रहते हुए संविधान के एक 'अमेरिकन माडल' लागू करने के प्रस्ताव के खिलाफ राजनीतिक आंदोलन छेड़ दिया था। कम्युनिस्टों ने संविधान के अरब सागर में फेंक देने का आह्वान किया। सितंबर 1946 के बाद से राज्य सरकार ने कम्युनिस्टों की धर–पकड़ शुरू कर दी थी और अलप्पी के एरिया में ट्रेड यूनियनों पर हमला बोल दिया था। पुलिस के कैम्प खड़े कर दिये गये थे और हवालातों और जेलों में भीषण यातनायें देना चालू था। सरकार द्वारा शुरू किये गये इस भीषण दमन के खिलाफ पार्टी ने स्वयंसेवकों के शिविर खड़े करने शुरू कर दिये और आंदोलन की रक्षा के लिए सैन्य प्रशिक्षण देना शुरू कर दिया था। 22 अक्टूबर को पार्टी ने अलेप्पी–शेरतलाई क्षेत्र में आम हड़ताल के लिए

आह्वान किया। दो दिन बाद स्वयंसेवकों ने पुनप्रा पुलिस स्टेशन पर धावा बोल दिया और हथियारों पर कब्जा कर लिया। सरकार ने मार्शल ला की घोषणा कर दी और 27 तारीख को स्वयंसेवकों के मुख्यालय पर सैनिक आक्रमण कर दिया। उस भीषण आक्रमण के कम से कम 800 लोग शहीद हो गये थे। पैशाचिक सरकार ने वस्तुतः रक्त स्नान किया था। आंदोलन को खून की नदियों में डुबा दिया गया था। परंतु इस बहादुराना संघर्ष और बलिदान इतना भारी था कि राज्य के पास केंद्रीय यूनियन में मिलना स्वीकार करने के अलावा कोई विकल्प नहीं था। कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा किये गये बहादुराना संघर्ष, बलिदान और इस संघर्ष में प्रदर्शित उसकी दिलेरी ने संपूर्ण केरल में कम्युनिस्ट पार्टी की प्रतिष्ठा को काफी ऊंचाई पर पहुंचा दिया था।

तेलंगाना सशस्त्र किसान संघर्ष :

वीरतापूर्ण तेलंगाना संघर्ष युद्ध बाद के किसान संघर्षों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। निजाम के खिलाफ शुरू होने वाले इस संघर्ष ने जो शीघ्र ही भूमि और मुक्ति के संघर्ष में बदल गया था साम्राज्यवादियों में ही नहीं कांग्रेस के नेताओं को भी घबड़ाहट में डाल दिया था।

वर्ली किसान संघर्ष

महाराष्ट्र के वर्ली में, आदिवासी किसानों ने सीपीआई के नेतृत्व में बेगार श्रम और जमींदारों के अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया था।

युद्ध के बाद का यह क्रांतिकारी उफान इतना भीषण था कि ब्रिटिश सरकार जितनी जल्दी संभव हो सत्ता हस्तांतरित कर देने की जल्दी में थी। इसने महसूस कर लिया था अगर एक और स्वतंत्रता आंदोलन छिड़ जाता है तो वह इसे दबाने में समर्थ नहीं हो सकेगी। ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि वह 18 महीनों के भीतर सत्ता सौंप देना चाहती है। अंततः दलाल पूंजीपति के लिए अपनी सत्ता के उस सपने को साकार करने का वक्त आ पहुंचा था जिसके लिए इसने इतने लंबे समय तक। राष्ट्रीय आंदोलन के वेश में साम्राज्यवाद से निवेदन करती रही है।

सत्ता हस्तांतरण

जिस समय कांग्रेस चुनावों के लिये तैयारी कर रही थी, उस समय देश में युद्ध बाद के क्रांतिकारी उफान से आलोड़ित था। नेहरु उसी तरह से चुनाव अभियान की अगुवाई कर रहे थे, जैसे उन्होंने 1937 के चुनावों में किया था। सीपीआई ने चुनाव में स्वतंत्र रूप से भाग लिया था। चुनाव परिणामों ने कांग्रेस और लीग के बीच की खाई को और चौड़ा कर दिया था। केन्द्र में एक तदर्थ सरकार और संविधान सभा का गठन एजेंडे पर आ गया था। कांग्रेस का तर्क था कि वह भारतीय राष्ट्र का उसकी संपूर्णता में प्रतिनिधित्व करती है। लीग का तर्क था कि वह स्वयं देश के सभी मुसलमानों का और इसी तरह से कांग्रेस सभी हिंदुओं का प्रतिनिधित्व करती है। इस दलील के साथ वह ब्रिटिश इंडिया के सभी मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि का स्थान प्राप्त करना चाहती थी और सभी मुस्लिम बहुसंख्या वाले प्रांतों को मिलाकर पाकिस्तान बनना चाह रही थी। जिन्ना ऐसा पाकिस्तान चाहते थे कि जिसमें पंजाब, सिंध, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रांत और आसाम शामिल रहें, क्योंकि ये मुस्लिम–बहुल प्रांत हैं।

मुस्लिम लीग अपने गठन की शुरुआत से ही मुसलमानों के संभ्रांत और शिक्षित वर्गों की पार्टी बनी रही थी। इसने हमेशा ही दलाल मुस्लिम पूंजीपतियों और भूस्वामी वर्गों के हितों को आगे बढ़ाने में ब्रिटिश संरक्षकत्व का इस्तेमाल किया था। अंग्रेज भी अपनी फूट डालो राजकरों की नीति के तहत लीग को प्रोत्साहित करती रही थी। परंतु वास्तविकता में, लीग इन प्रांतों के मुस्लिमों की निर्विवाद नेता नहीं बन सकी थी। यहां तक कि मात्र 17 प्रतिशत जनसंख्या को मताधिकार प्राप्त चुनावों में भी यह उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत, आसाम और पंजाब में सरकार नहीं बना सकी थी। किसी भी कोण से देखने पर, लीग की मुस्लिमों का अकेला प्रतिनिधि होने का दावा गलत ही सिद्ध होता था। इसके अलावा इन सभी राज्यों की जनता की इच्छा पाकिस्तान बनाने की नहीं थी और पाकिस्तान की मांग उस समय सिर्फ दलाल मुस्लिम पूंजीपतियों भर की मांग बनी हुई थी। इसलिए जिन्ना सार्विक मताधिकार वाले जनमत संग्रह के खिलाफ थे।

इसकी तरफ कांग्रेस खुद को अविभाजित भारत के राष्ट्रीय प्रतिनिधि के रूप में पेश करते हुए संपूर्ण भारत पर अपना नियंत्रण करने के लिए व्यग्र थी। इसलिए यह हिंदू मात्र का प्रतिनिधि माने जाने के लिए तैयार नहीं थी। अविभाजित भारत के नाम पर दलाल पूंजीपति संपूर्ण ब्रिटिश भारतीय बाजार पर अपना नियंत्रण बना लेना चाहता था। यह स्पष्ट था कि जिन्ना का पाकिस्तान की मांग मुस्लिम जनता की इच्छा को प्रतिबिंबित नहीं करती थी। परंतु कांग्रेस इसका विरोध जनतांत्रिक तरीके से करने में असमर्थ थी। क्योंकि न तो यह भारत को एक बहुआयामी देश मानने को तैयार थी और न ही यह भारत को आत्मनिर्णय का अधिकार रखने वाले सभी राष्ट्रों का एक ऐच्छिक संघ मानने को तैयार थी क्योंकि यह पूरी तरह से भारतीय दलाल बुर्जुआ के हितों के विपरीत था। जहां मुस्लिम लीग पाकिस्तान बनाना चाह रही थी वहीं कांग्रेसी नेतृत्व भी विभिन्न राष्ट्रीयताओं की जनता की इच्छाओं का बिल्कुल भी खयाल किये बिना साम्राज्यवाद के साथ दुरभिसंधि के अधीन अवभिाजित भारत का निर्माण करना चाह रही थी। इन परस्पर विरोधी अवस्थितियां अनिवार्य रूप से गतिरोध की ओर जाती थीं। 4 मार्च 1946 तक 4 महीनपों के भीतर होने वाली अगण्य बैठकें और वार्ताओं के बाद भी ब्रिटिश कैबिनेट मिशन असफल हो गया था। अंतरिम सरकार और संविधान सभा का गठन नहीं हो सका था।

सत्ता के इतना नजदीक आ जाने के बाद भी देर होने से कांग्रेस की अधीरता बढ़ती ही जा रही थी। चूंकि राष्ट्रीयताओं का प्रश्न और आत्मनिर्णय का सवाल चर्चा का विषय बन ही गये थे, सिक्खों ने भी अपने गृहप्रवेश (होमलैंड) की मांग पेश करना शुरू कर दिया था। आजाद बंगा का नारा भी सुनाई देने लगा था। उत्तर पश्चिमी सीमांत प्रदेश के गफ्फार खान ने भी कह दिया था कि अगर पाकिस्तान बनता है तो वे एक आजाद राष्ट्र हो जाना चाहेंगे। (कांग्रेस 97 प्रतिशत मुस्लिम आबादी वाले इस प्रांत में सत्ता पर काबिज थी। 1946 के चुनावों में लीग को सिर्फ 32 प्रतिशत मत प्राप्त हुए थे।) विशाल आंध्रा और युनाइटेड केरला के आंदोलनों ने भाषाई प्रांतों की मांग उठाना शुरू कर दिया था। दलाल बुर्जुआ को महसूस होने लगा था कि वह दुविधा में फंस गया है। क्या वह साम्राज्यवाद से दुरभिसंधि करते हुए राष्ट्रीयताओं के दो उदाहरण जेलखाने बनाने को सहमत हो जाये? या वह भारत को, ये बहुराष्ट्रीय देश मान ले और आत्मनिर्णय के अधिकार पर आधारित राष्ट्रीयताओं के एक ऐच्छिक संघ का निर्माण करें। एक राष्ट्र और एक देश की अवस्थिति पर खड़े ही कर कांग्रेस धार्मिक आधार पर अलग देशों के निर्माण पर पुनर्विचार करने के लिए सहमत हो गई और इसने बंगाल और पंजाब को विभाजित करने और हिंदू बहुल इलाकों को भारतीय संघ में मिलाने की मांग उठा दी।

दूसरी तरफ जिन्ना ने यह अनुभव कर लिया था कि कांग्रेस की ताकत उसकी जनता को आंदोलित करने की क्षमता में निहित है और यह मोलभाव में मजबूत स्थिति में इसलिए है कि यह जन संघर्षों को पुनः खड़ा कर सकती है। उन्होंने यह भी अनुभव कर लिया था कि कांग्रेस उस खतरे को दृष्टिगत रखते हुए किसी भी तरह के संघर्ष को शुरू करने से डरती है, जो ऐसे अस्थिर हालात में इससे पैदा हो सकता है। और ब्रिटिश साम्राज्यवादी उन परिणामों से डर रहे थे जो कांग्रेस द्वारा फिर से आंदोलन छेड़ देने पर संभावित थे। (अप्रैल 1946 में मालाबार, ढाका, अंडमान और बिहार और दिल्ली में पुलिस ने हड़तालें कर दी थीं। जुलाई में डाक विभाग में हड़ताल हो गई थी। हड़तालों के समर्थन में सीपीआई द्वारा आहूत कलकत्ता बंद शानदार तरीके से सफल रहा था। 1946 में 1629 हड़तालें हुईं थी जिनमें 19,40,000 मजदूरों ने हिस्सा लिया था। 16 अगस्त से जिन्ना ने डायरेक्ट एक्शन का आह्वान किया। जिन्ना की असहमति की परवाह किये बगैर कांग्रेस ने एकतरफा ही केन्द्र में सरकार बना ली नेहरु को प्रधानमंत्री चुना गया था।

16 अगस्त के डायरेक्ट एक्शन के साथ देश के इतिहास का सर्वाधिक बर्बर और त्रासद मानव संहार प्रारंभ हो गया था। 16 से 19 अगस्त के बीच कलकत्ता की सड़कों पर खून की नदियां बह रही थीं। पहले कभी नहीं देखा गया सांप्रदायिक दंगा भड़क गया था। सितंबर की शुरुआत में यह दंगा बम्बई तक जा पहुंचा था। 10 अक्टूबर को नोवाखली (पूर्वी बंगाल) में सांप्रदायिक नरसंहार शुरू हो गया था। यह नरसंहार तो ''आजादी'' की शुरुआत मात्र थी। 1947 में सत्ता हस्तांतरण के समय दोनों देशों में फूट पड़ने वाले दंगों में लाखों लोग मारे गये थे। करोड़ों लोग विस्थापित हो गये थे। अहिंसात्मक संघर्ष द्वारा प्राप्त सत्ता में हिस्सा बटाने के लिए लाखों लोगों को कत्ल कर दिया था।

बंटवारा

भारतीय बड़े पूंजीपति, जिनका प्रतिनिधित्व भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस करती थी, अविभाजित ब्रिटिश इंडिया के बाजार पर अपना नियंत्रण चाहते थे। इसने हमेशा ही राष्ट्रीयताओं को स्वायत्तता प्रदान करने वाले संघीय राष्ट्रीयताओं का जेलखाना बनना चाहता था। कांग्रेस ने कभी भी लीग के साथ सत्ता की हिस्सेदारी में अपनी इच्छा नहीं दिखाई थी, उन नाममात्र की सरकारों में भी नहीं, जिनको कोई शक्ति हासिल नहीं थी। 1927 में मोतीलाल नेहरु द्वारा तैयार एकात्मक संविधान और कांग्रेसी लीडरों का हिंदूत्व की तरफ झुकाव बड़े पूंजीपतियों की इसी चाहत को दर्शाता है। इस वजह से मुस्लिम अल्पसंख्यकों के दलाल पूंजीपति और भूस्वामी वर्ग के पार जिनका प्रतिनिधित्व मुस्लिम लीग करती थी, पाकिस्तान के रूप में, थाली में अपना हिस्सा मांगने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था। जहां एक तरफ से कांग्रेस की अनमनीय और गैर जनतांत्रिक प्रवृत्ति ने वहीं तो दूसरी तरफ हिंदू सांप्रदायिक शक्तियों ने मुस्लिम जनता को पाकिस्तान स्वीकार करने के लिए बाध्य कर दिया था। भारतीय बड़े पूंजीपति स्वैच्छिक संघीय व्यवस्था स्वीकार करने में असफल सिद्ध हुए जो विभिन्न राष्ट्रीयताओं की राष्ट्रीय चाहतों को आश्वस्त करता। दरअसल यह बड़े पूंजीपतियों की विभिन्न राष्ट्रीयताओं की चाहतों को पूरा कर सकने वाली संघीय व्यवस्था बनाने में असफलता ने देश के विभाजन को अपरिहार्य बना डाला था।

स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान और इसके बाद कांग्रेस के भीतर और बाहर मौजूद बड़े बुर्जुआ और सामंती ताकतों द्वारा पोषित हिंदू पुनरुत्थान और सांप्रदायिकता ने ही दंगों को और मुस्लिम अल्पसंख्यकों के सफाया कार्यक्रम को पलीता लगाया था। हिंदू सांप्रदायिक आक्रमण पूरक के रूप में मजबूत हो चुकी थी मुस्लिम सांप्रदायिकता ने भी हिंदु–मुस्लिम की

दरार को गहरा किया था। बंटवारे के दौरान और उसके बाद लाखों लोग सांप्रदायिकता की आग में स्वाहा हो गये थे।

सीपीआई कांग्रेस और मुस्लिम लीग के वर्ग चरित्र को और हितों को समझ पाने में असफल सिद्ध हुई। साथ ही यह हिंदू–मुस्लिम प्रश्न की हिंदू पुनरुत्थानवादी जड़ों को भी समझने में नाकाम रही। वास्तविकता से पूरा संबंध भंग हो जाने से इसने नारा दिया कि कांग्रेस–मुस्लिम लीग के बीच एकता ही भारत की एकता है। इसके दक्षिणी अवसरवाद के साथ जुड़कर इस असफलता ने सीपीआई बंटवारे के दौरान मात्र असहाय दर्शक की भूमिका निभाने के लिए लाचार थी।

माउंटबेटन अवार्ड

1946–47 के बीच, सभी राजसी प्रांतों में भारी जनसंघर्ष फूट पड़े थे। 20 फरवरी 1947 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री एटली ने घोषणा की कि जून 1948 के पहले–पहले सत्ता का हस्तांतरण कर दिया जायेगा। 24 मार्च को माउंटबेटन ने वायसराय का पदग्रहण किया। उन्होंने भी ब्रिटेन की उसी पुरानी भारत का विभाजन करने और सत्ता सौंपने की नीति को जारी रखा। कांग्रेस और लीग के नेताओं ने महसूस कर लिया कि देशों के हित में यह बेहतर है कि जितना जल्दी संभव हो आपस में किसी समझौते पर पहुंच जाये और भारत को आपस में बांट लें। इस तरह माउंटबेटन का काम आसान कर दिया गया था।

पंजाब, आसाम और बंगाल का विभाजन करके पाकिस्तान का निर्माण किया गया। उत्तर पश्चिमी सीमा प्रांत की जनता पर उनकी चाहत के विपरीत पाकिस्तान थोप दिया गया था। भारत और पाकिस्तान के साथ–साथ राजसी प्रांतों को 'आजादी' भी घोषित कर दी गई। यह निश्चित हुआ कि 15 अगस्त को सत्ता का औपचारिक हस्तांतरण संपन्न कर दिया जायेगा।

सीपीआई एक ओर तो देश के विभाजन की और हिंदुस्तान–पाकिस्तान को एक दूसरे के विरुद्ध खड़ा कर देने वाली साम्राज्यवादी नीति की आलोचना कर रही थी, साथ ही दूसरी ओर इसने माउंटबेटन अवार्ड को स्वीकृति प्रदान की थी और 'आजादी को वास्तविक करार दिया था।'

गांधी चाहते थे कि माउंटबेटन दोनों ही आजाद देशों की गवर्नरों करते रहें। नेहरु, 'सोशलिस्ट' और 'जनवादी' नेहरु ने इस प्रस्ताव का उत्साह के साथ स्वागत किया था। परंतु जिन्ना के इसे स्वीकार नहीं किया और वे स्वयं पाकिस्तान के गवर्नर जनरल बन गये थे। पटेल ने प्रोत्साहन, धमकी और भेद डालने के सारे ही तरीकों का इस्तेमाल करते हुए 15 अगस्त तक ही, सारे राजसी प्रांतों को भारतीय संघ में शामिल होने के लिए तैयार कर लिया था (केवल कश्मीर हैदराबाद और जूनागढ़ ने संघ में मिलने से इंकार कर दिया था)। जिस दौरान दोनों ही तरफ खून की नदियां बह रही थी, दलाल बुर्जुआ और सामंती वर्गों ने 14 अगस्त की आधी रात को सत्ता पर आरोहण किया था।

माउंटबेटन अवार्ड और सीपीआई

माउंटबेटन अवार्ड घोषित होने के तुरंत बाद, पी.सी.जोशी ने एक बयान जारी किया कि यह ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने भारत के बाल्कनाइजेशन द्वारा, इस पर अपना नियंत्रण बनाये रखने की धूर्त चाल है। इस बयान द्वारा जनता का आह्वान किया गया था कि वह माउंटबेटन अवार्ड का विरोध करे और पूर्ण स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करे। इस प्रकार यह घोषणा की गई थी कि सीपीआई अपने प्रयासों को ''नये खतरनाक साम्राज्यवादी कपटयुद्ध

को हर कीमत पर हराने के एकमात्र उद्देश्य और पूरे भारत के लिए पूर्ण और अंतिम लक्ष्य की तरफ'' निर्देशित करेगी।''

परंतु उसने इस अवार्ड की पार्टियों कांग्रेस और लीग की भूमिकाओं के बारे में चुप्पी साध रखी थी। साम्राज्यवादियों के षडयंत्र के रूप में ब्रिटिश सरकार, कांग्रेस और लीग की साझा योजना से कांग्रेस और लीग को अलग छांटने वाली यह घोषणा अपने आप में अंतर्विरोध पूर्ण थी।

ठीक युद्ध काल से ही सीपीआई कांग्रेस और लीग जनता की पार्टियों को जनता की पार्टी और उनकी सरकारों की जनता की सरकारों के रूप में प्रशंसा करती रही थी। पिछले दो सालों में से यह दिखाई देने लगाथा कि कांग्रेस और लीग सत्ता में हिस्सेदारी के लिए साम्राज्यवादियों के साथ सांठगांठ करने में लगी हुई हैं। इसके अलावा कांग्रेस और लीग सरकारों ने मजदूर वर्ग और किसानों का भीषण दमन करना पुनः शुरू कर दिया था। कांग्रेस तो विशेष रूप से अपनी पूरी ताकत के साथ सीपीआई को राजनीति घेरे से बाहर करने में लगी हुई थी। नेहरु मंत्रिमंडल की रजामंदी प्राप्त करके ही ब्रिटिश सरकार ने जनवरी 1947 में 'आपरेशन असाइलम' नाम की योजना के तहत सारे ही देश में कम्युनिस्टों पर आक्रमण शुरु कर दिया था। प्रकाश्य सरकार ने तो मद्रास प्रांत में कम्युनिस्ट पार्टी पर प्रतिबंध ही लगा दिया था। इस समय में, तेलंगानाा का सशस्त्र किसान विद्रोह तेजी के साथ आगे बढ़ रहा था और यह भारतीय बुर्जुआ वर्ग और साम्राज्यवाद दोनों के लिए एक दुःस्वप्न बनता जा रहा था। सीपीआई का नेतृत्व अवसरवाद के दलदल में इतना धंस चुका था कि यह कल्पना भी नहीं कर पा रहा था कि बड़े बुर्जुआ और इसकी प्रतिनिधि राष्ट्रीय कांग्रेस का दुमछुल्ला बने रहने की बजाय इसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व भी संभव है।

''माउंटबेटन अवार्ड और इसके बाद''

कांग्रेस और लीग के वर्ग चरित्र के बारे में और साम्राज्यवाद के साथ उनके निकट संबंध के बारे में सीपीआई के आकलन के बदले बिना माउंटबेटन अवार्ड को साम्राज्यवादियों का षडयंत्र करार देना संभव नहीं था। जोशी के बयान में मौजूद अंतविरोध का हल, जून 1947 में आयोजित केन्द्रीय कमेटी द्वारा सूत्रबद्ध ''माउंटबेटन अवार्ड एंड आफ्टर'' शीर्षक वाला एक राजनीतिक प्रस्ताव द्वारा किया गया। इस प्रस्ताव में बड़ी चतुराई के साथ यह व्यक्त करते हुए भी कि माउंटबेटन अवार्ड देश को वास्तविक स्वतंत्रता प्रदान करने वाला प्रयास नहीं है, अवार्ड का समर्थन भी प्रदान कर दिया गया था। इसमें कहा गया था कि भारत और पाकिस्तान को ही नहीं बल्कि राजसी प्रांतों को भी स्वतंत्रता की घोषणा द्वारा साम्राज्यवाद देश पर अपनी पकड़ बनाये रखने का प्रयास कर सकता है और आजादी को खंडित कर सकता है। देश की स्वतंत्रता पर मंडराने वाले इस खतरे का मुकाबला करने के लिए इसने राष्ट्रीय एकता, अर्थात कांग्रेस के साथ एकता का उपदेश दिया गया था। कांग्रेसी और लीगी नेताओं के साथ दुरभिसंधि करते हुए, साम्राज्यवादियों के इस देशद्रोही समझौते का, इस प्रस्ताव ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की विजय के रूप में वर्णन किया था। इसने इसका स्वागत, भारत की प्रगति के लिए नये अवसरों की जीत के रूप में किया था। इस प्रस्ताव ने कांग्रेस का निःशर्त समर्थन करता था।

महत्वपूर्ण बिंदु

1. माउंटबेटन अवार्ड का उल्लेख साम्राज्यवाद द्वारा राष्ट्रीय आंदोलन के दबाव में झुकते हुए, मजबूरी में दिये गये अनुमोदन के रूप में किया गया था।

''माउंटबेटन अवार्ड भारत को वास्तविक स्वतंत्रता नहीं प्रदान करता है बल्कि यह दो मुंही साम्राज्यवादी नीति की परिणति है, जो सत्ता के हस्तांतरण की राष्ट्रीय मांग को मानने के साथ ही, विध्वंसक और प्रतिक्रियावादी ताकतों को, जनता के आंदोलन को भंग करने के लिए, वास्तविक स्वतंत्रता हासिल करने की राह में रोड़ा अटकाने के लिए जनवाद की बढ़त तो रोक देने और भारत की एकता और अखंडता को नष्ट करने के लिए, प्रोत्साहित करता है।''

ठीक यही तथ्य कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद, अब भारत पर अपना सीधा शासन बनाए रखने की आशा नहीं करता है, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की ताकत को निर्विवाद परिचायक है। इसकी हताश कपटपूर्ण चेष्टायें इसकी ताकत की नहीं बल्कि इसकी नितांत कमजोरी को दर्शाती हैं, जिसकी वजह से यह राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की तात्कालिक मांगों पर महत्वपूर्ण अनुदानों के लिए मजबूर हुआ है।''

2. इसने समझा था कि राष्ट्रीय प्रगति के लिए नये अवसर जीत लिये गये हैं। इसने यह भी उल्लेख किया कि कांग्रेस और लीग की सरकारें देश के मात्र 17 प्रतिशत लोगों का प्रतिनिधित्व करती है, यह सार्विक मतदान द्वारा चुनी गई जनता की सरकारें नहीं हैं। इसने संविधान सभा को भी इसी आधार पर निर्मित बताया औ कहा कि यह राष्ट्रीय नेताओं के हाथों में एक रणनीतिक हथियार है।

''कम्युनिस्ट पार्टी का विचाार है कि राष्ट्रीय प्रगति के लिए नये अवसर जीत लिये गये हैं। दोनों लोकप्रिय सरकारें और संविधन सभा राष्ट्रीय के हाथों में रणनीतिक हथियार हैं। राष्ट्रीय आंदोलन का यह काम है कि वह यह सुनिश्चित करे कि इनका उपयोग राष्ट्रीय उद्देश्यों की तीव्र गति से पूर्ति हो।''

3. उस कांग्रेस और लीग के पीछे जुट जाने के लिए, जनता का आह्वान करना, जिन्होंने साम्राज्यवाद के साथ सत्ता का साझा करके स्वतंत्रता आंदोलन को धोखा दिया था, इसने उनको पूर्ण समर्थन प्रदान कर दिया था। यह मजदूरों और किसानों के संघर्ष को ठंडा कर देने को भी तैयार थी।

''पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए, लोकप्रिय सरकारों के पीछे जनता की एकता, राष्ट्रीय नेतृत्व में मौजूद समझौता परस्तों पर निगरानी बनाये रखने की, निहित स्वार्थों के प्रति जनतिरस्कार की और साम्प्रदायिकता भड़काने वालों के विरुद्ध राष्ट्रीय चेतना की मांग करती है।''

''औद्योगिक और कृषि विवादों के सौजन्यपूर्ण समाधान के लिए हर प्रयास करते हुए, कम्युनिस्ट पार्टी, अपनी औचित्यपूर्ण मांगों के लिए, मिल मालिकों और भूस्वामियों द्वारा बढ़ते हुए आक्रमण के विरुद्ध मजदूरों और किसानों की हड़तालों का पूर्ण समर्थन प्रदान करेगी।''

''कम्युनिस्ट पार्टी, मेहनतकश वर्गों के इन जनवादी संघर्षों के पीछे लोक का और मंत्रिमंडल का समर्थन जुटायेगी और पूंजीपतियों तथा भूस्वामियों की उनकी मांगे मंजूर करने के लिए बाध्य करेगी।''

''कम्युनिस्ट पार्टी, राष्ट्रीय निर्माण के सामान्य कार्यभार में आपसी सहयोग के लिए राष्ट्रीय नेताओं द्वारा की गई अपील का पूरे हार्दिकता के साथ पुनर्निवेदन करती है।''

4. यह स्पष्ट करते हुए कि सत्ता हस्तांतरण के बाद भी यह दलाल पूंजीपति का पिछलग्गू बने रहेगी, इसने पुनः राष्ट्रीय मोर्चे का आह्वान किया। सीपीआई के सिद्धांतकार की भूमिका निभाने वाले आर.पी.दत्त ने यह भी सलाह दी थी कि कम्युनिस्टों और सोशलिस्टों को सरकार में सहभागिता करनी चाहिए। लेकिन दलाल बुर्जुआ सीपीआई के साथ कैसी भी सत्ता साझेदारी करने को तैयार नहीं थी। पटेल और एस.के.पाटिल जैसे कम्युनिस्ट विरोधियों

समेत कांग्रेस नेताओं क साथ समझौते तक पहुंचने के दत्त के सभी प्रयास (1946 के अंत में) असफल हो गये थे।

''आगामी संक्रमणकालीन दौर में, कार्यभार यह ध्यान रखने का होगा कि वास्तविक स्वतंत्रता, पूर्ण जनवाद और राष्ट्रीय एकता के लिए संघर्ष अंतिम विजय की ओर आगे बढ़ता रहे, और उन्हें हमारे देश के, सभी प्रगतिशील और वाम तत्वों को मजबूत करने में अपनी पूर्ण भागीदारी निभायें।''

सत्ता हस्तांतरण की शुरुआत से सत्ता हस्तांतरण ही, सीपीआई पर वाम राष्ट्रवाद हावी रही है। इसका नेतृत्व मुख्यतः निम्न बुर्जुआ, धनी किसान और भूस्वामी वर्गों से आता रहा है। ये वर्ग रुपांतरण करने में असफल रहे हैं, और इन्होंने पार्टी में वाम राष्ट्रवाद को मजबूती प्रदान की है और इसे कानूनवाद तथा आर्थिक सीमाओं के भीतर बनाये रखा है। नेतृत्व ट्रेड युनियनवादी चेतना से आगे कभी जा ही नहीं सका था। यह मुख्यतः पूंजीपतियों के पीछे घिसटता रहा है।

सीपीआई में कभी भी, मार्क्सवादी–लेनिनवादी जनवादी केन्द्रीयता के आधार पर आंतरिक बहसों और संघर्षों के माध्यम से हासिल की गई राजनीतिक और वैचारिक एकता मौजूद नहीं रही थी। ऐसी स्थिति में नेतृत्व के बीच आपसी मतभेदों का गुटवाद में पतित हो जाना ही अधिक स्वाभाविक था। अपने गठन के समय से ही सीपीआई गुटवाद शिकार रही है। अवसरवाद के आधार पर नेतृत्व में गुट बनते–बिगड़ते रहे हैं। आंतरिक बहसें, जिन्हें राजनीति, विचारधारा और वर्ग संघर्ष की दृढ़ बुनियाद पर चलाया जाना चाहिए था, उन गुटबाजों के अमूर्त तर्कों और प्रति तर्कों के निम्न स्तर पर जा पहुंची थी, जिनका वास्तविक परिस्थितियों और जन आंदोलनों से कोई भी संपर्क शेष नहीं रह गया था।

परंतु फिर भी, सीपीआई ने आधुनिक भारतीय इतिहास में महान बलिदानों और वीरतापूर्ण संघर्षों के कई गौरवशाली अध्याय लिखे थे।

इन बलिदानों और संघर्षों के बल पर ही सीपीआई औपनिवेशिक शासकों और दलाल वर्गों, दोनों के लिए दुःस्वप्न बनी रही थी। कांग्रेस के धोखेबाज नेतृत्व ने सत्ता हस्तांतरण के समय न केवल सीपीआई की जनशक्ति का अपने लाभ के लिए उपयोग कर लिया था, अपितु वे इसको अपना मुख्य शत्रु मानते हुए, इसे मिटा डालने का भी भरसक प्रयास किया था। इन आक्रमणों का मुकाबला करते हुए पार्टी ने न केवल अपनी शक्ति और उत्साह को बचाये रखा था अपितु वह स्वयं द्वारा आगे पढ़ाई जाने वाली अवसरवादी कार्यदिशा के पुनर्परीक्षण और भूल सुधार के पथ पर भी चल पड़ी थी।

संक्षिप्त सारांश

1935–39 के दौरान साम्राज्यवाद ने एक और विश्व युद्ध की तैयारी कर ली थी। चूंकि फासीवाद मुख्य शत्रु के रूप में उभर कर सामने आ गया था, इसलिए कोंमिटर्न ने संयुक्त मोर्चे की रणनीति अपना ली थी। दत्त और ब्रेडले ने भारत में संयुक्त मोर्चे की रणनीति अपनाने के दौरान एक दक्षिणपंथी अवसरवाद की कार्यदिशा को सूत्रबद्ध कर दिया था। सीपीआई ने नेतृत्व में मौजूद दक्षिणपंथी अवसरवादी तत्वों ने इस कार्यदिशा को तुरंत अपना लिया क्योंकि यह वर्ग सहयोग की उनकी सोच से मेल खाती थी। इस प्रकार उन्होंने पार्टी को, जो उस समय पुर्नपरीक्षण द्वारा और बिरादराना पार्टियों के सहयोग से एक क्रांतिकारी कार्यदिशा को स्थापित करने की प्रक्रिया में लगी हुई थी, दक्षिणी अवसरवाद के गर्त में डाल दिया था।

1936–48 की अवधि में, जब दक्षिणपंथी अवसरवादी कार्यदिशा का अनुसरण किया जा रहा था, सीपीआई ने राष्ट्रीय आंदोलन में कांग्रेसस के निर्विवाद नेतृत्व को, इसके नेतृत्व की धोखेबाज चरित्र को नजरअंदाज करते हुए स्वीकार कर लिया था। इसे राष्ट्रीय आंदोलन पर सर्वहारा के प्रभुत्व की स्थापना को अपना उद्देश्य बनाने की बजाय, यह अवस्थिति अपना ली थी कि सिर्फ कांग्रेसी नेतृत्व के अधीन ही हमारे देश की स्वतंत्रता संभव है। यहां तक कि इसने वर्ग प्रभुत्व का नाममात्र के लिए भी उल्लेख करना छोड़ दिया था और पार्टी को दलाल बुर्जुआ का पिछलग्गू बना दिया था। सीपीआई का नेतृत्व उस नेहरु के पीछे एकजुट हो गया था, जो झूठे (बोगस) वाम के सर्वाधिक महत्वपूर्ण नेता थे और जिनके विरुद्ध मसौदा दस्तावेज (ड्राफ्ट प्लेटफार्म) ने दृढ़ निश्चय और सम्मिलित संघर्ष चलाने का निर्देश किया था। जनता के साम्राज्यवाद विरोधी जुझारू संघर्ष के लिये लामबंद करने की बजाय, इसने 1937 के चुनावों में हिस्सा लिया था। मंत्रालयों के गठन के मामले में इसने और भी अधिक दक्षिणपंथी स्थिति अख्तियार की थी।

दक्षिणपंथी अवसरवादी कार्यदिशा और राजनीति की वजह से, जो इसने द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान अपना रखी थी, यह राष्ट्रवादी आंदोलन के नेतृत्व पर कांग्रेस के एकाधिकार को तोड़ने में नाकामयाब रही थी। इससे भी बढ़कर इसने कांग्रेस की एकता को सुरक्षित बनाये रखने के लिए उस वाम एकता को भी त्याग कर दिया था, जिसके लिए यह तब तक प्रयास करती रही थी और इसने सीएसपी और फारवर्ड ब्लाक के साथ अपने गठबंधन की भी बलि दे दी थी। इस तरह से गांधीय नेतृत्व का विकल्प निर्मित करने की बजाय, इसने उसे मजबूती ही प्रदान की थी।

युद्ध की शुरुआत में, यद्यपि इसने युद्ध विरोधी रणनीति की ठीक से पालन किया था, परंतु इस रणनीति को व्यवहार में लागू करने के लिए कांग्रेस नेतृत्व पर दबाव डालने की प्रवृत्ति को अपनाकर इसने सीएसपी और बोस से कहीं अधिक दक्षिणपंथी अवस्थिति अपना ली थी। जनयुद्ध की अवधि में, फासीवाद विरोधी मोर्चे के नाम पर, मजदूर वर्ग और जनता के हितों को त्याग कर, इसने ब्रिटिश के साथ निरपेक्ष एकता का स्टैंड अपना लिया था और इसके खिलाफ किसी प्रकार के भी संघर्ष का यहां तक कि कामगार वर्गों के नित्यप्रति के संघर्षों का भी विरोध किया था। इसके परिणामस्वरूप, यह भारत छोड़ो अभियान के महान जनविद्रोह से अलग खड़ी रह गई थी। नेतृत्व अपने राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय कार्यभारों के बीच तालमेल बिठाने के जरिये, संघर्ष और एकता की वास्तविक दृष्टि के साथ संयुक्त मोर्चे की रणनीति को सूत्रबद्ध करने और लागू करने में बुरी तरह असफल रह गई थी। इस प्रकार इसने युद्ध के पश्चात उठ खड़े होने वाले क्रांतिकारी शक्तिशाली जनउभार का नेता बनने के अवसरों के साथ गड़बड़ी कर दी थी और अपनी प्रतिष्ठा को काफी नुकसान पहुंचा डाला था।

करीब दो दशकों की मौजूदगी के बाद 1943 में जाकर के सीपीआई अपनी पहली कांग्रेस आयोजित कर सकी थी। इस कांग्रेस ने पार्टी नेतृत्व द्वारा प्रेरित अवसरवादी कार्यदिशा पर अपनी सहमति की मुहर लगा दी थी। यद्यपि कोंमिटर्न 1920 से ही भारत में क्रांतिकारी पार्टी की स्थापना के लिए सक्रिय प्रयास करती रही थी, परंतु सीपीआई इसके साथ जीवंत संपर्क स्थापित करने में नाकाम रही थी। सीपीआई किसी भी कोमिंटर्न कांग्रेस में अपना औपचारिक प्रतिनिधिमंडल नहीं भेज सकी थी। इसलिए कांग्रेस की सर्वोच्च महत्वपूर्ण प्राप्ति यही थी कि यह कोमिंटर्न के जीवनकाल में सीपीआई खुद को बनाये रखने में सफल रही थी।

युद्ध के बाद की अवधि के शक्तिशाली जनसंघर्ष और उफान, ने भरत पर प्रत्यक्ष औपनिवेशिक शासन को असंभव बना दिया था। इसलिए ब्रिटिश साम्राज्य ने दलाल वर्गों को सत्ता सौंप दी और अपने हितों को सुरक्षित कर लिया था। हिंदू सांप्रदायिकता, भाारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की मुस्लिम लीग के साथ सत्ता साझा करने के मामल में कांग्रेस के अड़ियल और गैर जनतांत्रिक रुख के साथ मिलकर, देश को बंटवारे की ओर ले गई थी तथा पहले कभी नहीं देखे गये सांप्रदायिक हत्याकांड को अंजाम दिया था। जिस दौरान दलाल पूंजीपति और भूस्वामी वर्ग स्वतंत्रता के नाम पर सत्ता पर काबिज हो रहे थे, सीपीआई मात्र एक असहाय दर्शक की भूमिका निभा सकी थी। इससे भी आगे जाकर इसने इस सत्ता हस्तांतरण को वास्तविक स्वतंत्रता की मान्यता प्रदान कर दी थी।

युद्ध के पश्चात सत्ता हस्तांतरण के मंचन के समय ही कांग्रेस ने मुख्य खतरा मानते हुए, सीपीआई पर चौतरफा हमला बोल दिया था। इसके बावजूद, सीपीआई शर्मनाक ढंग से कांग्रेस के साथ एकता की दलील देती रही थी। बहरहाल, पार्टी में दक्षिणपंथी विच्युति के बारे में गंभीर पुनर्विचार भी शुरू हो गया था।

****

1936 में दत्त–ब्रैडले की थीसिस को स्वीकार किये जाने के बाद से ही, सीपीआई दक्षिणपंथी अवसरवाद में गहरे धंसती चली जा रही थी। सीपीआई उस स्तर तक जा पहुंची थी कि इस बात को समझ ही नहीं सकी कि सत्ता सौंपकर परोक्ष तरीके से अपनी पकड़ बनाये हुए हैं। यह नहीं समझ सकी कि भारतीय जनवादी क्रांति का साम्राज्यवाद विरोधी कार्यभार अभी भी पूरा नहीं हुआ है। यह सोचती थी कि ''स्वतंत्रता पर साम्राज्यवादियों द्वारा पेश खतरे'' से लड़ा जाना है। इसने कांग्रेस के भीतर 'दक्षिणपंथियों' के साथ संघर्ष करते हुए भी नेहरु का समर्थन करना है।

इसने देश में उभरने वाले सामंतवाद विरोधी संघर्षों की पूरी तरह से से अवहेलना की थी। यह ए.आई.एस. के माध्यम से किसानों के बीच काम कर रही थी, परंतु यह क्रांति में किसानों की भूमिका को नहीं समझाती थी। इसने स्वतः स्फूर्त उठ खड़े होने वाले किसान संघर्षों को नेतृत्व तो प्रदान किया परंतु इसने एक क्रांतिकारी कृषि कार्यक्रम के आधार पर पूरे देश में किसानों को गोलबंद करने का कोई प्रयास नहीं किया। यह 1946 में शुरू हुए तेलंगाना किसान संघर्ष का महत्व नहीं समझ सकी। भारतीय बुर्जुआ द्वारा जनवादी क्रांति का सामंतवाद विरोधी कार्यभार कभी भी अपने हाथों में नहीं लिया। यहां तक कि सीपीआई ने भी कृषि क्रांति की उपेक्षा करके जनवादी क्रांति के सामंतवाद विरोधी कार्यक्रम के पूरा न होने में अपना योगदान किया था।

यह सही है कि सीपीआई ने राष्ट्रीयताओं के आत्मनिर्णय के अधिकार की मांग उठाई थी, परंतु चूंकि यह किसानों की अवहेलना की वजह से अपनी जमीन खो चुकी थी, और राष्ट्रीय आंदोलन में सर्वहारा के प्रभुत्व स्थापन के अवसरों को गंवा चुकी थी, और दलाल पूंजीपति का दुमच्छल्ला मात्र बन चुकी थी, यह भारत और पाकिस्तान को, राष्ट्रीयताओं के जेलखाने बनते जाने का दर्शक मात्र बनी रह गई थी। इसमें कोई संवेदना नहीं है कि, जनवादी क्रांति के साथ दगा करके ही दलाल पूंजीपति और भूस्वामी वर्ग सत्ता पर काबिज हो सके थे, वह भी साम्राज्यवावद के चाकर के रूप में। लेकिन इसे भी नहीं भूला जा सकता कि सामंतवाद और साम्राज्यवाद को सफलतापूर्वक उखाड़ फेंकने के लिए भारत की उत्पीड़ित जनता का नेतृत्व करने के काम में सीपीआई की असफलता भी उनकी सफलता का एक कारक थी।

सीपीआई का नेतृत्व दलाल बुर्जुआ के दोगले चरित्र, उनकी चालाक रणनीति और दगाबाजी को समझने और मात देने में और उत्पीड़ित जनों का नेतृत्व करते हुए उन्हें आगे ले आने में, पूर्णतया असफल सिद्ध हुई थी। इसने मार्क्सवादी–लेनिनवादी विधियाों को अपनाते हुए, भारत की आर्थिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों का अध्ययन करने का और जैसा कि लेनिन ने कहा था, खुद को 'किसान संघर्ष को विद्यालय' में प्रशिक्षित करने का प्रयास ही नहीं किया। यह मनोगत और मतांध तरीके से भारतीय क्रांति का नेतृत्व करने का प्रयास किया था। सीपीआई के दक्षिणपंथी विचलन की समीक्षा करते समय, सीपीआई नेतृत्व को अवसरवाद के दलदल में धंसा देने में, सीपीजीबी द्वारा निभाई गई भूमिका को भी कम करके नहीं आंकना चाहिए।

सीपीआई अवसरवाद के गड्ढे में कितना भी क्यों न धंस गई हो, पार्टी कार्यकर्ताओं, मजदूरों, किसानों, विद्यार्थियों, बुद्धिजीवियों और महिलाओं ने साम्यवाद और देशभक्ति के आदर्शों की आग में तप कर, अपूर्व बलिदान दिये थे और वीरतापूर्ण संघर्ष की गौरवशाली परंपरा तथा भारतीय राष्ट्रीय क्रांतिकारियों की बलिदान की भावना को जारी रखा था और आगे बढ़ाया था। अपनी सारी कमजोरियों के बावजूद सीपीआई, भारत में साम्राज्यवाद और दलाल बुर्जुआ वर्ग के लिए दुःस्वप्न बनी रही थी, स्वाभाविक रूप से ऐसे किसी जिंदा संगठन को उन कीटाणुओं और बीमारियों से खुद को मुक्त करने के लिए, जो इसको संक्रमित कर रहे थे, प्रतिरोध संघर्ष करना होता है।

दक्षिणपंथी अवसरवाद को चुनौती

सीपीआई का अवसरवाद विरोध से बच नहीं सका था। 1936 में ही दत्त–ब्राडले की थीसिस के खिलाफ गंभीर मतभेद व्यक्त हुए थे। जब यह निश्चय किया गया था कि किसानों और कामगारों को कांग्रेस पार्टी में शामिल हो जाना चाहिए, तब एक विचार यह भी व्यक्त किया गया था कि इससे पार्टी का विसर्जन हो ही जायेगा। कांग्रेस के प्रति सीपीआई के रुख के प्रति निरंतर संदेह बना हुआ था। 1946 तक आते–आते, रणदिवे, अधिकारी और दूसरों द्वारा कांग्रेस के प्रपति सीपीआई की अवस्थिति को बदलने का प्रयास किया गया। अगस्त 1946 के केंद्रीय कमेटी प्रस्ताव में कांग्रेस के प्रति पार्टी की अवस्थिति के विरोध की प्रवृत्ति परिलक्षित थी। परंतु चूंकि यह एक समझौता प्रस्ताव था या भी जोशी व्यवहार में अपनी खुद की कार्यदिशा लागू करने में कामयाब हो गये थे। रणदिवे तथा दूसरों का यह विरोधी भी कोई सुसंगत विरोध नहीं था। बहरहाल 1947 तक पूरी पार्टी में, इसके द्वारा व्यवहार में लाई जाने वाली कार्यदिशा को लेकर असंतोष काफी बढ़ गया था। खासतौर से, 1946 में सत्ता पर काबिज होने वाली कांग्रेस सरकारों द्वारा मजदूरों और किसानों के संघर्षों पर पुनः शुरू कर दिये जाने वाले बर्बर दमन ने यह सिद्ध करना शुरू कर दिया था कि बड़े पूंजीपतियों के बारे में सीपीआई का आकलन गलत था। नेहरु और पटेल द्वारा सीपीआई विरोधी अपना कुत्सा प्रचार जारी था। खुद ब्रिटिश आफीसरों ने यह स्वीकारा था कि नेहरु मंत्रालय के गृहमंत्री पटेल ने 1946 में ही कम्युनिस्ट पार्टी को प्रतिबंधित करने के इच्छुक थे।

कांग्रेस सरकार ने बंबई में मजदूर आंदोलनों का दमन करने के लिए औद्योगिक विवाद अधिनियम 1946 लागू किया। मई 1947 में हड़तालों का विरोध करने के लिए कांग्रेस ने ऐटक को विभाजित कर दिया और इंटक का गठन कर लिया। उद्योगपतियों और सरकार की मदद से इंटक ने ट्रेड यूनियन आंदोलन में तोड़–फोड़ की गतिविधियां शुरू कर दी थीं।

कांग्रेस ने किसान सभाओं और विद्यार्थी आंदोलनों में, हर जगह कम्युनिस्टों पर आक्रमण शुरू कर दिया था।

मद्रास प्रांत में कांग्रेस सरकार ने कम्युनिस्टों का कठोर दमन शुरू कर दिया था और मद्रास की सीपीआई ने कांग्रेस के प्रति पार्टी की अधिकारिक कार्यदिशा को लागू करने से इंकार कर दिया था। प्रकाश्य की सरकार ने जो 1946 में ही सीपीआई को प्रतिबंधित कर चुकी थी, खुद तेलंगाना से सटे हुए आंध्रा के उन जिलों में भीषण दमन शुरू कर दिया था, जो उस समय तीव्र गति से आगे बढ़ते हुए तेलंगाना के सशस्त्र संघर्ष के लिए, सक्रिय पिछवाड़े का कार्य कर रहे थे। आंध्रा पार्टी जो तेलंगाना के कृषक आंदोलन का नेतृत्व कर रही थी, दक्षिणपंथ के विरुद्ध संघर्ष में मजबूत समर्थक बनकर सामने आई थी।

दिसंबर 1947 के द्वितीय सप्ताह में केन्द्रीय कमेटी की बैठक आयोजित हुई। इस बैठक में पी.सी.जोशी को महासचिव के पद से मुक्त कर दिया गया और उनके स्थान पर वी.टी. रणदिवे को चुन लिया गया। इस बैठक से ठीक एक सप्ताह पहले, कांग्रेस सरकार ने बंबई में सीपीआई की पत्रिकाओं का प्रकाशनों पपर सेंसर लगा दिया था। पार्टी के भीतर नेहरु सरकार के चरित्र और इसके प्रति कम्युनिस्टों के रुख को लेकर चलने वाला विवाद, एक निर्णय तक पहुंच गया था और केन्द्रीय कमेटी ने, इस नजरिये को कि जनदबाव निर्मित करके नेहरु सरकार को प्रभावित किया जा सकता है, अवसरवाद करार देते हुए, त्याग दिया था। यह निर्णित हो गया था कि, सरकार की नीति साम्राज्यवाद के आंग्ल–अमेरिकन साम्राज्यवाद की ताबेदारी की ओर ही ले जाने वाली है। यह साफ–साफ कहा गया था कि भारत के बड़ा पूंजीपति वर्ग ने साम्राज्यवाद के साथ सांठ–गांठ कर ली है और बुर्जुआ सरकार इसकी मदद कर रही है।

सीपीआई की दूसरी कांग्रेस

सीपीआई की दूसरी कांग्रेस 28 फरवरी ससे 6 मार्च 1948 तक कलकत्ता में आयोजित हुई थी। कांग्रेस के लिए 919 प्रतिनिधि चुने गये थे, परंतु 632 प्रतिनिधियों ने दी कांग्रेस में हिस्सा लिया था। इनमें से 565 पूर्णकालिक कार्यकर्ता थे। तेलंगाने से 75 प्रतिनिधियों को आना था, परंतु 4 या 5 ही आ सके थे। आस्ट्रेलिया, बर्मा, लंका और युगोस्लाविया के बिरादर प्रतिनिधि भी कांग्रेस में मौजूद थे। युगोस्लाविया के प्रतिनिधिमंडल ने तो सक्रिय प्रतिभाग किया था।

इस कांग्रेस ने 31 सदस्यों वाली केंद्रीय कमेटी का चुनाव किया। ये थे : बी.टी.रणदिवे (महासचिव) भवानी सेन, सोमनाथ लाहिड़ी, जी अधिकारी, अजय घोष, एस.के. कृष्णन, सी. राजशेखर राव, एम. चंद्रशेखर राव औरा एस.एस युसूफ (सभी पोलिट ब्यूरो के सदस्य)

रणेन सेन, एस.के. डांगे, डी.एस.वैद्य, पी.सुदरैया, इ.एम.राव नंबूदरीपाद, अरुण बोस, एस.जी.सरदेसाई विश्वनाथ मुकर्जी, पी.कृष्ण पिल्लई, के.सी.जार्ज, एम. बासवपुन्नैया, डी. वेंकटेश्वर राव, एल.के. ओक, एस.वी. पारुलेकर, एम. कल्याणसुंदरम, बी. श्रीनिवास राव, मुजफ्फर अहमद, बीरेश मिश्रा, सुनील मुकर्जी और रवि नारायण रेड्डी।

ऐसे समय में जब नेहरु सरकार पार्टी पर चौतरफा आक्रमण की तैयारी कर रही थी, और कुछ प्रांतों में तो इसे पहले ही प्रतिबंधित कर दिया गया था, पार्टी न केवल कानूनी तरीके से कांग्रेस का आयोजन ही कर डाला था, वरन इसमें भारी संख्या में प्रतिनिधि भी शामिल हुए थे। केन्द्रीय कमेटी भी यह देखते हुए काफी बड़ी थी कि, भविष्य में सी.सी. को अपनी बैठकें शहरी केंद्रों में गुप्त रूप से करने होंगे।

ऐसा लगता है कि अपनी क्रांतिकारी लफ्फाजी के बावजूद रणदिवे क्रांति का नेतृत्व कर सकने वाली एक प्रभावी उच्चतम राष्ट्रीय निकाय के निर्माण की बजाय, अपने पूर्ववर्ती जोशी की तरह ही, पार्टी के सभी धड़ों को जगह देने और उनके बीच सामंजस्य बिठाये रखने की कवायद में ही लगे रहे थे। यह सिर्फ इस बात का परिचायक है कि उस समय पार्टी के भीतर गहराई तक पैठ बना चुका कानूनवाद जो पार्टी संगठन को विनष्ट कर रहा था, उसके प्रति नया नेतृत्व भी जो वाम संकीर्णतावादी और दुस्साहसवादी साबित हो चुका था, अपवाद नहीं था।

विशेष रूप से एक निर्णायक मोड़ पर, जबकि पार्टी अपनी दीर्घकाल तक हावी रहने वाली अवसरवादी और वर्ग सहयोग की कार्यदिशा और व्यवहार को त्याग कर, एक नई राह की नक्शा बनाने में लगी हो, इतने बड़े डेलीगेशन के साथ कांग्रेस का सप्तदिवसीय सत्र निश्चित रूप से राजनीतिक सैद्धांतिक और सांगठनिक बहस की व्यापकता गहराई और स्तर को कम ही करने लगा था। फिर भी कांग्रेस, समूचे देश में, पार्टी के भीतर, पार्टी की दक्षिणपंथी अवसरवादी नीतियों और व्यवहार के प्रति असहनीय हो रहे गुस्से और हताशा को खुलकर सामने लाने में कामयाब हुई थी।

''कांग्रेस में आए हुए ज्यादातर प्रतिनिधि वे जन नेता थे, जो आमजनों के बढ़ते हुए संघर्षों की नाड़ियों पर पकड़ रखते थे। उन्हें अच्छी तरह पता था कि पिछली अवधि की हिचकिचाहटों और ढुलमुलपन किसलिए था और जनता के बीच उनके काम को कैसे प्रभावित करता था। वे कांग्रेस में, अतीत के इस ढुलमुलमन और गलतियों का अंत करने और सही क्रांतिकारी कार्यदिशा का निर्धारण करने के लिए दृढ़ निश्चय के साथ आये हुए थे।''

''द्वितीय पार्टी कांग्रेस ने उस दक्षिणपंथी संशोधनवाद को जिसने पार्टी पर अपनी पकड़ की लम्बी अवधि के दौरान इसकी जीवनशक्ति को चूस लिया था, को एक जोरदार झटका दिया था।''

यद्यपि कांग्रेस, सत्ता हस्तांतरण, बुर्जुआ और नेहरू सरकार के संबंध में दक्षिणपंथी अवसरवाद को तिरस्कृत करने में सफल सिद्ध हुई थी, परंतु यह न केवल एक क्रांतिकारी कार्यदिशा का निर्धारण करने में असफल रही थी, बल्कि पूरी पार्टी मशीनरी के, जो उस समय मात्र कानूनी संगठन के रूप में ही अस्तित्वमान थी, पुनर्गठन की आवश्यकता को पहचानने में भी असफल रही थी।

राजनीतिक थीसिस

कांग्रेस ने रणदिवे द्वारा तैयार की गई राजनीतिक अवधारणा (थीसिस) को अंगीकार कर लिया था। जैसा कि बाद में जून की केंद्रीय कमेटी की बैठक ने सही तरीके से मूल्यांकित किया था, यह एक ऐसा दस्तावेज था जिसने ''पार्टी को, संशोधनवाद के उस भंवर से जिसमें वह लंबे समय से डूबी हुई थी, बचा लेने का'' प्रयास किया था, परंतु इसमें ''वाम संकीर्णतावाद की कुछ खतरनाक जड़ें भी'' मौजूद थीं ''जिनको पोलिट ब्यूरो ने आगे चलकर, द्वितीय कांग्रेस की सभी सकारात्मक उपलब्धियों को नेस्तानाबूद करते हुए... एक पूर्ण पल्लवित त्रात्स्कीय थीसिस में बदल दिया था।''

1. थीसिस में स्पष्ट रूप से कहा गया था कि भारतीय राष्ट्रीय बुर्जुआ और इसकी प्रतिनिधि कांग्रेस ने साम्राज्यवाद के साथ समझौता कर लिया है और यह प्रतिक्रांतिकारी भूमिका अदा करने में लगी हुई है। इसने झूठी आजादी के रूप में सत्ताहस्तांतरण की सही पहचान की थी, जो साम्राज्यवादियों के अप्रत्यक्ष शासन को स्थापित करता है।

''युद्धोपरांत उठ खड़े हुए खड़े होने वाले क्रांतिकारी उफान ने साम्राज्यवाद को अपी रणनीति बदलने के लिए बाध्य कर दिया है...'' ''माउंटबेटन अवार्ड साम्राज्यवाद के पीछे हटने को संकेतित नहीं करता, वरन यह भारतीय जनता की बढ़ती ताकतों के विरूद्ध, साम्राज्यवाद के चतुराई पूर्ण प्रत्याक्रमण का संकेत है।'' ''भारत छोड़ने का विकल्प सामने आ जाने पर इसने बाध्य होकर पूंजीपतियों और भूस्वामियों को सत्ता हिस्सा देना स्वीकार किया है।'' ''माउंटबेटन योजना जनता को जो कुछ देती है, वह वास्तविक नहीं, बल्कि झूठी आजादी है।''

''भारतीय बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व ने इस तरह से क्रांतिकारी आंदोलन के साथ विश्वासघात किया है।''

''भारतीय बुर्जुआ ने... विरोधी की भूमिका को त्याग दिया है और अब वह दुरभिसंधि करने वाले की अर्थात प्रतिक्रांतिकारी की भूमिका में उतर आया है।''

रणदिवे चीनी अनुभव से सीखने में असमर्थ रहे। वे दलाल या बड़े पूंजीपतियों तथा राष्ट्रीय या मझोले पूंजीपतियों के वर्गों के बीच अंतर नहीं कर सके और फलतः इन दोनों वर्गों द्वारा, साम्राज्यवाद तथा सामंतवाद के विरुद्ध जनवादी क्रांति में निभाई जाने वाली सामंतवाद के विरुद्ध जनवादी क्रांति में निभाई जाने वाली भूमिकाओं के फर्क को भी नहीं पहचान सके। चूंकि दक्षिणपंथी अवसरवाद पार्टी को बड़े पूंजीपति का दुमछुल्ला बनाये रखने के लिए बुर्जुआ के बीच मात्र प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी का भेद किया करता था, रणदिवे ने बुर्जुआ वर्ग को एक सम्पूर्ण ईकाई के रूप में ही देखा–दलाल तथा प्रतिक्रियावादी और इस प्रकार बुर्जुआ के किसी भी ऐसे हिस्से को मौजूदगी की संभावना को ही निर्मूल मान लिया, जो सामंतवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध कोई क्रांतिकारी भूमिका निभा सकता था।

2. क्रांति के चरण के संबंध में थीसिस ने एक चरणीय क्रांति की त्रात्स्कीपंथी अवस्थिति अख्तियार की थी और इस प्रकार वाम संकीर्णतावादी कार्य दिशा के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया था। रणदिवे ने र्सवहारा के प्रमुख को सर्वहारा की तानाशाही के समकक्ष खड़ा कर दिया था।

''जनवादी क्रांति और साथ ही साथ उसी समय समाजवाद निर्माण के कार्यभार को पूरा करने के लिए जनता की जनवादी क्रांति को फलीभूत करना है।''

''केंद्रीय कमेटी के नाम पर यह स्पष्ट कर दिया गया था कि जनता का जनवादी राज्य अपने आप में सर्वहारा की तानाशाही है।''

3. इसने तीन वर्गों के संश्रय का सुझाव दिया जिससे राष्ट्रीय पूंजीपति, मझोला पूंजीपति और धनी किसान को बाहर रखा गया था।

''साम्राज्यवाद, सामंतवाद और पूंजीपति के गठजोड़ को पराजित करने के लिए, क्रांतिकारी जनता की ताकतों को एक नये तरीके से गोलबंद करना आवश्यक है'' ''जनवादी मोर्चा– मजदूर वर्ग, किसान और प्रगतिशील बुद्धिजीवी का एक संश्रय है।''

4. नेहरु के नेतृत्व में स्थापित राष्ट्रीय सरकार के चरित्र पर और नेहरु तथा पटेल के बीच बहुप्रचारित मतभेदों पर; थीसिस ने स्पष्ट रूप से संशोधनवादी समझ का परित्याग कर दिया था।

''जिन नीतियों का पालन सरकार कर रही है, उनका वर्णन सामंतवादी प्रतिक्रिया का समर्थन करने और सामंत–विरोधी, साम्राज्यवाद विरोधी क्रांतिकारी को नष्ट करने के रूप में ही किया जा सकता है।''

यह कहा गसया था कि ''अल्पसंख्यकों के संबंध में, सरकार एक साम्प्रदायिक नीति का अनुसरण करती है।'' यह दिखाते हुए कि सरकार द्वारा ''साम्प्रदायिक प्रतिक्रिया को खुला

प्रोत्साहन'' दिया जाता है, यह निष्कर्ष निकाला गया था कि ''राष्ट्रीय सरकार पर साम्प्रदायिक प्रतिक्रिया का जबरदस्त दबाव'' मौजूद था।

यह स्पष्ट रूप से समझ लिया जाना चाहिए कि नेहरू पूंजीपतियों के उतने ही बड़े प्रतिनिधि है जितने की पटेल। वे दोनों ही उन पूंजीपतियों की वर्गीय नीतियों और हितों की रक्षा करते हैं, जो अब साम्राज्यवाद के साथ सहयोग कर रहे हैं।'' ''अपनी रणनीति को बुर्जुआ शिविर के भीतर 'पटेल–नेहरु' के बीच मौजूद अंतर जैसी भिन्नताओं के आधार पर आधारित करना, मजदूर वर्ग के लिए मार्क्सविरोधी होना होगा।''

तेलंगाना का रास्ता हमारा रास्ता

रणदिवे के मुख्य प्रतिनिधि भवानी सेन ने काश्मीर पर बोलते हुए यह कहा था ''निरंकुशता के विरुद्ध तेलगान की जनता द्वारा किया जाने वाला बहादुराना संघर्ष न केवल यह दिखाता है कि राज्य के भीतर क्या हो सकता है, वरन यह भी दिखाता है कि भारत और पाकिस्तान का वास्तविक भविष्य क्या होने वाला है। यही वह रास्ता है, जिस पर विजयी जनता को, स्वतंत्रता और वास्तविक जनवाद के लक्ष्य की और प्रयाण करना चाहिए।''

पी. सी. जोशी के नेतृत्व में, केंद्रीय कमेटी ने तेलंगाना विद्रोह की पूर्ण उपेक्षा की थी। लेकिन रणदिवे इसकी प्रशंसा में यहां तक बढ़ गए कि ''तेलंगाना का मतलब कम्युनिस्ट है और कम्युनिस्ट का मतलब तेलंगाना है।'' उन्होंने नारा दिया कि ''तेलंगाना का रास्ता, हमारा रास्ता है।'' लेकिन तेलंगाना के वास्तविक महत्व को समझने में वे नाकामयाब रहे– कि इससे होकर दीर्घगामी जनयुद्ध की राह निकलती है।

''तेलंगाना के अनेक सदस्यों द्वारा की गई तीखी आलोचना इस बात की ओर इशारा करती थी कि भारत के परिपक्व होते हुए जनवादी आंदोलन के वर्तमान दौर के लिए तेलंगाना का क्रांतिकारी महत्व थीसिस में अनुपस्थित था।

तेलंगाना विद्रोह के उचित प्रतिनिधित्व देते हुए, आंध्रा से केंद्रीय कमेटी में चार और पोलिट ब्यूरो में दो प्रतिनिधि निर्वाचित किए गये थे। लेकिन तेलंगाना के अनुभव को दरअसल दो बिल्कुल विपरीत अवस्थितियों पर खड़े होकर देखा गया था। आंध्रा का नेतृत्व इसे क्रांति के चीनी रास्ते के रूप में देख रहा था तो वही रणदिवे इसे देशव्यापी जनविद्रोह के पूर्वाभ्यास के रूप में देख रहे थे। इस तरह से कांग्रेस के बाद, दक्षिण अवसरवाद के विकल्प के रूप में दो भिन्न कार्यदिशायें उभर आई थी। दोनों ही पूरे देश में अनेक तेलंगाना स्थापित करने का आह्वान करती थीं।

पी.सी.जोशी की तरह रणदिवे भी, तेलंगाना के सशस्त्र संघर्ष द्वारा स्थापित की जा रही भारतीय क्रांति की कार्यदिशा को समझ पाने में असमर्थ सिद्ध हुए थे। यह उनके वामपंथी आकलन के अनुरू ही था। इसलिए केंद्रीय कमेटी ने तेलंगाना के संघर्ष का गंभीर अध्ययन किया नहीं किया। रणदिवे ने कांग्रेस में संशोधनवादी भटकाव पर रिपोर्ट प्रस्तुत की थी जिसमें पी.सी.जोशी के कार्यकाल के दौरान उभरे दक्षिणपंथी संशोधनवाद की विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत की गई थी।

पी.सी.जोशी ने स्वयं अपनी गलतियों की निर्ममतापूर्वक आलोचना की थी और इनकी जड़ों की तलाश मार्क्सवाद और लेनिनवाद के परित्याग में की थी।'' उन्होंने राजनीतिक थीसिस को पूर्णतया स्वीकार भी कर लिया था। उन्होंने राजनीतिक थीसिस को पूर्णतया स्वीकार भी कर लिया था। बहरहाल आगे आने वाली घटनाओं ने बिना किसी संदेह के यह सिद्ध कर दिया था कि न तो जोशी की आलोचना और न ही लम्बे समय तक इस्तेमाल में

लाई जा रही दक्षिणपंथी अवसरवादी गठजोड़ से खुद को अलगा कर लेने के शीर्ष नेतृत्व द्वारा लिया गया संकल्प ही, ज्यादा समय तक टिका रह सका था।

यद्यपि पी.सी. जोशी की दक्षिणपंथी कार्य दिशा और संशोधनवाद को काफी कुछ भर्त्सना की गई थी, यह नहीं माना जा सकता था कि दक्षिणपंथी अवसरवाद ने अपनी जमीन खो दी है। क्योंकि रणदिवे के पीछे जो लोग खड़े हुए थे, वे ऐसे लोग नहीं थे, जिनकी दक्षिणपंथी भटकाव से लड़ने में परीक्षा हो चुकी हो और जिन्होंने क्रांतिकारी कार्यदिशा की स्थापना की हो। आगे चलकर, किसी और ने नहीं बल्कि खुद दक्षिणपंथी अवसरवाद के सिद्धांतकार आर. पी. दत्त ने स्वीकार किया था कि यह डांगे थे, जिन्होंने वाम संकीर्णता की कार्यदिशा का यूगोस्लावी पार्टी से आयात किया था और उन्होंने डांगे को ''टीटोवादी'' घोषित किया था। डांगे जो जीवनपर्यंत दक्षिणपंथी पक्ष के नेता रहे थे, कैसे वाम संकीर्णतावाद की वकालत करने लगे थे? इसे याद रखा जाना चाहिए कि पार्टी में शुरू से ही गुटीय झगड़े होते रहे थे। बहुत से दक्षिणपंथी नेता जिनमें डांगे भी एक थे, रणदिवे के पीछे इसलिए खड़े हुए थे कि दक्षिणपंथी अवसरवाद को खिलाफ पार्टी की कतारों में उठ खड़े होने वाले व्यापक असंतोष का फायदा उठाकर, के साथ अपना हिसाब चुकता कर सकें। दक्षिणपंथी अवसरवाद को तिरस्कृत करने में दूसरी कांग्रेस की सफलता को बढ़ चढ़ कर नहीं आंकना चाहिए क्योंकि इसका केंद्रीय हिस्सा अभी भी मजबूत था और केवल समय की ताक में था। कांग्रेस के बाद, रणदिवे ने, वामपंथी संकीर्ण कार्यदिशा और दुस्साहसी रणनीतियों को अपना करके तथा तानाशाह सांगठनिक तरीकों का इस्तेमाल करके, दरअसल खुद ही दक्षिणपंथी ताकतों को पुनः खुद के मजबूत बना लेने का मौका दे दिया था।

कांग्रेस के बाद रणदिवे ने पार्टी को वामपंथी संकीर्ण दुस्साहसवाद की तरफ अग्रसर कर दिया था। जबकि वे यह ठीक से पहचान रहे थे कि युद्ध के बाद का क्रांतिकारी उभार और आर्थिक संकट अंतरराष्ट्रीय स्तर पर, राष्ट्रीय स्तर पर भी जारी है, उन्होंने आत्मगत तैयारी की और क्रांतिकारी ताकतों को पूरी तरह उपेक्षित कर दिया था। भारतीय क्रांति के कृषिकीय चरित्र की उपेक्षा करके देशव्यापी जनविद्रोह के अपने सपने को साकार करने की चाह में वे वाम दुस्साहसवाद के रास्ते पर आगे बढ़ते रहे थे। देशव्यापी जनविद्रोह को खड़ा करने पर दाव लगाने वाली रणदिवे की कार्यदिशा ने, दरअसल कानूनी पार्टी संगठन को नेहरू सरकार के चौतरफा आक्रमण का आसान शिकार बना दिया और यह कार्यदिशा, इस मामले में आर्थिक विनाशकारी साबित हुई कि इसकी वजह से संगठन को काफी नुकसान झेलना पड़ा था।

रणदिवे की कार्यदिशा को चुनौती

क्रांति के चरण और वर्ग विश्लेषण तथा प्रस्तावित लामबंदी (संश्रय) के संबंध में राजनीतिक थीसिस की अवस्थित से असंतुष्ट, अनेक प्रांतों के कई नेताओं ने चीनी अनुभव के दृष्टिबिंदु से इस प्रश्न पर विचार करने के प्रयत्न किये। आंध्र के नेतृत्व के अलावा, बंगाल की प्रांतीय कमेटी का झुकाव भी चीनी रास्ते की ओर था जबकि आसाम के साथियों ने सामान्य रूप से इसी तरफ सुझाव दिये थे और संयुक्त प्रांत की प्रांतीय कमेटी ने आजमगढ़ में तेलंगाना के रास्ते से किसान संघर्ष चलाने का प्रस्ताव ही पेश कर दिया था।

परंतु रणदिवे ने कार्यदिशा से सैद्धांतिक संघर्ष और इसकी आलोचना, आंध्रा नेतृत्व ने ही की थी। आंध्रा के नेतृत्व ने जिसने जोशी के संशोधनवाद को पराजित करने में सक्रिय भूमिका निभाई थी, यह महसूस किया कि दूसरी कांग्रेस में सूत्रबद्ध कार्यदिशा तेलंगाना संघर्ष

के अनुभवों के अनुरुप नहीं थी और यह कि तेलंगाना में स्थापित हो रही कार्यदिशा वस्तुतः भारतीय क्रांति की कार्यदिशा थी।

कांग्रेस से एक महीने पश्चात, अप्रैल 1948 में, आंध्रा की प्रांतीय कमेटी के सचिवालय ने तेलंगाना संघर्षों के अनुभवों को दृष्टिगत रखते हुए एक वैकल्पिक कार्यदिशा को सूत्रबद्ध किया था और इसे केंद्रीय कमेटी को भेज दिया था। यह पत्र जो 'आंध्रा थीसिस' अथवा 'आंध्रा पत्र' के नाम से प्रसिद्ध हुआ था, यह स्पष्ट रूप से कहना था कि भारतीय क्रांति, चीनी क्रांति की राह का अनुसरण करेगी। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास में पहली बार यह सूत्रीय किया गया था कि भारतीय क्रांति दीर्घकालिक लोकयुद्ध के रास्ते का अनुसरण करेगी जिसकी मुख्य शक्ति किसान होंगे। यह वाम और दक्षिण दोनों कार्यदिशाओं से भिन्न कार्यदिशा थी। आंध्रा सचिवालय ने इस मसौदे में, कुछ महत्वपूर्ण कमजोरियों के बावजूद, पहली बार भारत में चीनी अनुभव को भारतीय परिस्थितियों में लागू करने का प्रयास किया था ओर भारत के लिए चीनी क्रांति के रास्ते की व्यापक तौर पर विस्तृत रूपरेखा तैयार की थी।

बहरहाल रणदिवे न केवल क्रांति के चरण और क्रांतिकारी संश्रय के संबंध में राजनीतिक थीसिस में घोषित अवस्थित पर जड़सूत्रीय तरीके से अड़े रहे थे, अपितु उन्होंने उन त्रुटिपूर्ण वाम अवस्थितियों को एक पूर्ण विस्तारित संकीर्ण दुस्सासहवादी कार्यदिशा में विकसित भी कर दिया था। रणदिवे ने एक तरफ अपनी वापम दुस्साहसवादी कार्यदिशा और कट्टर तरीकों के विरुद्ध उठने वाली आपत्तियों को दबा दिया था और आंध्र दस्तावेजों का केंद्रीय कमेटी के सभी सदस्यों को यहां तक कि कुछ पोलित ब्यूरो सदस्यों के समर्थन में प्रस्तुत किये जाने वाले तर्कों को दबा दिया था, तो दूसरी तरफ आंध्र पत्र, क्रांति के चीनी रास्ते और माओ पर, उन सभी को संशोधनवादी करार देते हुए, तीखा हमला भी बोल दिया था। अपनी इस वाम संकीर्ण समझ के साथ उन्होंने आंध्र नेतृत्व और आंध्र थीसिस के खिलाफ 1948 के मध्य से ही, कड़ी निंदा की झड़ी लगा दी थी।

आंध्र थीसिस बनाम रणदिवे

आंध्र थीसिस को संशोधनवाद के रूप में खंडन करते हुए रणदिवे ने तीन संशोधनवाद लिखे थे जिनमें उन्होंने अपनी वाम संकीर्णता की अवस्थितियों का विस्तारण किया था। **वे हैं : जनता की जनवादी क्रांति की रणनीति और रणकौशल, जनता के जनवाद के बारे में और भारत में कृषिक प्रश्न पर।** 1948 के वर्षांत में, तीन महीने की लम्बी बैठक को बाद पोलित ब्यूरो ने इन्हें स्वीकार कर लिया था। आंध्र थीसिस के मुख्य प्रस्तावक राजेश्वर राव ने कहा ''पोलित ब्यूरो के इन तीनों दस्तावेजों को स्वीकार करके अवसरवादी समर्पण'' कर दिया था ''परंतु दो महीनों के भीतर ही उन्होंने पोलित ब्यूरो के दस्तावेजों के लगभग सभी प्रमुख बिंदुओं पर विवाद खड़ा कर दिया था।'' इस तरह से दूसरी कांग्रेस के बाद पार्टी आधारभूत मुद्दों पर मूलभूत बहसों की साक्षी बनी थी परंतु ये बहसें पोलित ब्यूरो और केंद्रीय कमेटी के सीमित दायरे में ही सिमटी रही थीं।

रणदिवे आंध्रा थीसिस लगभग सभी महत्वपूर्ण पहलुओं से मतभेद रखते थे। उन्होंने इस पर, यह कहते हुए कि यह संशोधनवादी और दक्षिणपंथी अवसरवाद है, इस पर तीखा आक्रमण किया था। (आंध्र सचिवालय के आधिकारिक दस्तावेज, आंध्रा थीसि के साथ–साथ, सुंदरैया के असहमति दस्तावेज को भी बहस के लिए पहल पर रखा गया था।)

1. क्रांति का चरण : आंध्रा थीसिस ने क्रांति के चरण को पहचान नव जनवादी क्रांति के रास्ते के अनुरूप माना था। यह कृषि क्रांति के रूप में एक दीर्घकालिक गृहयुद्ध होगा न कि रणदिवे द्वारा चित्रित आम बगावत।

''हमारा देश कोई स्वतंत्र पूंजीवादी राज्य नहीं है, बल्कि मात्र एक अर्धउपनिवेश है। इसलिए हमारी क्रांति मुख्यतः कृषि क्रांति होगी। बुर्जुआ नेतृत्व के अधीन सम्पन्न होने वाली पुरानी कृषि क्रांति नहीं, बल्कि सर्वहारा नेतृत्व के अधीन होने वाली एक नये किस्म की कृषि क्रांति होगी, इसलिए यह नवजनवादी क्रांति के रूप में सही ढंग से परिभाषित है।''

''हमारी क्रांति ठेठ रूसी ढंग की क्रांति से अनेक मामलों में भिन्न होगी और काफी हद तक चीनी क्रांति के समान होगी। इसका परिदृश्य, ग्रामीण क्षेत्रों की मुक्ति की तरफ लक्षित आम हड़ताल या आम उभार का नहीं होगा बल्कि एक कृषि क्रांति के रूप में, लंबे प्रतिरोध और दीर्घकालिक गृहयुद्ध का होगा जिसकी परिणति एक जनवादी मोर्चे द्वारा राजनीतिक सत्ता पर कब्जा करने में होगी।''

रणदिवे ने चीनी रास्ते को यह कहकर किनारे लगा दिया था कि '' क्योंकि चीनी पार्टी का नेतृत्व, सर्वहारा का वर्चस्व स्थापित करने में असमर्थ रहा है ताकि जनता की बहुसंख्या को सर्वहारा के संश्रय में और उसके नेतृत्वाधीन लाया जा सके। क्योंकि इसने ऐसी रणनीति अख्तियार की है जिसके परिणाम अनर्थकारी हैं।

2. संयुक्त मोर्चे के बारे में

आंध्र थीसिस ने चार वर्गों के संश्रय का सुझाव दिया था, जो माओ द्वारा किये गये चीनी समाज के वर्ग विश्लेषण पर आधारित था और जिसमें सम्राज्यवाद, सामंतवाद और बड़े पूंजीपतियों का विरोधी धनी किसान और मध्यम पूंजीपति वर्ग भी शामिल थे।

''सर्वहारा वर्ग को साम्राज्यवादी–बड़े पूंजीपति वर्ग– और सामंती तत्वों के गठजोड़ के प्रतिरोध को पूरी ताकत से कुचलने के लिए और मझोले पूंजीपतियों तथा उच्च मध्यम वर्ग और धनी किसानों के एक हिस्से के ढुलमुलपन को उदासीन करते हुए, नव जनवादी क्रांति को पूर्णता तक पहुंचाना होगा।''

आंध्र नेतृत्व मानता था कि सर्वहारा के नेतृत्व के अधीन इस संश्रय में, क्रांति की कृषकीय प्रकृति की वजह, किसान मुख्य शक्ति होंगे।

रणदिवे ने यांत्रिक तरीके से इसकी आलोचना की थी कि किसानों को क्रांति की मुख्य शक्ति मानना मजदूर वर्ग की नेतृत्वकारी भूमिका को नकारने के सिवा और कुछ नहीं है। ध्यान देने की बात यह है कि वाम और दक्षिण दोनों धड़े आंध्र कार्यदिशा को खंडित करने के लिए एक ही प्रकार के तर्क प्रस्तुत किया करते थे। दक्षिणपंथी तिकड़ी का सितंबर 1950 का पत्र ने, जिसमें आंध्र कार्यदिशा के विपरीत क्रांति के चीनी रास्ते को ''स्वीकार'' किया था और 1951 की रणकौशल कार्यदिशा ने, जिसने दक्षिणपंथी अवसरवाद को बढ़त के लिए रास्ता खोल दिया था, भी ऐसी ही दलीलें पेश की थीं।

मझोले किसान और धनी किसान

''चूंकि क्रांति का मौजूदा चरण नव जनवादी क्रांति का चरण है न कि समाजवादी क्रांति का, इसलिए मझोला किसान क्रांति का दृढ़ सहयोगी होगा जो क्रांति में सक्रिय हिस्सेदारी करेगा। उन धनी किसानों को, जिनकी कोई सामंती पृष्ठभूमि न हो, एक वर्ग के

रूप में तटस्थ किया जा सकेग। यह भी संभव है कि धनी किसानों के एक हिस्से को संघर्ष में साथ लिया जा सके (गो कि वे ढुलमुल ही होंगे)।''

रणदिवे ने मझोले किसान और धनी किसान के इस चरित्रीकरण का पुरजोर विरोध किया। वे खेतिहर मजदूरों और गरीब किसानों को दृढ़ संश्रयकारी और मझोले किसानों को ढुलमुल सहयोगी मानते थे। पूंजीपतियों के प्रतिक्रियावादी और शत्रु सहयोगी होने की उनकी धारणा, उन्हें इस निष्कर्ष की ओर ले गई कि धनी किसान भी ग्रामीण बुर्जुआ होने के नाते प्रतिक्रियावादी है।

''कैसे धनी किसान, सामंती क्षेत्रों में भी, वास्तव में सामंत विरोधी भूमिका निभा सकता है जबकि समूचा बुर्जुआ वर्ग समझौता करना चाहता है।''

''आंध्रा के साथियों द्वारा ली गई अवस्थिति... केवल उन किसानों का उद्देश्यों को ही मदद पहुंचाएगी, जो जमींदारों के साथ–साथ ग्रामीण जन के शत्रु हैं।''

मझोले पूंजीपति के बारे में :

''माओ द्वारा पूंजीपति वर्ग का दलाल या बड़े पूंजीपति और राष्ट्रीय या मझोले पूंजीपति में विभाजन पर निर्भर रहते हुए आंध्रा थीसिस इस निष्कर्ष पर पहुंची थी कि भारतीय बड़े पूंजीपति ने साम्राज्यवाद के साथ गठबंधन कर लिया है जबकि मझोले पूंजीपति को तटस्थ किया जा सकता है।''

रणदिवे के लिए पूंजीपतियों का यह विभाजन और कुछ नहीं बल्कि जोशी के संशोधनवाद पर ही लौटना है। उन्होंने आरोप लगाया कि आंध्रा नेतृत्व पुराने संशोधनवादी रास्ते पर ही खड़ी है।

''कांग्रेस के बाद से धनी किसानों, मझोले पूंजीपतियो की उन्हें तटस्थ करने के नाम पर, वकालत करके अर्थात बड़े पूंजीपति और अन्य हिस्सों के बीच भिन्नता पर आधारित,... तटस्थ करने के नाम पर पूंजीपतियों ने कुछ हिस्सों के साथ शत्रु सहयोग पर आधारित, एक मूल रणनीति अपना कर आंध्रा सचिवालय भी वही चाहता है (पार्टी को पूंजीपतियों का दुमछल्ला बना देना)।''

''आंध्रा दस्तावेज दक्षिणपंथी संशोधनवाद को इसके स्थूलतम रूप में प्रदर्शित करते हैं।''

5. आंध्र मसौदे ने जनता के जनवादी राज्य और सर्वहारा की तानाशाही के संबंध में विभ्रम की स्थिति का निराकरण करने का प्रयास किया था। अपने स्पष्टीकरण में रणदिवे ने कहा, ''सेंट्रल कमेटी की तरफ से यह स्पष्ट किया जा चुका है कि जनता का जनवादी राज्य का अपने आप में अर्थ है सर्वहारा की तानाशाही।''

आंध्र मसौदे में माओ के नव जनवाद पर आधारित रहते हुए क्रांति के दो चरणों के बीच तथा क्रांतिकारी राज्य के दो रूपों के बीच स्पष्ट अंतर किया था। इसने रणदिवे के इस सूत्रीकरण को भी खारिज कर दिया था कि बिना सर्वहारा की तानाशाही स्थापित स्थापित किये सर्वहारा का प्रभुत्व नहीं किया जा सकता।

''सर्वहारा का प्रभुत्व सर्वहारा की तानाशाही से स्पष्ट रूप से भिन्न है।''

परंतु रणदिवे के अनुसार जनता का जनवादी राज्य का अर्थ ही था सर्वहारा की तानाशाही, क्योंकि सर्वहारा की तानाशाही के बिना राज्य पर सर्वहारा का प्रभुत्व स्थापित करना संभव ही नहीं है।

4. आध्रं कमेटी ने देश के विभिन्न हिस्सों में जहां पार्टी का जनाधार मौजूद है, तेलंगाना की कार्यदिशा का अनुसरण करते हुए सशस्त्र संघर्ष शुरू करने की वकालत की थी।

''उन क्षेत्रों में जहां जनता के बीच हम अच्छे अनुपात में मौजूद हैं, जैसे कि आंध्र, केरल, बंगाल के कुछ हिस्सों में, नेहरू सरकार, जो हमारा निर्दयतापूर्वक उन्मूलन करने पर आमादा है कि सैन्य आक्रमण के विरुद्ध गुरिल्ला युद्ध नीति (चीनी रास्ता) के बारे में सोचने के समय आ गया है।''

5. माओ विचारधारा पहली बार (चीन से बाहर) मार्क्सवाद–लेनिनवाद के तारतम्य में मान्य की गई थी। आंध्र थीसिस ने पहचान लिया था कि औपनिवेशिक देशों में क्रांति माओ द्वारा सूत्रबद्ध नवजनवादी रास्ते पर आगे बढ़ेगी।

''ऐतिहासिक चीन मुक्ति संग्राम के नायक, माओ ने अपने मौलिक और विस्तृत अनुभवों और अध्ययन के बल पर नव जनवाद के सिद्धांत का सूत्रीकरण किया है। यह औपनिवेशिक और अर्धऔपनिवेशिक देशों में समाजवाद की ओर बढ़ने के लिए क्रांतिकारी संघर्ष का एक नया रूप है। माओ ने सर्वहारा की तानाशाही से भिन्न नये जनवाद को विकसित किया था।''

रणदिवे ने उस नव जनवाद पर आक्रमण किया था जो आंध्र थीसिस और माओ का आधारभूमि था।

''इस बात को स्वीकार किया जाना चाहिए कि माओ के कुछ सूत्रीकरण ऐसे हैं, जिन्हें कोई भी कम्युनिस्ट पार्टी स्वीकार नहीं कर सकती।'' उन्होंने माओ के सूत्रीकरणों की प्रकृति को ''प्रतिक्रियावादी'', ''प्रतिक्रांतिकारी'' और ''भयानक'' तक कह डाला था।

रणदिवे, जो खुदी भारत में टीटो की कार्यदिशा का आयात कर रहे थे, माओ पर टीटोवादी होने का अरोप तक लगाने में हिचकिचाहट नहीं महसूस की। (बाद में टीटो के अंतरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन से बहिस्कृतकर दिया गया था।

इस तथ्य पर ध्यान देना रोचक होगा कि 1950 की शुरुआत में, कोमिंटर्न के मुखपत्र के उस संपादकीय ''टिकाऊ शांति'' के प्रकाशित होने के बाद जिसने आंध्र थीसिस को समर्थन मिल गया था, रणदिवे ने पूर्णतया पल्टी मार ली और माओ की इस प्रकार प्रशंसा करने लगे :

''भारतीय मुक्ति संघर्ष के लिए... ''चीनी क्रांति के सबक और महान नेता कामरेड माओ की शिक्षाएं एक अचूक गाइड होगी।''

अक्टूबर 1949 में चीनी क्रांति ने सफलता प्राप्त की। **आंध्र थीसिस** अप्रैल 1948 में ही सूत्रबद्ध हो चुकी थी, जब तेलंगाना के कृषकों का नेतृत्व करने के दौरान ही, आंध्र नेतृत्व ने अपने व्यवहार से यह समझ लिया था कि भारतीय क्रांति चीनी क्रांति से मेल खाती है। कोंमिटर्न ने पहली बार 1950 में घोषित किया था कि औपनिवेशिक और अर्ध औपनिवेशिक देशों में क्रांति को चीनी रास्ते का अनुसरण करना चाहिए। तब तक आंध्रा थीसिस पर वाम और दक्षिण दोनों तरफ से आक्रमण जारी था और उस तेलंगाना संघर्ष ने, जिससे यह पैदा हुई थी लगातार उपेक्षा बर्दाश्त करते हुए नेहरू की सेना से लंबी लड़ाई जारी रखी थी। इसी बीच रणदिवे पार्टी को अपनी संकीर्ण नीतियों के साथ बर्बादी की ओर ले जाते रहे थे।

रणदिवे की वामपंथी संकीर्ण (सेक्टेरियन) कार्यदिशा

रणदिवे ने मुख्य रूप से पोलित ब्यूरो के तीन दस्तावेजों में आंध्र थीसिस को खारिज किया था और अपनी वाम संकीर्णता की कार्यदिशा को प्रतिपादित किया था।

1. एकल चरणीय क्रांति :

बाद में रणदिवे ने कहा था कि उन्होंने क्रांति के दो चरणों को एक में मिल जाने का अवधारणा यूगोस्लावी पार्टी से उधार ली थी। वे इस निष्कर्ष तक पहुंच गये थे कि समाजवादी

क्रांति का जनवादी क्रांति के साथ एकमेव हो गई है, क्योंकि अब समूचा पूंजीपति वर्ग क्रांति का मुख्य शत्रु है और क्रांति के निशाने पर है।

''क्या भारतीय क्रांति की तुलना रूस की फरवरी या अक्टूबर क्रांति से की जा सकती है। एक से भी नहीं। यह मिश्रित हो गई है।''

''...यह देखा जा सकता है कि हम क्रांति के जिस चरण में है उसमें रूसी क्रांति के दोनों ही चरण आंशिक रूप से सम्मिलित हैं।''

''जनता की जनवादी क्रांति इस प्रकार समाजवादी क्रांति के साथ उन क्रांतियों के मुकाबले कहीं अधिक अंतग्रथित है, जो पहले किसी देश या दुनिया में संपन्न हुई।''

''इस प्रकार जनता की जनवादी क्रांति कोई गुणात्मक रूप से नया तत्व नहीं है। यह तीखे हो चुके विश्व अंतरविरोधों के बीच, एक विलंबित जनवादी क्रांति है, जो समाजवादी क्रांति के रूप में परिपक्व हो रही है।''

''जनता का जनवाद प्रतिनिधित्व करता है... जनवाद के लिए संघर्ष का और समाजवाद के लिए संघर्ष का जो एक एकल क्रांतिकारी संघर्ष में एकमेव हो गये हैं।''

रणदिवे ने कांग्रेस में राजनीतिक थीसिस का मसौदा पेश करते हुए यह कहा था :

''दस्तावेज में यह चारित्रिक विशेषता स्थापित की गई है कि जनवादी क्रांति के लिए संघर्ष समाजवाद के लिए संघर्ष के साथ सम्मिलित हो गया है और यह कि क्रांति के दो चरण नहीं हो सकते। यह उसी किस्म का है जैसा कि युगोस्लाविया में देखा गया।''

आर.पी. दत्त के अनुसार ये डांगे थे, जिन्होंने भारत में इस टीटोवादी सूत्रीकरण का आयात किया था। रणदिवे ने व्यवहार में समाजवादी क्रांति की रणनीति और रणकौशल को लागू किया था।

2. रणदिवे द्वारा भारतीय क्रांति की रणनीति की रूपरेखा इस प्रकार प्रस्तुत की गई थी

''वह रणनीति क्या है जो हमने क्रांति के हमारे चरण के लिए निरूपित की है? वह संक्षेप में उस जनवादी मोर्चे के नारे में निहित है जिसे पूंजीवादी–सामंतवादी–साम्राज्यवादी गठजोड़ के विरुद्ध मजदूर वर्ग, किसानों और उत्पीड़ित मध्य वर्ग के संश्रय के रूप में परिभाषित किया गया है।''

''सर्वहारा को, बुर्जुआ वर्ग को अलगाव में डालने के लिए इसके प्रतिरोध को पूरी ताकत के साथ कुचलने के लिए, खुद को खेतिहर मजदूरों और गरीब किसानों के साथ जोड़ते हुए मध्यम किसान जिनका अनुसरण करेगा, जनता की जनवादी क्रांति को संपन्न करना होगा।''

आंध्र मसौदे के विपरीत इसने तीन वर्गों के संश्रय को प्रस्तावित किया था, जो मझोले पूंजीपतियों ओर धनी किसानों, दोनों को ही क्रांति के शत्रु के रूप में चिन्हित करता था।

वे समूचे बुर्जुआ वर्ग को, बिना किसी ऐसे विभेदन के, जो क्रांति के वर्तमान चरण में, मजदूर वर्ग की रणनीति के प्रभावित कर सकता हो, एक संपूर्ण इकाई के रूप में देखते थे। इस तरह से वे धनी किसान को भी प्रतिक्रांतिकारी ही मानते थे।

''क्रांति की मुख्य शक्ति : सर्वहारा, ठीक पीछे सुरक्षित सेना : खेतिहर मजदूर, गरीब किसान, मझोले किसान (शहरों में, निम्न बुर्जुआ के उत्पीड़ित तबके भी)।''

3. रणदिवे ने अपनी रणनीति और रण कौशल के अंतर्गत शासक पूंजीपति वर्ग के संबंध में राजनीतिक थीसिस के आकलन को संशोधित कर दिया था और इसका कनिष्ठ साझीदार के रूप में सूत्रीकरण के विपरीत सक्रिय साझीदार के रूप में चरित्रीकरण किया था।

''भारतीय पूंजीपति वर्ग, पूंजीपति–सामंत–साम्राज्यवादी गठजोड़ में सर्वाधिक लड़ाका सक्रिय साझीदार है। जनता से संबंध के मामलो में यह तीनों में सबसे मजबूत है–आज–भारतीय पूंजीपति इस गठजोड़ के नेतृत्वकारी सदस्य के रूप में सामने आया है– क्रांति के लिए लड़ाई का अर्थ कांग्रेस सरकार को उखाड़ फेंकने की लड़ाई है। यह इसलिए कि कांग्रेस सरकार और पूंजीपति कठपुतली मात्र नहीं है बल्कि, वास्तव में ये गठजोड़ के सक्रिय सदस्य और नेतृत्वकारी ताकत हैं।''

''ध्यान देने की बात यह है कि पूंजीपति ने अपनी स्थिति बेहतर बना ली है। इसने राज्य पर सीधा नियंत्रण स्थापित कर लिया है और शोषण के लिए अबाध स्वतंत्रता हासिल कर ली है जिसने इसे राज्य का क्रूर संरक्षक और साम्राज्यवाद का सहयोगी बना दिया है।''

''इससे यह तार्किक नतीजा निकलता है कि केवल बड़ी पूंजी ही नहीं वरन समूचा पूंजीपति वर्ग ही नये राज्य–शत्रु सहयोगी राज्य का संरक्षण करने में अपना हित देखने लगा है।''

उपरोक्त सूत्रीकरण का वास्तविक महत्व रणदिवे द्वारा की गई इसकी व्याख्या में दिखाई देता है। जैसा कि बाद में उन्होंने खुद स्वीकार किया था कि उन्होंने यह निष्कर्ष निकाल लिया था कि भारतीय पूंजीपति वर्ग मुख्य दुश्मन है और साम्राज्यवाद तथा सामंतवाद दोनों की ही अनदेखी कर दी थी। और इस प्रकार अपनी संकीर्ण वामदिशा दृष्टिकोण के दरअसल यह मान लेने की आत्मविरोधी अवस्थिति पर जा पहुंचे थे कि पूंजीपति वर्ग ने वास्तविक स्वतंत्रता हासिल कर ली है और इस प्रकार वह क्रांति का एकमात्र अथवा सर्वाधिक महत्वपूर्ण निशाना बन गया है। इस समझ के साथ उन्होंने पूंजीपति के विरुद्ध अर्थात समाजवादी क्रांति की रणनीति और रणकौशल की कार्यदिशा का एकसूत्री निष्पादन करने लगे थे, और इस प्रक्रिया में उन्होंने पाया कि आंध्र मसौदे की धनी किसान और मझोले पूंजीपति के संबंध में तटस्थीकरण की नीति वर्ग सहयोग के अलावा और कुछ नहीं है।

4. अपने भारत में कृषिकीय प्रश्न के बारे में वे तर्क करते हैं कि खेतिहर मजदूरों की संख्या में वृद्धि और ग्रामीण क्षेत्रों में पूंजीवादी संबंधों के उल्लेखनीय विकास की वजह से, **''भूमि के राष्ट्रीयकरण और जमीन जोतने वालों को''** का नारा हमारा केंद्रीय नारा होना चाहिए।

''भूमि का राष्ट्रीयकरण– साथ ही जोतने वालों को किसानी के लिए जमीन का आवंटन– जमींदारी के खात्मे के साथ ही हमारे नारे होने चाहिए।''

''चूंकि ग्रामीण जनसंख्या के मूल उत्पादक जन, जिन पर हम भरोसा करते हैं... खेतिहर मजदूर और गरीब किसानों की भूमि का निजी स्वामित्व की वजह से, तेजी से हरण हो चुका है या हो रहा है। ठीक यही मझोले किसानों के साथ भी घट रहा है गो कि वे हताशा के साथ छोटी जोत के मालिक होने के भ्रम से चिमटे हुए हैं और अपनी छोटी संपत्ति के भरोसे बेहतर दुनिया का सपना देखते हैं।

''वह (धनी किसान) ग्रामीण क्षेत्रों में हमारा मुख्य शत्रु है, वास्तव में प्रतिक्रांति के भाले की नोक है।''

5. भारत में दीर्घकालीन लोकयुद्ध को क्रांति के रूप में खारिज करते हुए, रणदिवे ने यांत्रिक रूप से रूसी पथ का अनुसरण करने का प्रयास किया था। इससे बढ़कर उनका क्रांतिकारी स्थिति का आकलन करने के दौरान वासतविक साथ कोई नाता नहीं रह जाता। झूठी आजादी और नेहरू सरकार के बारे में जनता में फैले हुए भ्रम का बारंबार उल्लेख करने के बावजूद, रणदिवे दरअसल क्रांतिकारी ताकतों के मुकाबले में, शासक वर्गों की ताकत और स्थायित्व को कम करके आंकते हैं। इससे बढ़कर वे क्रांतिकारी ताकतों की मनोगत मजबूती

की और जनविद्रोह खड़ा करने के लिए जनता को तथा अग्रगामियों को राजनीतिक और सांगठनिक दोनों ही पहलू से तैयार करने का कठिन काम हाथ में लेने की उपेक्षा कर जाते हैं। वे स्थिति को इतना विस्फोटक मान बैठते हैं कि बड़ी हड़तालों और आम हड़तालें एक आम उभार में बदल जायेगी और आम बगावत की निर्णायक सफलता तक पहुंच जायेगी। निश्चय ही तेलंगाना जैसे सशस्त्र किसान विद्रोह मजदूर वर्ग की क्रांतिकारी कार्रवाइयों का पूरक बनेगी। कांग्रेस के बाद रणदिवे ने एक परिपत्र जारी किया था कि देश में छः महीनों के भीतर एक सामान्य जनउभार सामने आयेगा।

''संघर्ष के रूप हमारे रणनीतिक उद्देश्य और क्रांतिकारी दौर, दोनों से ही निर्धारित होते हैं। पूंजीपति वर्ग को उखाड़ फेंकने का उद्देश्य, क्रांतिकारी समय और तेज गति से आगे बढ़ती क्रांतिकारी घटनाओं के साथ मिलकर हमारे सामने संघर्ष के जुझारू और क्रांतिकारी रूपों और संगठनों को दरपेश करते हैं। अतः हड़तालें, किसान संघर्ष, आम हड़लातें, राजनीतिक हड़तालें उनकी संघर्ष के उच्चतर रूपों में और एक आम जनांदोलन में परिणति. .. ऐसे हैं संघर्ष के वे रूप जो स्थितियों से जन्म लेते हैं।''

वर्तमान अवधि के आंशिक संघर्ष, इसलिए विस्तृत जनसंघर्षों, लघु गृहयुद्धों में बदल जाते हैं, और जब हम उनको काफी बड़े स्तर पर संगठित करते हैं तो वे आसानी से एक राजनीतिक मुठभेड़ों में विकसित हो जाते हैं और राज्य के भ्रूण रूपों का उच्छेद कर डालते हैं (तेलंगाना)– ऐसी है परिस्थिति की तार्किकता। कोई भी चीनी दीवार दोनों को विभाजित नहीं कर सकती उस तरह से जैसे कि इसने दृढ़ीकरण की अवधि में किया था।

6. उन्होंने प्रकट कर दिया था कि 'तेलंगाना का रास्ता हमारा रासता' से उनका वास्तविक मंतव्य क्या था।

''पूरे देश में तेलंगाना का अर्थ है सरकार के विरुद्ध जनता का सशस्त्र विद्रोह।''

आंध्रा थीसिस को और कुछ नहीं, बस जोशी के सुधारवाद की पुनरावृत्ति करार देकर, रणदिवे पार्टी को अपनी वाम संकीर्णता और दुस्साहसिकतावादी राजनीतिक और रणकौशलात्मक कार्यदिशा विनाशकारी प्रक्रिया की ओर अग्रसर कर दिया।

रणदिवे की कार्यदिशा व्यवहार में

कांग्रेस के संपन्न होने के तुरंत बाद से ही, पार्टी को अनेक राज्यों में भीषण दमन झेलना पड़ा था। रणदिवे की कार्यदिशा के व्यवहार में उतरने से पहले ही नेहरू सरकार ने कम्युनिस्टों पर हमला शुरू कर दिया। मार्च–अप्रैल में कई राज्यों में कम्युनिस्ट पार्टी प्रतिबंधित कर दी गई और कम्युनिस्ट कार्यालयों पर छापे डाले गए और तलाशी ली गई। नेहरू सरकार ने व्यापक समन्वय के साथ समूचे देश में आक्रमण करना जारी रखा था। अनेक नेताओं को कारागार में डाल दिया गया। पार्टी नेतृत्व के लिए अनपेक्षित इन आक्रमणों की वजह से निचले स्तर की पार्टी इकाईयों में विभ्रम की स्थिति उत्पन्न हो गई थी और वे छिन्न–भिन्न हो गई थीं। बंगाल, केरल और आंध्र में पार्टी की पत्रिकाओं को भी प्रतिबंधित कर दिया गया था। नेहरू ने खुलेआम इन आक्रमणों का बचाव किया था।

कुछ महीनों के भीतर ही, पार्टी का उच्च नेतृत्व गिरफ्तार कर लिया गया था। (डांगे, ज्योति बसु, मुजफ्फर अहमद, मिराजकर, सोहन सिंह जोशी, भारद्वाज, दिनकर मेहता, अजय घोष, सरदेसाई, रमेश चंद्र, एस.वी. घाटे, एस.एस. युसूफ एवं अन्य)। बंगाल, मैसूर, इंदौर, भोपाल, चंद्र नगर, मद्रास, हैदराबाद, त्रावनकोर और कोचीन में पार्टी को प्रतिबंधित कर दिया

गया था। बांबे को छोड़कर, वस्तुतः उन सभी जगहों पर पार्टी को प्रतिबंधित कर दिया गया था, जहां भी उसकी मौजूदगी थी।

काफी प्रतिबंधों के साथ ही किसी पार्टी मुख्यालय को संचालन की अनुमति दी गई थी। उन्होंने बांबे में जन युग के प्रकाशन की अनुमति थी, परंतु सभी राज्यों में इस पर प्रतिबंध लगा दिया गया था। बाद में चलकर, जिस दौरान नेहरू की सेना तेलंगाना में कहर ढा रही थी, बांबे में इस पत्रिका के प्रकाशान की अनुमति का उदाहरण देते हुए आर.पी.दत्त ने टिप्पणी की थी :

''वास्तव में भारतीय कम्युनिस्ट नहीं जानते कि श्वेत आतंक क्या होता है।''

युद्ध के बाद की अवधि में यह देखते हुए कि ट्रेड यूनियन के मोर्चे पर समाजवादियों को प्रभाव को तथा हड़ताल तोड़क के रूप में इंटक की भूमिका को देखते हुए, मजदूर वर्ग में पार्टी का प्रभाव वस्तुतः सोचनीय हद तक घट गया था और मजदूर की वर्गीय एकता काफी कमजोर पड़ गई थी।

सोशललिस्ट–कम्युनिस्ट दरार युद्ध के बाद की अवधि में और भी चौड़ी हो गयी थी क्योंकि समाजवादी खेमा पश्चिम के सामाजिक जनवादियों के दक्षिण पक्ष की ओर झुकता जा रहा था। वे सोवियत यूनियन पर सर्वसत्तात्मक होने का ओराप लगाते हुए, इसके विश्वासघातियों के भोंपू दल के साथ शामिल हो गये थे। यद्यपि कि अब भी रोज–रोज के मामले में और अन्य आंशिक मांगों के संबंध में संयुक्त कार्रवाइयों की संभावना बची हुई थी, परंतु समाजवाद की तरफ संवैधानिक सुधारों के रास्ते पर उनके चिपके रहने और खुद को संसदीय विपक्ष की भूमिका तक सीमित रखने उनके रवैये की वजह से विभाजन और तीखा होता चला जा रहा था। इसलिए सीपीआई को बढ़ते आर्थिक संकट के सम्मुख मजदूर वर्ग के रोज–रोज के संघर्षों में लड़ाई के लिए ट्रेड यूनियन की एकता कायम करने के लिए प्रयास करना था तो उसी के साथ सुधारवाद से लड़ते और बिखराव को रोकते हुए अपना आधार भी बढ़ाते रहना था।

निःसंदेह सीपीआई ने कई राज्यों में विशेष रूप से तेलंगाना, आंध्रा, केरल और बंगाल तथा कुछ अन्य प्रांतों में पुनः उठ खड़ी हुई थी और प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी, परंतु मजदूर वर्ग के जुझारू संघर्षों के और अपनी सभी महत्वपूर्ण हड़तालों के जरिए एवं देशव्यापी जनविद्रोह पैदा कर सकने से अभी भी काफी दूर थी।

अगस्त में रणदिवे ने पार्टी के एक पत्र में कहा था कि छः महीनों के भीतर एक देशव्यापी जनविद्रोह उठ खड़ा होगा। रणदिवे ने 9 मार्च 1949 को उतावलेपन में अखिल भारतीय रेलवे हड़ताल का आह्वान किया था ''एक क्रांतिकारी स्थिति के निकट आ पहुंचने की कल्पना करते हुए। उन्होंने ठंडे दिमाग से श्वेत आतंक को आकलन करने के या समाजवादी नेताओं में रेलवे मजदूरों के मोहभंग के... अखिल भारतीय रेलवे मेंस फेडरेशन (रेलकर्मी संघ) में उनकी सांगठनिक निष्ठा के और पार्टी संगठनों की जर्जर हालत आदि के बारे में सोचने की जहमत नहीं उठाई।''

कम्युनिस्ट पार्टी हड़बड़ाहट के साथ देशव्यापी रेलवे हड़ताल के लिए तैयारी की थी। यह ए.आई.आर.एफ. (अखिल भारतीय रेलवे फेडरेशन) के जरिए देशव्यापी हड़ताल की तैयारी कर रही थी। लेकिन ए.आई.आर.एफ. के अध्यक्ष जय प्रकाश नारायण, जो रेल कर्मियों के बीच सबसे प्रभावशाली नेताओं में से एक थे, सरकार के साथ एक समझौते पर पहुंच गए थे, और उन्होंने हड़ताल वापस ले ली। इससे विचलित न होते हुए रणदिवे की कार्यदिशा को लागू करते हुए कम्युनिस्टों ने हताशा के साथ हड़ताल की कोशिश की। हड़ताल का अंत, जो उस समय मजदूरों की मनःस्थिति के बिल्कुल भी अनुरूप नहीं थी, पूर्ण असफलता में

हुआ। दूसरे क्षेत्रों में भी मनोगत इच्छाओं के वशीभूत हड़तालों का आह्वान किया जाना जारी था। सभी गैरकम्युनिस्ट, सी.पी.आई. के नेतृत्व के अधीन संचालित ए.आई.आर.टी.आई.सी. (ऐटक) को छोड़ गये थे।

9 मार्च 1949 की रेलवे हड़ताल से शुरू करके, पार्टी ने हठधर्मिता के साथ, देशव्यापी हड़ताल और व्यापक जन उभार के लिए प्रयास करती रही। सभी प्रयास, जिनमें रेल हड़ताल भी शामिल थी, असफल हो गये। भारी संख्या में गिरफ्तारियां हुई। 11 मई तक 25,000 लोग पकड़े जा चुके थे। 50,000 लोगों पर मुकदमा किया गया था। समूचा पार्टी संगठन क्षतिग्रस्त हो गया था। सक्रिय कार्यकर्ता जेलों में थे।

जिस समय ऐटक (ए.आई.टी.सी.) और पार्टी की जमीन सरक रही थी, उसी समय पोलित ब्यूरो ने निर्णय दिया ''पार्टी और एटक के नेतृत्व में मजदूर वर्ग की ताकत, पूंजीपतियों और पूंजीवादी कांग्रेस पार्टी के मुकाबले काफी अधिक है।''

कांग्रेस पार्टी और सुधारवादियों को ''मजदूर वर्ग के दुश्मन और पूंजीवाद के मित्र के रूप में पूरी तरह अलगाव में डाल दिया गया है।''

''इस प्रकार पूंजीपतियों और उनकी सरकार पर अखिल भारतीय आक्रमण की स्थिति तैयार हो चुकी है।''

इस दुस्साहसवादी कार्यदिशा को आम हड़ताल और जन उभार के जरिए लागू करने का प्रयास कहीं भी नजर नहीं आ रहा था। क्रांति छोटे–छोटे समूहों द्वारा की जाने वाली हिंसक कार्रवाइयों के स्तर तक उतर आई थी। अगर हम इस बात का ध्यान रखें कि दूसरी कांग्रेस के समय सी.पी.आई. का संगठन देशव्यापी एक देशव्यापी जनउभार पैदा कर सकने में सक्षम संगठन बिल्कुल भी नहीं था तो हम यह समझ सकते हैं कि या यह कार्यदिशा इतने दयनीय ढंग से कयों असफल सिद्ध हुईं रणदिवे ने सिर्फ जबानी कहा था कि तेलंगाना के रास्ते का अनुसरण करना चाहिए परंतु उन्होंने उन दशाओं पर विचार नहीं किया जो इस प्रकार के संघर्ष के विकसित करने में सहायक होतीं और न ही इस उद्देश्य हेतु संगठन निर्मित करने के प्रयास करने पर ध्यान दिया। तेलंगाना अकेला ही रहा। हर जगह तेलंगाना तैयार नहीं किया जा सका।

यद्यपि की रणदिवे ने पीडीआर (जनता की जनवादी क्रांति) के नाम से एक भारी भरकम दस्तावेज प्रस्तुत किया था परंतु दरअसल यह मुख्यतः आंध्र थीसिस का खंडन ही करता था। किसी विधिवत स्पष्ट परिभाषित रणनीति के अभाव की वजह से विभिन्न राज्यों और क्षेत्रों में पार्टी को संकीर्ण वाम कार्यदिशा और रणदिवे द्वारा गये आह्वान को लागू करने के लिए, खुद ही अपनी रणनीति तैयार करनी पड़ती थी। इस प्रकार असफलता और राज्य के दमन से सामना होने पर रणदिवे द्वारा किया गया आम बगावत का आह्वान व्यक्तिगत हिंसक कार्यवाइयों तक अधोगति को प्राप्त हो गया था। कानूनी पार्टी संगठन नेहरू सरकार द्वारा छेड़े गए फासीवादी दमन के नीचे आकर बिखर गया।

कानूनवाद और अर्थवाद के रूप में रणदिवे का अवसरवाद ट्रेड यूनियन के मोर्चे पर काफी अधिक हावी था। ट्रेड यूनियन मोर्चे के नेतृत्व का एक बड़ा हिस्सा सुधारवादी कार्यदिशा का दृढ़ हिमायती था। कुल मिलाकर संगठन पूरी तरह कानूनी था और किसी तरह के भी गैर कानूनी ढांचे का कोई भी जिक्र मौजूद नहीं था। न केवल ट्रेड यूनियन मोर्चा, अपितु सारी ही सांगठनिक स्थिति इतनी दुर्गति की शिकार थी कि सिद्धांतों और कड़ी गोपनीयता के आधार पर एक संपूर्ण पुनर्गठन की आवश्यकता थी। परंतु रणदिवे ने संगठन की स्थिति को कोई परवाह नहीं की और इसे सरकार के भीषण दमन के लिए खुला छोड़ दिया।

नेहरू ने कम्युनिस्टों के ''हत्या, लूट, आगजनी और अराजक कार्यवाइयों'' की कड़ी निंदा की। उन्होंने आरोप लगाया कि कम्युनिस्ट रेलवे को बाधित करके देश में अकाल पैदा करने का षडयंत्र रच रहे हैं।

रणदिवे की कार्यदिशा को लागू करने के दौरान 1948–50 के बीच पार्टी को भारी नुकसान उठाना पड़ा था। समूचा पार्टी संगठन और साथ ही जन संगठन बुरी तरह क्षतिग्रस्त हो गये थे। पार्टी की सदस्यता 1,00,000 से घटकर 20,000 मात्र रह गई थी और ऐटक की सदस्यता 8,00,000 से घटकर 1,00,000 मात्र रह गई थी। बांबे के 2,40,000 कपड़ा मजूरों ने, जिनके लिए सीपीआई तब तक निर्विवाद नेता थी, 1950 में, सीपीआई के आह्वान की अवहेलना करते हुए समाजवादियों के नेतृत्व में हड़ताल की थी।

रणदिवे सांगठनिक रूप से भी निहायत ही संकीर्ण और गैरजनवादी तरीकों को अमल में लाते थे। जो कोई भी उनसे मतदभेद रखता था, उसे ''दक्षिणपंथी'' और ''सुधारवादी'' घोषित कर दिया जाता था। दो को छोड़ कर शेष सभी केंद्रीय कमेटी के सदस्यों पर किसी न किसी समय सुधारवादी, गद्दार या असमर्थ होने का आरोप लगाया गया था। वे हर एक को अनुशासनिक कार्रवाई की धमकी दिया करते थे। वे अपनी इच्छानुसार निजी सचिवों को हटा या बदल दिया करते थे। उन्होंने कभी भी केंद्रीय कमेटी की बैठक बुलाने का प्रयत्न नहीं किया। रणदिवे अपने सभी निर्णय पोलित ब्यूरो के एक या दो विश्वस्त सदस्यों के साथ ही ले लिया करते थे।

रणदिवे की कार्यदिशा को भारी विरोध का सामना करना पड़ा था। अजय घोष एवं अन्य दक्षिणपंथी जेल से लड़ाई छेड़े हुए थे। रणदिवे ने अजय घोष को निष्कासन की धमकी दी। दूसरी तरफ से निष्कासित पी.सी.जोशी भी आक्रमण कर रहे थे। यद्यपि पी.सी. जोशी भूगिमत नहीं थे, परंतु उन्हें गिरफ्तार नहीं किया गया था। बाद के समय में सरकार ने यह आवश्यक समझा था कि तेलंगाना कार्यदिशा पर खुले आक्रमण के लिए पी.सी.जोशी और ''पार्टी मुख्यालय'' को खुले तौर पर कार्य करने की अनुमति देना आवश्यक है। सरकार तो यह भी उम्मीद कर रही थी कि, जब डांगे ने, जिस दौरान उनके समर्थक जी.के.यू. से निष्कासित कि ये जा रहे थे, रणदिवे पर 'त्रात्स्कीवादी' होने का आरोप लगाते हुए खुले रूप से पर्चा बाटा था और आक्रमण किया था, तब पी.सी.जोशी, उस दौरान जब पार्टी जून पी. सी.जोशी के नेतृत्व के अधीन थी, असंतुष्ट डांगे के साथ गोलबंद होते हुए, पार्टी में विभाजन करा देंगे।

रणदिवे और उनकी दुस्साहसवादी कार्यदिशा चारों ओर से ही विद्रोहाग्नि से घिरी हुई थी। यद्यपि वे अपनी कार्यदिशा को गले उतारने के लिए जड़सूत्रवादिता के साथ अड़े हुए थे, परंतु जब भारत के लिए कोंमिटर्न ने आंध्र थीसिस और चीनी रास्ते को प्रमाणित कर दिया तब उन्हें पीछे हट जाना पड़ा था। दूसरी कांग्रेस के बाद पहली बार मई–जून 1950 में केंद्रीय कमेटी की बैठक हुई और कमेटी का पुनर्गठन किया गया। चंद्रा राजेश्वर राव को, जो उस समय आंध्र इकाई के सचिव थे, जो तब तक पार्टी का हृदय हो चुकी थी, केंद्रीय कमेटी का सामान्य सचिव चुन लिया ग्या था। जून की केंद्रीय कमेटी ने उस आंध्र थीसिस के सार– नव जनवादी क्रांति की कार्यदिशा को स्वीकार कर लिया था, जो गौरवशाली तेलंगाना सशस्त्र संघर्ष द्वारा सामने लाई गई थी।

संक्षिप्त सारांश

जोशी की दक्षिणपंथी शत्रु सहयोगी कार्यदिशा के विरुद्ध व्यापक असंतोष ने अंततः पार्टी के नेतृत्व में परिवर्तन को जन्म दिया। रणदिवे पार्टी के सामान्य सचिव निर्वाचित हुए। वे पार्टी को वामपंथी संकीर्ण दुस्साहसवादी कार्यदिशा की ओर ले गये।

1948 में आयोजित पार्टी की दूसरी कांग्रेस, यद्यपि संशोधनवादी जोशीवाद का खंडन करने में कामयाब सिद्ध हुई थी, परंतु यह एक क्रांतिकारी कार्यदिशा को सूत्रबद्ध करने में नाकाम रही थी। यहां तक कि यह उस समय तेलंगाना के बहादुराना सशस्त्र किसान संघर्ष से उभरक सामने आने वाली भारत की क्रांतिकारी कार्यदिशा को पहचानने में भी नाकाम रही। यह उस कानूनीवादी और अर्थवादी बीमारी को पहचानने में, जिसने समूचे पार्टी संगठन को जकड़ रखा था और इस प्रकार क्रांति का नेतृत्व करने में सक्षम वास्तविक क्रांतिकारी पार्टी संगठन के पुनर्गठन की प्रक्रिया तैयार करने में भी नाकामयाब रही थी।

यद्यपि रणदिवे ने भारत की आजादी के भ्रम की और कांग्रेस को प्रतिक्रियावादी चरित्र को ठीक से पहचान लिया था, परंतु वे एक, एकल चरण वाली क्रांति को, जो एक ऐसी क्रांति होनी थी जिसमें जनवादी और समाजवादी क्रांति के चरण परस्पर गुंथित हो गये थे, लागू करने का प्रयास करते रहे। वे देहातों में किसान विद्रोह और शहरों में सशस्त्र बगावत को आपस में मिलाते हुए क्रांति को चरितार्थ करने के आकांक्षा पाले हुए थे। उन्होंने नवजनवादी क्रांतिअ और धनी किसान तथा मध्यम (राष्ट्रीय) पूंजीपति के साथ संयुक्त मोर्चे को संशोधनवाद और वर्ग सहयोग के रूप में लांक्षित कर दिया था।

आंध्र नेतृत्व ने, जो तेलंगाना के सशस्त्र किसान संघर्ष का नेतृत्व कर रही थी, रणदिवे की वाम (संकीर्ण) सांप्रदायवादी कार्यदिशा के विरुद्ध लड़ाई जारी रखी थी। आंध्र सचिवालय ने तेलंगाना संघर्ष के दौरान प्राप्त अनुभवों के आधार पर एक वैकल्पिक कार्यदिशा सूत्रबद्ध की थी। कुछ कमजोरियों के बावजूद आंध्र थीसिस ने पहली बार नव जनवादी क्रांतिकारी कार्यदिशा और दीर्घकालीन लोकयुद्ध के पथ को भारत में लागू करने का प्रयास किया था। दक्षिणपंथी अवसरवादी की भांति, रणदिवे का वाम अवसरवाद भी इस तथ्य को समझने में असमर्थ सिद्ध हुआ था कि भारत में क्रांति चीनी क्रांति के रास्ते का अनुसरण करेगी। इस प्रकार रणदिवे तेलंगाना पथ, आंध्र के नेतृत्व और माओ पर चौतरफा आक्रमण छेड़ दिया था।

1948–50 के दौरान, जब रणदिवे की कार्यदिशा का पालन किया जा रहा था, पार्टी को गंभीर नुकसान उठाने पड़े थे। यद्यपि कि पार्टी के पास देशव्यापी आम विद्रोह खड़ा कर सकने के लिए पर्याप्त संख्यात्मक ताकत मौजूद थी और न ही संगठनात्मक सामर्थ्य, रणदिवे अपने मनोगत आकलन और आकांक्षा के लिए पार्टी को इसी दिशा में ले जा रहे थे। कानूनी पार्टी संगठन और जन संगठन, नेहरू के देशव्यापी कम्युनिस्ट विरोधी सफाया अभियान के शिकार हो गये। रणदिवे की कार्यदिशा ने उनके संकीर्ण सांगठनिक तौर तरीकों के साथ संयुक्त हो कर व्यवहार में पार्टी को गंभीर गतिरोध में डाल दिया।

अपनी दिसंबर 1950 की बैठक में केंद्रीय कमेटी ने आंध्र दस्तावेज को अंगीकार किया और राजेश्वर राव को अपना सचिव चुन लिया।

****

केंद्रीय कमेटी की जून बैठक ने, राजेश्वर राव के नेतृत्व में आंध्र थीसिस को स्वीकार कर लिया था। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास में पहली बार सही तरीके से इसे

पहचाना गया था कि भारत में क्रांति, एक भिन्न रास्ता अख्तियार करेगी, जैसा कि चीन में हुआ था। आंध्र थीसिस की प्रमुख अभिधारणाएं उस गौरवशाली सशस्त्र किसान संघर्ष से निःसृत हुए थे, जो सामंतवाद और निजाम के निरंकुश शासन के विरुद्ध संघर्ष के रूप में विकसित हुआ था और जो जनता की सत्ता की स्थापना के लिए नेहरू सरकार की सेना से लड़ाई में जारी रहा था।

तेलंगाना का गौरवशाली सशस्त्र किसान संघर्ष

निजाम का सामंती राज्य एक बड़ा राज्य का जो तेलेगू, मराठी और कन्नड़ भाषी क्षेत्र समाहित थे। इस राज्य के आठ तेलेगूभाषी जिलों को मिलाकर बना क्षेत्र तेलंगाना कहलाता था। निजाम के राज्य में सामंती उत्पीड़न और शोषण काफी तीखा था। किसान वर्ग एवं अन्य जन, उन जागीरदारों, देशमुखों, देशपांडेयों जैसे बड़े भूस्वामियों के निर्दय कठोर दमन के नीचे पिसे हुए थे, जो हजारों और लाखों एकड़ भूमि के मालिक थे। इन भूस्वामियों का, जिनमें से कइयों के पास अपनी निजी सेनाएं मौजूद थी, ग्रामीण जीवन पर इसके सभी पहलुओं में, पूर्ण आधिपत्य था। वेट्टी– जो एक सामंती बेगारी थी, किसी न किसी रूप में हर जगह चलन में थी जिससे ब्राह्मण तक भी मुक्त नहीं थे।

चूंकि निजाम स्वयं मुस्लिम था, इसलिए सरकार के और अदालतों के सारे ही कामकाज, उर्दू भाषा में संचालित होते थे। लोगों की बहुसंख्या तेलेगूभाषी थी, परंतु वे अपनी मातृभाषा में शिक्षा से वंचित थे। निजामशाही तेलेगू भाषा और तेलेगूभाषियों के सांस्कृतिक विकास पर कड़ा नियंत्रण था। तेलेगू पुस्तकालय सांस्कृतिक संस्था की स्थापना तक के लिए निजाम की अनुमति आवश्यक थी।

राष्ट्रीय आंदोलन ने जो समूचे देश में उफान पर था, इस राज्य पर भी अपना प्रभाव डाला था और इससे उदार तथा जनवादी विचारों का प्रसार हो रहा था। शुरू में कांग्रेस राज्यतंत्रीय प्रांतों में न केवल अपनी ईकाई गठित करने में ही, बल्कि यह कहते हुए कि उन राज्यों के शासक भारतीय है, किसी प्रकार का आंदोलन खड़ा करने के भी खिलाफ थी। भूस्वामियों की प्रतिनिधि होने के नाते, कांग्रेस सामंती शक्तियों के विरुद्ध आंदोलन का हमेशा ही विरोध करती थी। अतः आंध्र महासभा का गठन मदपति हनुमंत राव अन्या ने कांग्रेस से स्वतंत्र रूप से किया था। आंध्र महासभा ने एक उदार बुर्जुआ संगठन के रूप में अपनी शुरुआत की थी और इसने तेलेगू भाषा तथा सांस्कृति के विकास और इसने तेलेगू भाषा तथा संस्कृति के विकास और तेलेगू भाषा में शिक्षा के अवसर की मांगे पेश की थी।

कम्युनिस्ट पार्टी ने तेलंगाना में अपना कार्य 1930 के अंत में प्रारंभ किया था। शुरुआत में कम्युनिस्टों ने साक्षरता के प्रसार, शिक्षा, पुस्तकालय आंदोलन आदि में भाग लेते रहे थे। शीघ्र ही देहाती इलाकों में होने वाले क्रूर दमन और शोषण ने इन्हें सामंत विरोध संघर्षों में खींच लिया। पहले उन्होंने किसानों को आंदोलन और मजबूत एकता में बांधने के लिए किसान संघों के गठन का प्रयास किया था और महासभा को दक्षिणपंथी संगठन मानते हुए, कांग्रेस में काम करते रहे थे। परंतु कम्यूनिस्टों पर प्रतिबंध लगा दिये जाने की वजह से वे सभा में शामिल हो गये थे। उस समय तक कई महत्वपूर्ण नेता और कार्यकर्ता कम्यूनिस्ट हो गये थे और इस तरह से सभा पर कम्युनिस्टों का प्रभाव उजागर होने लगा था। कम्यूनिस्टों ने सभा को किसानों के प्रश्नों पर सोचने को बाध्य किया। इसके साथ ही पार्टी ने जन चरित्र प्राप्त कर लिया था और संगम के रूप में सभा हजारों गांवों में फैल गई थी।

जैसे–जैसे संगम आंध्र महासभा सामंतवाद विरोधी मंच और संयुक्त मोर्चे में बदलती जा रही थी, किसान इसके सामने अपनी भूमि पर जबरिया कब्जे, बेदखली, भारी लगान,

बेगारी आदि समस्याओं को लेकर आने लगे थे। बेदखली की समस्या काफी तीखी हो गई थी क्योंकि बड़े पैमाने पर, किसानों से वह जमीन खाली कराई जा रही थी, जिस पर वे पीढ़ियों से खेती करते चले आ रहे थे। चूंकि कम्युनिस्टों के नेतृत्व के अधीन संगम सामंतवाद विरोधी संघर्ष के संगठन के रूप में बदलता चला गया था, कम्यूनिस्ट पार्टी ने खुद को व्यापक किसान जनता के नायक के रूप में स्थापित कर लिया था। इसके परिणामस्वरूप सभा में, कम्युनिस्टों और अन्य ताकतों का प्रभाव अधिक गहरा हो गया था। 1942 से कम्युनिस्ट पार्टी को कानूनी रूप से काम करने का अवसर प्राप्त हो गया था और दृढ़ निश्चय के साथ कम्युनिस्ट कार्यकर्ता बलिदान देते हुए, संगम की गतिविधियों को ग्रामीण तेलंगाना के विशाल विस्तार में फैलते चले गये थे। ऐस उस अवधि में हो रहा था, जब सी.पी.आई. जनयुद्ध की रणनीति के नाम पर चलने वाले किसी भी संघर्ष का विरोध करती थी; तेलंगाना के कम्युनिस्टों ने, वेट्टी (बेगारी) का उन्मूलन, बेदखली और लगान में कमी जैसे मुद्दों पर, जुझारू संघर्षों को छेड़ दिया था और किसान जनता के नेता के रूप में उभर कर सामने आ रहे थे कि इस रूप में जन संघर्षों को खड़ा करना गलत था, क्योंकि ये जनयुद्ध की रणनीति के विरुद्ध था, पूरी आंध्र पार्टी ने एक हो कर, इस अवधि में, किसानों के बड़े पैमाने पर संघर्षों में उतारने पर अपना ध्यान केंद्रित कर रखा था।

आंध्र महासभा में कम्युनिस्ट एवं अन्य वामपंथियों का बढ़ता प्रभाव और सामंत विरोधी संघर्षों के संचालन के लिए इसका किसान संगठन के बदलते चले जाना, स्वाभाविक रूप से इसमें मौजूद दक्षिणपंथी ताकतों को पचने वाला नहीं था। 1944 तक कम्युनिस्टों ने, मुख्य रूप से इसे सामंतवाद विरोधी संघर्षों के संचालन के लिए एक मंच के रूप में बदल देने में प्राप्त सफलता की वजह से, सभा के ऊपर अपना नेतृत्व स्थापित कर लिया था। विशाल किसान जनता के नेतृत्व के रूप में उभरने की प्रक्रिया में कम्युनिस्ट पार्टी निजाम विरोधी संघर्षों के नेता के रूप में भी उभर आई थी। आंध्र महासभा भी, जिसने एक उदारवादी संगठन के रूप में काम करना प्रारंभ किया था, निजाम और सामंतों के विरुद्ध एक व्यापक संयुक्त मोर्चे में रूपांतरित हो रही थी। 1944 में दक्षिणपंथी ताकतें सभा से बाहर चली गईं। उस समय तक कम्युनिस्ट ताकतें सभा से बाहर चली गईं। उस समय तक कम्युनिस्ट पार्टी संयुक्त मोर्चे– सभा को निर्विवाद नेतृत्व के रूप में स्थापित हो गई थी।

आंध्र महासभा के अनुभव ने एक बार पुनः लेनिन के इस सूत्रीकरण को पूर्णतः सत्य प्रमाणित कर दिया था कि, उपनिवेशों में कम्यूनिस्ट पार्टियां विशाल किसान जनता के नेतृत्व के रूप में उभर कर और खुद को उनकी ताकत के आधार पर खड़ा करके ही राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के संयुक्त मोर्चे पर अपना नेतृत्व स्थापित कर सकती है। निश्चय ही आंध्र की पार्टी इस मामले में स्वतः स्फूर्त ढंग से ही सफल हुई थी। परंतु केंद्रीय कमेटी के नेतृत्व ने न तो इस सफलता पर उत्साह के साथ विचार किया और न ही इसे पूरी तरह समझने का प्रयास किया। इसने अपनी वर्ग सहयोग की नीति को और भारतीय क्रांति में किसानों की भूमिका की उपेक्षा करना जारी रखा था।

स्वाभाविक है कि संगम के बैनर तले चलने वाला किसान संघर्ष भूस्वामियों की आंख का नासूर बन गया था। जैसे ही सामंतवाद की नीवें सामंतवाद विरोधी किसान संघर्ष से हिलने लगी थीं, भूस्वामियों के गुंडों और निजी सेनाओं ने किसानों पर और सभा के कार्यकर्ताओं पर बिना किसी भेदभाव के आक्रमण करना शुरू कर दिया था। सामंत निजामशाही राज्य भी पुनः भीषण दमन पर उतर आया। किसानों और कार्यकर्ताओं ने नेतृत्व पर इन आक्रमणों के प्रतिरोध में हथियार उठाने के लिए दबाव डालना शुरू कर दिया था। इस प्रकार स्थितियां उस मुकाम पर जा पहुंची थीं, जहां सामंत विरोधी संघर्ष को, जो बेगारी उन्मूलन,

बेदखली, लगान में कमी आदि के लिए शुरू हुआ था, हथियारबंद करना अपरिहार्य हो गया था।

आंध्र के इलाके में, कम्युनिस्ट पार्टी ने 1945 से कांग्रेसी गुंडों के आक्रमण का मुकाबला करने के लिए अपने स्वयंसेवकों को प्रशिक्षित करना शुरू कर दिया था। तेलंगाना में भी, भूस्वामियों के गुंडों द्वारा आक्रमण और राज्य के तीव्रतर होते दमन को देखते हुए, पार्टी ने कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित करना शुरू कर दिया। 1946–47 के दौरान कम्युनिस्टों ने इस प्रशिक्षण के जरिए ही जनता को सामंतवाद विरोधी और साम्राज्यवाद विरोधी संघर्षों की तरफ बढ़ने के लिए नेतृत्व प्रदान कर रही थी। सामंती दमन के विरुद्ध किसान संघर्षों के शक्तिशाली उभार में हर जगह जनता ने स्वयं लाठियों और गुलेलों को उठा लिया था और शत्रुओं का मुकाबला कर रहे थे, उन पर आक्रमण कर रहे थे। यद्यपि स्थानीय रूप से निर्मित आग्नेयास्त्र उपलब्ध थे पर पार्टी का दक्षिणपंथी नेतृत्व ने इनके इस्तेमाल की अनुमति नहीं दी। चूंकि पार्टी समय से सशस्त्र प्रतिरोध खड़ा करने में नाकामयाब रही थी, शत्रु ने अपना आक्रमण तेज कर दिया था और जनता तथा पार्टी को भीषण दमन का सामना करना पड़ा था। केवल 1946 के अंत में जाकर ही, जब निजाम की सेना और जमींदारों के गुंडों दोनों का ही आक्रमण तेज होने लगा था, सी.सी. ने बंदूकों–बमों के प्रयोग की अनुमति दी थी। 1947 के प्रथम चार–पांच महीनों में आंदोलन पुनः ताकतवर हो उठा था।

पी.सी.जोशी के नेतृत्व वाली सी.सी. ने, दक्षिणपंथी अवसरवादियों की कट्टर धूरी ने आत्मरक्षा के लिए भी तेलंगाना में सशस्त्र संघर्ष चलाने की अनुमति कैसे दे दी थी? उस समय, तेलंगाना संघर्ष निजाम के राज्य की ही विशेषता थी और यह देश के बाकी हिस्सों में और कांग्रेस के साथ एकता की पार्टी की शत्रु सहयोगी नीति पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकती थी। इस प्रकार दक्षिणपंथी नेतृत्व की न तो कोई इच्छा थी और न उनकी क्षमता ही थी कि वे तेलंगाना के किसान विद्रोह से उभर कर सामने आने वाले भारतीय क्रांति के रास्ते को पहचान पाते। यह इस तथ्य से साबित होता था कि, 1946 में जमींदारों के विरुद्ध और बंजर जमीन पर कब्जे के लिए शुरू हुए जुझारू जन संघर्षों के वापस लेने के लिए, केंद्रीय नेतृत्व ने पल्टी मार कर शीघ्रता के साथ कार्यवाही की थी।

तेलंगाना में जनता की सत्ता

सत्ता के हस्तांतरण के साथ ही स्थिति तीव्र गति से बदलती जा रही थी। पार्टी का नेतृत्व इस बहस में व्यस्त था कि उसे ब्रिटेन के साम्राज्यवादी षड्यंत्रों से अभी जीती गई स्वतंत्रता की रक्षा के लिए तथा पटेल के नेतृत्व में कांग्रेस के भीतर मौजूद संकीर्ण मानसिकता वालों और दक्षिणपंथियों के गुट का मुकाबला करने के लिए नेहरू की प्रधानता में गठित आजाद राष्ट्रीय सरकार को पूर्ण समर्थन दे देना चाहिए या नहीं। एक तरफ पार्टी का केंद्रीय नेतृत्व अपनी दक्षिणपंथी अवसरवादी नीतियों के अनुसार युद्ध बाद के जनउभार में अपनी पहलकदमी खोकर मात्र एक दर्शक की भूमिका निभा रहा था। दूसरी तरफ निजाम के राज्य में, युद्ध बाद के जनउभार के दौरान–निजाम–विरोधी और सामंत–विरोधी संघर्ष तीव्र गति से आगे बढ़ते जा रहे थे।

तेलंगाना में तीव्र गति से विकसित होते सशस्त्र संघर्ष के महत्व को सीपीआई के नेतृत्व की अपेक्षा नेहरू ने ज्यादा ठीक से महसूस किया था और वे समझ रहे थे कि तेलंगाना देशव्यापी सामंत विरोशी मुक्ति संघर्ष के लिए एक उदाहरण बन सकता था। भूस्वामी और बड़े पूंजीपति केंद्र द्वारा हस्तक्षेप किये जाने की मांग कर रहे थे। लेकिन सत्ता हस्तांतरण के समय सभी राजतंत्रीय राज्यों ने स्वतंत्रता हासिल कर ली थी और नेहरू निजाम पर भारतीय

संघ में शामिल होने के लिए दबाव डाल रहे थे। निजाम ने जो पाकिस्तान में शामिल होने या स्वतंत्र बने रहने का इच्छुक था, इस प्रश्न पर निर्णय तक पहुंचने के लिए एक साल की मोहलत मांग रहा था। बहरहाल नेहरू की चिंता निजाम का निर्णय नहीं थी, बल्कि वे इस संभावना से चिंतित थे कि कहीं एक वैकल्पिक जन सत्ता न उठ खड़ी हो और झूठी आजादी का पर्दाफाश कर दे। इसलिए वे निजाम की बजाय कम्युनिस्ट पार्टी को अपना मुख्य दुश्मन मान रहे थे और उन्होंने आंध्र क्षेत्र में सीपीआई पर प्रतिबंध लगा दिया, जो तेलंगाना सशस्त्र संघर्ष के पीछे अपनी सक्रिय भूमिका निभा रही थी।

सत्ता हस्तांतरण के बाद कांग्रेस ने रियासतों के संघ में एकीकरण की मांग करते हुए मुहिम छेड़ दी। सीपीआई ने कांग्रेस द्वारा किये गए आह्वान में सक्रिय रूप से भाग लिया था और जनता के आंदोलित किया था। हालांकि कम्युनिस्टों ने संघ के भीतर भाषाई राज्यों को मान्यता प्रदान करके उनका गठन करके, रियासतों को भंग करने और उनके विभिन्न हिस्सों को उनसे संबंधित भाषाई राज्यों में शामिल करने की मांग रखी थी।

जिस दिन निजाम की रियासत को संघ में सम्मिलित करने का आंदोलन जोर पकड़ रहा था, सामंतवाद विरोधी संघर्ष अपने चरम पर जा पहुंचा था और पार्टी ने कृषक क्रांति के कार्यक्रम को हाथ में लेने और सामंतवाद विरोधी संघर्ष को तीव्र करने का निर्णय लिया। इस तरह से निजाम की रियासत को संघ में शामिल किए जाने के आंदोलन ने जुझारू सामंत विरोधी संघर्ष का रूप ले लिया था। कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में बड़े पैमाने पर जमींदारों की भूमि पर कब्जा कर लिया गया था और 'जमीन जोतने वालों को' के आधार पर क्रांतिकारी भूमि सुधार को तीव्रता के साथ चलाया जा रहा था। (पोलित ब्यूरो ने निचले स्तर के कम्युनिस्ट नेतृत्व, किसानों और संगम कार्यकर्ताओं के दबाव में ही जमींदारों की जमीन पर कब्जा करने और कृषकों को दिये जाने के कार्यक्रम को काफी हिचकिचाहट के साथ स्वीकार किया था) क्रांतिकारी कृषि आंदोलन ने जो जंगल की आग की तरह निजाम को लपेटे में ले लिया था और उसने पतनशील सामंती सत्ता को उखाड़ फेंके जाने का खतरा पैदा कर दिया था।

घबराये हुए निजाम ने मुस्लिम कम्युनिस्टों की लंपट सशस्त्र टुकड़ियों–रजाकारों को संगठित करके गांवों पर आक्रमण करने और जनता, खास करके हिंदुओं पर जुल्म ढाने के लिए भेजा। पुलिस और फौज के साथ कदम मिलाते हुए इन रजाकारों ने चौतरफा आतंक मचा दिया था। लूटना, खेतों को जलाना, बलात्कार करना यंत्रणा देना ही उन दिनों की व्यवस्था थी।

पार्टी के नेतृत्व के अंतर्गत जनता ने रजाकारों का डटकर मुकाबला किया। लोगों ने स्वेच्छा से हर जगह आगे बढ़कर सशस्त्र ग्राम रक्षा दलों को गठित कर लिया और जमींदारों के हथियारों पर कब्जा कर लिया। बड़े स्तर पर गुरिल्ला कृषक दलों का गठन कर लिया गया था। यहां तक कि तालुका और जिला स्तर पर भी दलों का गठन हो गया था। बिना आधुनिक हथियारों और प्रशिक्षण के, किसानों के गुरिल्ला दस्तों ने पार्टी के नेतृत्व में कड़ा मुकाबला किया और निजाम की हथियारबंद सेना ओर रजाकार दलों को पीछे खदेड़ दिया। जमींदार और निजाम के कर्मचारी गांवों से भाग खड़े हुए। इस अवधि में करीब सौ गुरिल्ला दल और 2000 गुरिल्ला लड़ाके युद्धरत थे। जिस समय नेहरू की सेना ने प्रवेश किया, गुरिल्ला दस्ते आक्रमण कर रहे थे और निजाम की सेना तथा रजाकारों के शिविरों को ध्वस्त कर रहे थे। तेलंगाना में निजाम का शासन लड़खड़ा रहा था और ध्वस्त होने को था।

लाजिमी था कि कांग्रेस और संघीय सरकार तेलंगाना आंदोलन के तीव्र होने को लेकर चिंतित थी। कांग्रेस ने न केवल निजाम को संघ में शामिल करने के संघर्ष से अपने कदम

पीछे खींच लिये अपितु उसने स्वयं भी रजाकारों पर नियंत्रण करने के बहाने से, जमींदारों की रक्षा के लिए ''दल'' बनाने शुरू कर दिये। जमींदारों के नेतृत्व में ये कांग्रेसी दल लंपट गिरोह के रूप में गठित किये गये थे। इन्होंने जनता पर अत्याचारों को फिर से शुरू कर दिया। किसान गुरिल्ला दलों को इन लंपट गिरोहों से भी टक्कर लेनी पड़ी थी। ये सभी घटनायें इस बात की ओर सुनिश्चित रूप से इशारा कर रही थीं कि निजाम को संघ में मिलाने के बाद, नेहरू तेलंगाना के जमींदारों को सत्ता सौंप देंगे। परंतु कम्युनिस्ट पार्टी ने– रियासत को भंग करने और संघ में शामिल करने की अपनी मांग जारी रखी थी। इस प्रकार वे कम्युनिस्ट भी, जो तेलंगाना से सटे हुए, आंध्रा के जिलों में मजबूत स्थिति में थे, यह मान कर चलते थे कि तेलंगाना का सशस्त्र संघर्ष निजाम के विरुद्ध ही है, वे कल्पना भी नहीं करते थे कि इसे नेहरू सेना के विरुद्ध भी लक्षित होना होगा।

'जमीन जोतने वालों को' नारा किसान संघर्ष खड़ा करने का हथियार बन गया था। जमीन के लिए प्यासे किसान 1946 के कृषि कार्यक्रम की संशोधनवादी समझ पर आधारित जमीन के प्रारंभिक बंटवारे से संतुष्ट नहीं थे। किसानों की मांग पर 1948 के मध्य तक भूमि सीमा को घटा कर सूखे क्षेत्रों में 100 एकड़ और नाम क्षेत्रों में 10 एकड़ कर दी गई थी। (संघर्ष की वापसी के बाद हैदराबाद सरकार ने ''भूमि सुधार'' करने का काम हाथ में लिया और उसने नम क्षेत्रों में 50 एकड़ और सूखे क्षेत्रों में 250 एकड़ की सीमा तय कर दी)। लगभग 10 लाख एकड़ जमीन इस क्रांतिकारी भूमि सुधार के अंतर्गत वितरित की गई। इस तथ्य की ओर ध्यान दिया जाना आवश्यक है कि केंद्रीय कम्युनिस्ट नेतृत्व ने सिर्फ 1947 के अंत में मौजूद अतिरिक्त भूमि पर किसानों के कब्जे को स्वीकृत किया था।

उस समय तक किसानों ने जमींदारों द्वारा गैर–कानूनी ढंग से हड़प ली गई अपनी जमीन पर वापस कब्जा किया था, तथा बंजर और सरकारी जमीन पर कब्जा किया था। और उन्होंने काश्तकारों द्वारा जोती जा रहीं, जमीन खाली करने से इंकार कर दिया गया था।

मुक्त हो चुके गांवों में, जनता की सत्ता पनपने लगी थी। ग्रामीणों द्वारा निर्वाचित ग्राम पंचायत समितियों ने गांवों में सत्ता संभाल ली थी और भूमि वितरण तथा प्रशासन का काम अपने हाथों में ले लिया था। जनता की अपनी सत्ता, अपना राज लोगों के दिलों में गहरे तक धंस गया था। परंतु संघम और समितियों के बीच भेद अभी स्पष्ट नहीं हो सका था और वे उन्हें एक ही समझते थे। जो भी हो, किसान राज्य सत्ता और भूमि के बीच के संबंध को भली भांति समझ रही थी और यह अधिकाधिक इस हकीकत को समझती जा रही थी कि बिना सामंती राज्य सत्ता को उखाड़ फेंके और इसके स्थान पर जन सत्ता को स्थापित किए 'जमीन जोतने वालों को' की मांग का वास्तविक क्रियान्वयन नहीं किया जा सकता है।

जिस दौरान तेलंगाना में जनता की सत्ता प्रस्फुटित होती जा रही थी, आंध्र के कम्युनिस्टों ने अध्ययन करना और माओ के नव जनवाद को लागू करना और चीनी क्रांति के दीर्घकालीन जन युद्ध को रास्ते का अनुसरण करना जारी रखा था। वहीं, केंद्रीय नेतृत्व, ''प्रतिक्रांतिकारी'' पटेल के विरुद्ध ''प्रगतिशील'' नेहरू के साथ सहयोग करते हुए तथा उन्हें मजबूत करते हुए, राष्ट्रीय ''स्वतंत्रता'' की सुरक्षा करने में व्यस्त थी। नेतृत्व की इस दक्षिणपंथी अवसरवादी कार्यदिशा को तीखी देशव्यापी आलोचना झेलनी पड़ रही थी। आंध्रा की पार्टी ने, जो 1946 से ही कांग्रेस सरकार के प्रतिबंधों और दमन का कर रही थी, अपने नेतृत्व में चलाये जाने वाले तेलंगाना किसान संघर्ष के रूप में दक्षिणपंथी अवसरवादी कार्यदिशा के विकल्प का परीक्षण किया था।

इन्हीं परिस्थितियों के बीच रणदिवे की कार्यदिशा लागू हुई थी। लेकिन पार्टी की दूसरी कांग्रेस न केवल तेलंगाना संघर्ष से उभर कर सामने आने वाली क्रांतिकारी कार्य दिशा का अध्ययन करने में बल्कि इस संघर्ष को और आगे विकसित करने के लिए कोई ठोस दिशा निर्धारित करने में असफल सिद्ध हुई थी। रणदिवे ने, जिन्होंने ''तेलंगाना का रास्ता हमारा रास्ता'' का नारा दिया था, दरअसल इसमें कोई मदद नहीं की थी। कांग्रेस के बाद आंध्रा की राज्य सचिवालय ने अपनी बैठक की थी और तेलंगाना के सशस्त्र संघर्ष के भविष्य के बारे में विचार विमर्श किया था। निर्णायक प्रश्न भारतीय संघ में निजाम के राज्य के विलय के बाद, संघर्ष का भविष्य क्या होगा। लेकिन केंद्रीय नेतृत्व, इस पर किसी स्पष्ट अवस्थिति लेने में असमर्थ रहा था। तेलंगाना को छोड़कर पूरे ही आंध्र में यह समझ बनी हुई थी कि भारतीय संघ में इसके शामिल हो जाने के बाद तेलंगाना का मुद्दा हल हो जाएगा। ऐसी परिस्थिति में आंध्रा सचिवालय ने एक वैकल्पिक राजनीतिक कार्यदिशा के रूप में आंध्र थीसिस सूत्रबद्ध की थी और इसे मई 1948 में केंद्रीय कमेटी को भेजा था। केंद्रीय कमेटी ने, सितंबर में ''राजनीतिक एक्शन'' के बाद दिसंबर तक इस मामले पर न कोई विचार नहीं किया था न ही कोई निर्णय लिया था।

बहरहाल, दीर्घकालीन लोकयुद्ध की कार्यदिशा पहली बार केंद्रीय कमेटी के सामने विचार विमर्श हेतु लायी गई थी। परंतु यह विमर्श सिर्फ केंद्रीय कमेटी तक ही सीमित था। सचिवालय सदस्यों को छोड़ कर आंध्र कमेटी तक को इसका पता नहीं था। इसलिए उस समय भी जब पार्टी के नेतृत्व में मुक्त कर लिए गये गांवों में जन सत्ता स्थापित की जा रही थी, लोगों में यही धारणा बनी हुई थी कि निजाम के विरुद्ध तेलंगाना संघर्ष जारी है।

जब 1948 की शुरुआत में रणदिवे की कार्यदिशा लागू हुई थी, नेहरू सरकार और भारत की आजादी के प्रति सीपीआई का आकलन बदल चुका था। परंतु रणदिवे, तेलंगाना संघर्ष को ऐसे किसान संघर्ष के रूप में ले रहे थे जो देशव्यापी जन विद्रोह को पूरक होगा, जिसका वह स्वप्न देखते थे। अपने इसी दृष्टिकोण से उन्होंने हर जगह तेलंगाना पैदा करने का आह्वान किया था। वे न तो तेलंगाना संघर्ष से निकल कर आने वाली नव जनवादी क्रांतिकारी दिशा को पहचान रहे थे और न ही यह समझ पा रहे थे कि भारतीय क्रांति में किसान मुख्य ताकत है। इससे बढ़कर उन्होंने इन दोनों को ही साफ–साफ अमान्य कर दिया था। उन्होंने चीनी रास्ते पर खुला आक्रमण छेड़ दिया था और माओ पर जिन्होंने इस रास्ते का प्रतिपादन किया था, ''किसान समाजवादी'' और ''एशियाई टीटो'' के रूप में मिथ्या आरोप लगाये थे। इस तरह से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि ऐसा लगता था कि दूसरी कांग्रेस के बाद, तेलंगाना संघर्ष को उचित मान्यता प्रदान कर दी गई है, दरअसल केंद्रीय नेतृत्व तेलंगाना अनुभव के सार को समझ पाने में पूर्णतया असमर्थ था।

ऐसी स्थिति में, आंध्र की पार्टी को तेलंगाना का नेतृत्व करने में, प्रत्येक मोड़ पर स्वतः स्फूर्त निर्णय लेना होता था और संघर्ष का निर्देशन करना पड़ता था। लम्बे समय तक व्यवहार में लागू रहने वाला दक्षिणपंथी–अवसरवाद और रणदिवे की वाम कार्यदिशा तेलंगाना संघर्ष का नेतृत्व करने में पार्टी की एक महत्वपूर्ण कमजोरी–स्वतःस्फूर्तता के प्रमुख कारण थे।

फासिस्ट दमन और बहादुराना प्रतिरोध

13 दिसंबर 1948 को नेहरू सरकार ने निजाम को दिये गए एक साल के समय से पहले ही, कम्युनिस्टों के नेतृत्व में, किसान गुरिल्लाओं की तेज बढ़त से घबरा कर, ''पुलिस ऐक्शन'' की शुरुआत कर दी और निजाम की रियासत में फौज भेज दी। निजाम ने तुरंत, बिना कोई प्रतिरोध किये समर्पण कर दिया और एक्शन को अत्यंत शीघ्रता के साथ अंजाम

तक पहुंचा दिया गया। परंतु नेहरू सरकार का वास्तविक निशाना निजाम नहीं, कम्युनिस्टों के नेतृत्व में चल रहा किसान संघर्ष और वह जन सत्ता थी जो तब तक 3000 गांवों में स्थापित हो चुकी थी। इस प्रकार नेहरू सरकार ने कम्युनिस्ट पार्टी आंध्र महासभा पर तथा राज्य में पार्टी द्वारा संचालित ट्रेड यूनियनों पर तत्काल प्रतिबंध लागू कर दिया और तेलंगाना तथा आंध्रा दोनों जगहों में, अभूतपूर्व भीषण फासीवादी दमन शुरू कर दिया। फौजों द्वारा तेलंगाना के किसानों का और किसान गुरिल्ला दस्तों का तलाशी अभियान चलाया गया। पार्टी और दस्तों को जिनको इसका कोई भी अंदेशा नहीं था ओर जो इसके लिए बिल्कुल भी तैयार नहीं थे, एक के बाद एक गंभीर नुकसान उठाने पड़े थे।

आंध्र के एक प्रतिनिधि द्वारा 1949 में केंद्रीय कमेटी को प्रेषित रिपोर्ट में इस स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया गया था :

''हम ऐसे समय में इस (पुलिस) एक्शन का सामना कर रहे थे, जब हमारा संगठन तैयार नहीं था। किसी को भी इसका अंदेशा नहीं था, खासकर इस बात कि सबकुछ इतनी तेजी से हो जाएगा।... ऐसी स्थिति में हम हर तरह की अफवाहों पर विश्वास करने को मजबूर थे क्योंकि हम नहीं जानते थे कि दरअसल क्या घटने वाला है। हमारे स्क्वैड उस समय जब शत्रु को पीछे खदेड़ दिया गया था और वह भाग रहा था, हम उसके हथियारों को जब्त कर लेने के अवसर से चूक गये। 13 से 20 सितंबर के सप्ताह में, जो हथियार हमें मिले थे, वे सड़कों के किनारे फेंके हुए थे, जिनको लोगों ने इकट्ठा करके हमें सौंप दिया था।''

''जब संघीय सेनायें रियासत में दाखिल हुई थी, तो उसने पहले कम्युनिस्टों पर आक्रमण नहीं किया था, पहले उन्होंने मुस्लिमों और रजाकारों का कत्ल किया था। यहां तक कि उन्होंने कुछ निर्दोष मुस्लिमों को भी गिरफ्तार कर लिया था। उन्होंने अनेक मुस्लिम महिलाओं के साथ बलात्कार कर लिया था। गांवों में भी संघीय सेना ने मुस्लिम औरतों के साथ बलात्कार किया था और मुस्लिमों के घरों को लूट लिया था... कई जगहों पर तो फौज ने हिंदुओं को मुस्लिम महिलाओं का बलात्कार करने के लिए मजबूर भी किया था और उन्हें उकसाया था कि ये मुस्लिम रजाकारों द्वारा हिंदू औरतों के बलात्कार का बदला है। लेकिन सामान्यतः कहीं भी गांव वालों ने उनकी दलीलों को नहीं माना था।

मुस्लिमों पर अत्याचार विशेष रूप से उन तेलंगाना और मराठवाड़ा के उन इलाकों में किया गया था जहां अभी किसान संघर्ष नहीं पहुंच पाया था। वहां बहुतों की हत्यायें की गईं और औरतों का बलात्कार किया गया था और बड़े पैमाने पर लूट मचाई गई थी।''

राज्य कांग्रेस ने उम्मीद की थी कि नेहरू की फौज के दाखिल हो जाने के बाद, वहां कांग्रेस सरकार बना दी जायेगी। लेकिन फौज का इरादा तो कम्युनिस्टों और जनता की सत्ता का पूर्ण सफाया करना था, इसलिए किसी नागरिक सरकार स्थापित करने का प्रयास नहीं किया गया था और फौजी शासन लाद दिया गया था।

''सेना के प्रयास के बाद, बड़े पैमाने पर किसानों के विद्रोह उठ खड़े हुए। वे जमीन और पशुओं की मांगों के साथ आगे आये थे। किसान देशमुखों की जमीनों पर कब्जा करने के लिए आगे बढ़े, उन स्थानों पर भी जहां पहले से इसकी तैयारी नहीं की गई थी। इससे बढ़कर उन इलाकों में जहां हम मजबूत थे, खेतिहर मजदूरों और गरीब किसानों ने ज्यादा बड़े पैमाने पर और ज्यादा मूलभूत रूप से भूमि वितरण की मांग करना शुरू कर दिया था... ।''

भूमि पर कब्जा किये जाने का संघर्ष दूसरे इलाकों, जैसे करीम नगर, मेडक और निजामाबाद में भी पहुंच गया था। चूंकि सामंतवाद के प्रति जनता का क्रोध ज्वालामुखी की

तरफ फट पड़ा था, जमींदार केंद्रीय सरकार की छत्रछाया में चले आये थे और उन्होंने कांग्रेसी के रूप में अपना पुनर्जन्म कर लिया था। शीघ्र ही नेहरू की फौज ने ''हैदराबाद राज्य को मुक्त कराने के लिए मुक्ति संघर्ष'' का नाटक त्याग दिया था। रिपोर्ट में स्थिति की व्याख्या इस तरह से की गई थी :

''यह सोच कि निजाम का शासन समाप्त हो जाने के बाद उनसे जमीन वापस ले ली जाएगी, जनता के विद्रोह का आंशिक कारण था। संभवतः वे नहीं जानते थे कि कांग्रेस उनका दमन करेगी और उन्हें कड़ा संघर्ष करना पड़ेगा। जो भी हो, पुराने इलाकों में जब दमन शुरू किया गया तब ग्रामीण देशमुखों से छीन ली गई और जमीन और पशु वापस लौटाने से इंकार करने लगे थे। वे लड़ने के लिए कृतसंकल्प थे।''

''इस चरण में, संघर्ष के सारे इलाकों में, जनता और हमारे स्क्वैडों में यह भ्रम मौजूद था कि केंद्रीय सरकार इतनी निर्दय नहीं होगी और उनका दमन उतना अधिक नहीं होगा जितना कि निजाम के लोगों पर हुआ था। इसलिए हम सोचते कि उन्हें अब सशस्त्र संघर्ष जारी रखने की जरूरत नहीं होगी, इसीलिए हमारी सतर्क निगरानी, तकनीकी सावधानियों और प्रशिक्षण में कुद शिथिलता आ गई थी।...

''जनगम क्षेत्र में शिथिलता में सभी सैनिक स्क्वैड भंग कर दिये गये थे। पांच या छः सदस्यों वाले कुछ छोटे स्क्वैड बनाये गये थे और उनमें से प्रत्येक को आत्मरक्षा के लिए एक आधुनिक हथियार दिया गया था। इन स्क्वैडों को राजनीतिक प्रचार चलाने का ही निर्देश दिया गया था। जैसे ही हमने इस तरह हथियार त्यागे, गांवों में उत्पीड़कों ने पुनः सर उठा लिया...।''

''उस एक महीने (अक्टूबर) के जब हमने हथियार त्याग दिये थे, अनुभवों ने यह उजागर कर दिया था कि यह नीति कितनी खतरनकार है। उन उत्पीड़कों ने, जिन्होंने पुनः सर उठा लिया गया था, हमारे साथियों का पीछा शुरू कर दिया था। हमारे स्थानीय कार्यकर्ताओं और स्क्वैड लीडरों को धोखा दिया गया और उन्हें पकड़ कर पुलिस के हवाले कर कर दिया गया। तब जनता और स्क्वैड के सदस्य पुनः हथियार उठा लेने के आह्वान के साथ आगे आ गये थे।''

हम पहले ही कह चुके हैं कि पार्टी के नेतृत्व ने तेलंगाना के नेतृत्व को एक ऐसी विपरीत परिस्थिति में डाल दिया था, जिसमें संघर्ष को, संघर्ष की शुरुआत से ही केंद्रीय नेतृत्व द्वारा अपनाये गये कठोर रवैये की वजह से, उत्तरोत्तर सामने आने वाली घटनाओं के अनुसार स्वतः स्फूर्त ढंग से रोज ब रोज अपने कार्यक्रम और रणकौशल का निर्धारण करना पड़ रहा था। स्वाभाविक था कि इसके निचले स्तर का नेतृत्व, पुलिस की कार्रवाई के बाद उत्पन्न स्थिति को समझने में, भारी उलझन में पड़ गया था। यह कहने की जरूरत नहीं है कि नेतृत्व यह बिल्कुल भी नहीं समझ सका था कि इसे नेहरू की सेना के विरुद्ध लड़ना होगा। यद्यपि कहने को उसे ऐसी घटना की पूर्वापेक्षा थी, परंतु न तो उसने ऐसा घट जाने पर अपनाई जाने वाली आवश्यक रणनीति को तैयार कर रखा था न ही उसने ऐसे संघर्ष के संचालन के लिए कोई तैयारी ही की थी। रणदिवे ने जो आम बगावत के अपने स्वप्न में डूबे हुए थे, कभी यह सोचने की जेहमत नहीं उठाई थी कि वे उस नेहरू सेना के आक्रमण से तेलंगाना की रक्षा कैसे करेंगे, जो साम्राज्यवादियों द्वारा दो विश्वयुद्धों सहित अनेक युद्धों का अनुभव प्राप्त था। परिणाम यह था कि आंध्रा पार्टी के नेतृत्व को देखो और इंतजार करो का रूख अपनाना पड़ा। इस तरह से नेहरू सेना गुरिल्ला टुकड़ियों को भारी क्षति पहुंचाने में कामयाब रही थी। काफी गंभीर नुकसान उठाने के बाद ही पीछे हटने की रणनीति तैयार की गई थी।

जब पुलिस कार्रवाई शुरु हुई तो रवि नारायण रेड्डी जैसे कुछ नेताओं ने संघर्ष वापस लेने के लिए दलीलें देना शुरू कर दिया था। कुछ छोटे जमींदार और धनी किसानों का एक हिस्सा जिसने, निजाम के विरुद्ध संघर्ष में भाग लिया था, स्वाभाविक रूप से संघर्ष से हट गया। इसकी ओर इशारा करना या यह दलील देना कि कुल मिलाकर जनता ने नेहय सेना का स्वागत किया था, इतिहास को झुठलाना था। गरीब और मध्य किसान जनता संघर्ष में डटी हुई थी और पार्टी के पीछे खड़ी थी और वे जमीन की तथा खुद द्वारा स्थापित की जा रही जनसत्ता की रक्षा के लिए नेहय सेना ने लड़ने के लिए तैयार थे।

केंद्रीय सेना ने तेलंगाना में प्रवेश करके, ग्रामीण तेलंगाना के कोने कोने में अपनी टुकड़ियां तैनात कर दी थीं और दो हफ्तों के भीतर कम्युनिस्टों पर आक्रमण शुरू कर दिया था। वे कम्युनिस्टों का पता लगाने के लिए जनता पर अत्याचार कर रहे थे। वे चार–पांच गांवों के घेर लेते थे, सभी लोगों को एक जगह इकट्ठा करके उन्हें, भीषण यंत्रण देते थे और साथ ही सघन तलाशी अभियान चलाते थे। वे कम्युनिस्टों और गुरिल्ला सदस्यों के परिवार वालों पर आक्रमण कर देते थे और उनका उत्पीड़न करते थे। तेलंगाना के वीरतापूर्ण किसान आंदोलन का दमन करने के लिए नेहरू सेना और पुलिस, ''कांग्रेस रजाकारों'' के सहयोग से आक्रमण के ऐसे भीषण और निर्दय तरीकों का इस्तेमाल करने से गुरेज करते थे, जैसे निजाम और उसके रजाकारों ने भी कभी इस्तेमाल नहीं किये थे। तेलंगाना के संघर्ष क्षेत्रों में हर पांच मील के फासले पर फौजी शिविर स्थापित कर दिये गये थे। सेना रोज आस पास के दो या तीन गांवों पर आक्रमण किया करती थी और जंगलों, बागों और पहाड़ियों में सघन तलाशी किया करती थी। कांग्रेस सरकार इन आक्रमणों तथा तलाशियों के संचालन में उनकी मदद किया करते थे। यहां तक कि नेहरू सरकार ने, इस बहाने से कि जंगलों में रहने वाले जन कम्युनिस्टों का सहयोग करते हैं, ब्रिग योजना को भी लागू किया था और वनवासियों को नजरबंदी शिविरों में ठूंस दिया था। फिर भी जनता ने बहादुरी के साथ सामना किया था। सैकड़ों गांवों को जला करके उन्होंने इस योजना को अंजाम दिया था। नलगोड़ा, वारंगल, खम्माम, करीमनगर और हैदराबाद जिलों में, तीन लाख लोगों को यंत्रणा दी गई थी, 50,000 लोगों को गिरफ्तार किया गया था, 5,000 लोगों को जेलों में वर्षों सड़ाया गया था और 3000 लोगों को हत्या कर दी गई थी।

पार्टी ने सही तरीके से, आंदोलन का प्रसार करके और इस तरह शत्रु ताकतों को बिखराते हुए, शत्रु को बचाव की स्थिति में पहुंचा कर पराजित करने का निर्णय लिया। परंतु पार्टी ने यह निर्णय तब लिया जब शत्रु ने कोई मौका न देते हुए अविराम आक्रमणों की झड़ी लगा रखी थी और पार्टी, दल तथा जनता को काफी नुकसान झेलना पड़ रहा था। फिर भी 1950 तक आंदोलन कुर्नूल जिले के नल्लमाला जंगल के इलाकों और 1951 तक आदिलाबाद जिले में तथा इससे सटे हुए महाराष्ट्रा के जंगलों में फैल गया था। अगर पार्टी ने दूरदृष्टि अपनाई होती और नेहरू सेना के दखल से पहले ही उसने यह प्रसार किया होता तो कम से कम नुकसान उठाकर आक्रमण को पीछे ढकेला जा सकता था।

पार्टी ने ग्रामीण इलाकों से भूस्वामियों, देशमुखों, जमींदारों और ग्राम अधिकारियों को खदेड़ भगाने का शत्रुओं के एजेंडों के साथ कड़ाई से पेश आने का; और शत्रुओं को हमारे मजबूत इलाकों से तम्बू उखाड़ कर भाग जाने के लिए मजबूर कर देने का या उनको नष्ट कर देने का तथा शत्रु द्वारा हमारे इलाकों में प्रवेश असंभव कर देने का आवाहन किया था।

इसने अपने कार्यकर्ताओं का आह्वान किया था कि जनता को सभी समस्याओं को हाथ में लेते हुए जन संघर्ष को तेज कर दें। यह निर्णय लिया गया था कि आंध्र महासभा

को समस्त क्रांतिकारी ताकतों के लिए जनता के जनवादी क्रांतिकारी मोर्चे के रूप में कार्य करना चाहिए।

स्क्वैड के संगठनों में और काम करने के तरीकों में बदलाव किया गया। छोटी गुरिल्ला टुकड़ियों ने शत्रु ने अनवरत आक्रमणों और तलाशी अभियानों के बीच टिके रहना और कार्य जारी रखना सीख लिया था। उन्होंने उस नेहरू सेना को, जो कम्युनिस्टों और गुरिल्लाओं का सफाया कर देने का दम भरती थी, दो हफ्तों के भीतर ही पीछे खदेड़ दिया था और उसे तीन वर्षों तक असमाप्त युद्ध में तब तक उलझाये रखा था, जब 1951 में पार्टी द्वारा संघर्ष को वापस नहीं ले लिया गया।

सूत्रीकरण की तात्कालिकता और इसकी वजह से काफी नुकसान उठाने के बावजूद इन रणनीतियों और निर्णयों ने प्रारंभिक धक्कों से पार्टी तथा समूचे आंदोलन को उबार लिया था। जब भूस्वामी नेहरू सेना की मदद से गांवों में वापस लौटने लगे और किसानों को जमींनों पर कब्जा करने लगे तब शीघ्र ही कांग्रेस के प्रति जनता का मोहभंग हो गया। भूस्वामियों ने संगम के कार्यकर्ताओं और 'पंच' समितियों के सदस्यों पर संगठित आक्रमण करना शुरू कर दिया था। जनता ने सच्चाई जान ली थी कि नेहरू सेना ने राज्य में सिर्फ उन जमीनों पर कब्जा करने और जनता की ताकत को तोड़ने के लिए प्रवेश किया था, जिन्हें उसने अपने खून से सींच कर खड़ा किया था। उसने यह भी समझ लिया था कि उसकी जमीन, उसकी मुक्ति और उसकी सत्ता, सिर्फ नेहरू सरकार के विरुद्ध सतत मुक्ति संघर्ष जारी रखने से ही बची रह सकती है। उत्पीड़ित, गरीब किसान जनता, जो सामंतवाद के अधीन पीढ़ियों से कुचली जाती रही थी पार्टी के साथ दृढ़ता से खड़ी हुई थी। नेहरू द्वारा फैलाये गए श्वेत आतंक के दौरान हजारों जन, कार्यकर्ता, गुरिल्ला और नेता शहीद हो गये थे। जनता और पार्टी के बलिदान व्यर्थ नहीं गये थे। 1951 तक आंदोलन न केवल अन्य क्षेत्रों तक खुद को फैलाने में सफल हुआ था, वरन उस स्थिति में पहुंच गया था, कि वह सेना पर आक्रमण भी संचालित कर सकता था।

नव जनवादी क्रांतिकारी कार्यदिशा की ओर

चीनी क्रांति की निर्णायक विजय के बाद, अंतरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन, विश्व के पिछड़े हुए क्षेत्रों में क्रांति के संबंध में चीनी अनुभव के महत्व को अधिकाधिक स्वीकार करता जा रहा थ। इस संबंध में, नवंबर 1949 में आयोजित पीकिंग सम्मेलन (एशियाई और आस्ट्रेलियाई देशों का ट्रेड यूनियन सम्मेलन), काफी महत्वपूर्ण था। अपने उद्घाटन भाषण में, ल्यू शाओ ची ने उद्घोष किया कि चीनी क्रांति का रास्ता ''वह रास्ता है जिसे, विभिन्न औपनिवेशिक और अर्ध औपनिवेशिक देशों की जनता द्वारा, राष्ट्रीय स्वाधीनता और जनता के जनवाद के लिए अपने संघर्षों में अपनाया जाना चाहिए।'' कम्युनिज्म इन इंडिया के पृष्ठ 295 पर यह उल्लिखित है कि रणदिवे ने पीकिंग सम्मेलन के घोषणापत्र को इसलिए प्रकाशित नहीं कराया कि यह स्पष्ट रूप से आंध्र थीसिस का समर्थन करता था। रणदिवे को निर्णायक धक्का 27 जनवरी 1950 को प्रकाशित कोमिंफार्म के मुखपत्र एफ.एल.पी.डी. (फार ए लास्टिंग पीस, फार एक पीपुल्स डेमोक्रेसी) के संपादकीय से लगा। **उपनिवेशों और गुलाम देशों में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की शक्तिशाली बढ़त** शीर्षक वाला संपादकीय स्पष्ट रूप से घोषित करता था कि औपनिवेशिक और अर्धऔपनिवेशिक देशों में क्रांतियां चीनी रास्ते का अनुसरण करेंगी। यह संपादकीय क्रांति के रास्ते को लेकर सीपीआई में चल रही बहस पर निर्णायक प्रभाव डालने वाला सिद्ध हुआ था और इसने आंध्र नेतृत्व की अवस्थिति को मजबूती प्रदान की थी।

एफ.एल.पी.डी. संपादकीय के महत्वपूर्ण बिंदु

1. ''चीनी जनता द्वारा अपनाया गया रास्ता... वह रास्ता है, जो अनेक औपनिवेशिक तथा गुलाम देशों द्वारा, अपनी राष्ट्रीय मुक्ति और जनता के जनवाद के लिए संघर्ष में अपनाया जाना चाहिए।''

2. ''राष्ट्रीय मुक्ति के विजयी परिणाम के लिए एक निर्णायक दशा, जब भी आंतरिक परिस्थितियां अनुकूल हों, कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में जन मुक्ति सेना का गठन है।

जैसा कि चीन, विएतनाम और मलाया तथा अन्य देशों के उदाहरण दर्शाते हैं, अनेक औपनिवेशिक और गुलाम देशों में सशस्त्र संघर्ष, आज के दिन राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का प्रधान स्वरूप बनता जा रहा है।''

3. ''उपनिवेशों और अर्धउपनिवेशों में जनता के जनांदोलनों ने उन आंदोलनों ने जो युद्ध के बाद सशस्त्र संघर्ष में विकसित हो गये थे, ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को रणनीतिक रूप से पीछे हटने के लिए बाध्य किर दिया था। भारत को एक झूठी आजादी प्रदान कर दी गई। परंतु ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के हित 'पवित्र तथा अनुलंघनीय' बने रहे। माउंटबेटनों की वापसी हो गई थी, परंतु ब्रिटिश साम्राज्यवाद बना रहा था और इसने भारत को अपने आक्टोपसी खूनी भुजाओं से जकड़े रखा था।''

4. इन परिस्थितियों में, चीन एवं अन्य देशों के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के अनुभवों के आधार पर, स्वाभाविक रूप से, भारतीय कम्युनिस्टों का कार्यभार था मजदूर वर्ग और समस्त किसान जनता के बीच संश्रय को दृढ़ करना, दमनकारी ब्रिटिश– अमरीकी साम्राज्यवादियों के विरुद्ध तथा उनके सहयोगी प्रतिक्रियावादी बड़े पूंजीपतियों और सामंती रजवाड़ों के विरुद्ध, आजादी तथा देश के राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए भूमि सुधार लागू करने के लिए संघर्ष करना– राष्ट्रीय मुक्ति और भारत की आजादी की रक्षा के लिए इच्छुक समस्त वर्गों, पार्टियों और संगठनों को एकजुट करना।''

जून केंद्रीय कमेटी

रणदिवे के विश्वासपात्र, भवानी सेन, अधिकारी और लाहिड़ी भी उनकी कार्यदिशा से दूरी बनाने लगे थे। रणदिवे अभी भी अपनी दुस्साहसवादी कार्यदिशा पर अड़े हुए थे और उस पर पुनर्विचार के लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने अपनी कार्यदिशा की, संपादकीय के साथ संगति बैठाने का प्रयास किया। दक्षिण और वाम दोनों ओर के कुछ नेता संपादकीय की भारत में व्यवहारिकता पर संदेह प्रकट कर रहे थे क्योंकि इसमें ''अनेक'' के न कि सभी औपनिवेशिक और गुलाम देश के बारे में बात की गई थी। फिर भी संपाकदीय ने रणदिवे की कार्यदिशा के तिरस्कृत होने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। मई–जून 1950 में दूसरी कांग्रेस के बाद, पहली बार केंद्रीय कमेटी की बैठक आहूत की गई थी। दूसरी कांग्रेस में केंद्रीय के लिए चुने गये 35 सदस्यों में से एक का निधन हो चुका था, 6 जेल में थे और 2 को तब तक केंद्रीय कमेटी से निष्काषित किया जा चुका था। बचे हुए सदस्यों में से दो अनुपस्थित रहे थे और शेष ने केंद्रीय कमेटी में शिरकत की थी। रणदिवे की दुस्साहसवादी कार्यदिशा और उनके संकीर्ण पद्धतियों की भर्त्सना की गई तथा आंध्र कार्यदिशा को अंगीकृत कर ली गई। केंद्रीय कमेट का चुनाव कर लिया गया था जिसमें चार सदस्य आंध्र सचिवालय से थे। ये थे : 1. राजेश्वर राव (2) एम. बासवा पुन्नैया (3) बृजेश

मिश्रा (4) पी. सुंदरैया। (5) डी. वेंकेटेश्वर राव (6) सोमनाथ लाहिड़ी (7) मोनी सिंह (8) नंबूदरीपाद (9) एस.वी.पारुलेकर। पहले तीन से मिलाकर पोलित ब्यूरो गठित हुआ था।

नई केंद्रीय कमेटी ने यह महसूस किया था कि ''श्वेत आतंक के मौजूदा दौर में यदि केंद्रीय कमेटी को क्रियाशील रहना है तो इसे काफी छोटी होना चाहिए... 11 से 13 तक...''

मई–जून की केंद्रीय कमेटी की बैठक ने, जिसने जून कमेटी को चुना था, आंध्र कार्यदिशा का अनुमोदन किया था और कुछ संशोधनों के साथ, आंध्रा के केंद्रीय कमेटी सदस्यों द्वारा तैयार दो दस्तावेजों को स्वीकार कर लिया था। वे थी : पोलित ब्यूरो की सांगठनिक गतिविधियों में मौजूद वाम–संकीर्णतावाद तथा सी.सी. के सामने उपस्थित मुख्य सांगठनिक कार्यभार एवं भविष्य में सी.सी. तथा पी.बी. के समुचित संचालन हेतु निर्देशों पर रिपोर्ट और सीपीआई के भीतर मौजूद वाम भटकाव पर रिपोर्ट।

नवगठित जून केंद्रीय कमेटी ने तुरंत रणदिवे की वाम संकीर्णतावादी दस्तावेजों को वापस ले लिया और सभी पार्टी सदस्यों तथा शुभेच्छुओं के लिए रणदिवे की कार्यदिशा की आलोचना करने वाला तथा नई कार्यदिशा की विस्तृत व्याख्या करने वाला केंद्रीय कमेटी का पत्र जारी कर दिया।

अगर कोई यह सोचता है कि सीपीआई अंतिम रूप से भारतीय क्रांति के सही रास्ते पर चल पड़ी है तो यह गलत होगा। सीपीआई की शुरुआत से ही इसका नेतृत्व कठमुल्लापन का, किसानों की भूमिका तथा कृषि क्रांति की उपेक्षा करने का तथा दक्षिणपंथी अवसरवाद का शिकार रहा है। लंबे समय तक, जब पार्टी गांधियन नेतृत्व की पिछलग्गू बनी हुई थी, पार्टी के भीतर खास तौर से नेतृत्व में कानूनवाद और अर्थवाद जड़ जमाये हुआ था।

अपने क्रांतिकारी बड़बोलेपन के बावजूद, डांगे जैसे अनेक शीर्ष स्तर के नेता ट्रेड यूनियनवाद में गहराई तक धंसे हुए थे और वे यह देख पाने में असमर्थ रहे थे कि कैसे कृषि क्रांति भारतीय क्रांति की धूरी बन सकती है और किसान जनता इसकी मुख्य ताकत है। दरअसल उनसे जीत–हार–जीत की प्रक्रिया से गुजरने के लिए तैयार नहीं की जा सकती थी।

पार्टी की इन चिरकालिक बीमारियों को सी.सी. की बहुसंख्या द्वारा क्रांतिकारी कार्यदिशा अपना लेने मात्र से ठीक नहीं की जा सकती थी क्योंकि उनमें इसे लागू करने के लिए किसी वास्तविक कटिबद्धता का अभाव था। एक कठिन और लंबे राजनीतिक, विचारधारात्मक और सांगठनिक संघर्ष छेड़ने की आवश्यकता थी। इस बात को समझना चाहिए था, कि राजेश्वर राव महासचिव चुने जाने तक, सी.सी. के भीतर कुछ ही सदस्य ऐसे थे, जो तेलंगाना संघर्ष द्वारा स्थापित की जा रही क्रांतिकारी कार्यदिशा में यकीन रखते थे और जिनकी संघर्ष का गंभीर अध्ययन करने में रूचि थी। तेलंगाना के सशस्त्र संघर्ष को वापस लेने का निर्णय लेने से पहले आंध्रा से बाहर कि किसी भी सी.सी. सदस्य ने तेलंगाना जाने की जहमत नहीं उठाई थी। इसलिए जून सी.सी. सदस्य के संविधान के चीनी कार्यदिशा की विजय के रूप में देखना ठीक नहीं है। इसे समझना चाहिए कि कुछ विशेष दशायें थी, जिनकी वजह से अस्थाई तौर पर चीनी कार्यदिशा प्रमुखता पा गई थी।

जिस दौरान तेलंगाना जिंदगी और मौत की लड़ाई लड़ रहा था, पूरी पार्टी को पार्टी का, मूल नीतियों पर बहस चलाने के नाम पर अस्त–व्यस्तता की स्थिति में डाल दिया गया था। इसमें कोई संदेह नहीं है कि पार्टी की कतारों में नई कार्यदिशा पर व्यापक बहस होनी चाहिए। परंतु इसे जनवादी केंद्रीयता के सिद्धांत तथा दो कार्यदिशा संघर्ष के मार्क्सवादी–लेनिनवादी तरीकों के अनुसार चलाया जाना चाहिए। वस्तुतः जनू सी.सी. ने ऐसी ही बहस की शुरुआत की थी। परंतु दक्षिण और वाम धड़ों को भंग करना जरूरी था। सितंबर

में ही, यहां तक कि जून सी.सी. अपनी नीतिगत घोषणा कर सकने में समर्थ होने से पहले ही, दक्षिणपंथी अवसरवादी गुट ने 'हमारी पार्टी में मौजूद स्थिति पर एक टिप्पणी शीर्ष वाला दस्तावेज सामने ले आया था। अजय घोष डांगे और एस.वी.घाटे के त्रिगुट के इस दस्तावेज ने सी.सी. पर, यह आरोप लगाते हुए कि वह रणदिवे की वाम संकीर्णतावादी कार्यदिशा और सांगठनिक तरीकों को ही जारी रखे हुए है, भारी हमला बोल दिया था। दक्षिणपंथी त्रिगुट के इस दस्तावेज ने तथ्यतः आंध्र नेतृत्व के सूत्रीकरण की कुछ कमजोरियों को चिन्हित किया था, जिसमें नेहरू सरकार के प्रति पूरे भारत की जनता का मोहभंग होने के बारे में अतिआकलन भी शामिल था। परंतु दस्तावेज का मुख्य उद्देश्य पार्टी को निष्क्रिय कर देना, तेलंगाना कार्यदिशा और इसके पैरोकारों को नेतृत्व से बाहर कर देना था। इस तरह से इसने पार्टी की आधारभूत नीति पर स्वस्थ बहस में कोई योगदान देने की बजाय पार्टी में भारी विभ्रम फैलाने का काम ही किया था।

जून सी.सी. का नीति वक्तव्य

नवंबर में पोलित ब्यूरो ने भारतीय जनता की जनवादी क्रांति और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी शीर्षक से नये नेतृत्व का नीति वक्तव्य जारी किया। इस दस्तावेज ने पहली बार चीनी अनुभव और माओ की शिक्षा पर आधारित, भारत की नवजनवादी क्रांतिकारी कार्यदिशा को स्पष्ट तौर पर सूत्रबद्ध किया था। संभवतः यह दस्तावेज जून सी.सी. की अकेली महत्वपूर्ण उपलब्धि यह दस्तावेज अतीतग्रस्तता से मुक्त था और पूरी ताजगी तथा स्पष्टता के साथ, नई कार्यदिशा को सीधे–सीधे प्रस्तुत करने वाला था।

वर्ग विश्लेषण के संबंध में अपने पुराने सूत्रीकरणों को दुरुस्त करते हुए, इसने साफ तौर पर इस बात पर जोर डाला था कि सशस्त्र संघर्ष अब भारतीय क्रांति के लिए संघर्ष का मुख्य रूप होगा। यह सशस्त्र संघर्ष सर्वहारा के नेतृत्व में किसान युद्ध होगा अर्थात दीर्घगामी लोकयुद्ध होगा जो पूर्वस्थापित आम बगावत से भिन्न है। दस्तावेज ने पहली बार पार्टी की सैन्य कार्यदिशा के सूत्रीकरण का प्रयास किया था।

''... यह सोचना काल्पनालोक में विचरण करना होगा कि संघर्ष के शांतिपूर्ण सामान्य रूपों के साथ क्रांतिकारी ताकतों का कानूनी रूप बना रह सकता है या कि सशस्त्र आम बगावत के जरिए पहले शहरों पर कब्जा करके क्रमशः देहाती इलाकों को मुक्त कराया जा सकता है; बल्कि हमारा रासता इसका ठीक विपरीत होगा अर्थात पहले देहाती इलाकों पर कब्जा करना फिर आगे शहरों को मुक्त कराने की ओर बढ़ना।...''

''... इस किस्म का सशस्त्र संघर्ष आवश्यक रूप से प्रत्येक मामले में सामने आने वाली विशेष परिस्थितियों के अनुसार कई अवस्थाओं और चरणों वाला होगा। हमारे मामले में... जनता को जो भी हथियार उपलब्ध होंगे, उनका इस्तेमाल करते हुए गुरिल्ला प्रतिरोध के कई चरणों से गुजरेगा और फिर विस्तृत गुरिल्ला क्षेत्रों का निर्माण करने, मुक्त क्षेत्रों को स्थापित करने, जब कभी भी परिस्थितियां अनुकूल हों, मुक्ति सेना का गठन करने तथा अंतिम जीत के लिए लगातार युद्ध करते हुए अंतिम आक्रमण के चरण की ओर बढ़ेगा।

तद्नुसार इस सशस्त्र युद्ध के रूप भी बदलेंगे अर्थात छोटे दलों द्वारा गुरिल्ला प्रतिरोध से लेकर पोजीशन लेते हुए युद्ध करने तक, विभिन्न चरणों और रूपों को अख्तियार करने होंगे।

''... इस लंबे सशस्त्र संघर्ष के दौरान, कभी ऐसी भी परिस्थिति आ सकती है कि शत्रु अपनी भारी सशस्त्र फौजों के बल पर कुछ समय के लिए हमारे मुक्त क्षेत्रों पर कब्जा कर

ले, तब हमें कुछ समय के लिए पुनः इन्हें गुरिल्ला युद्ध क्षेत्रों और प्रतिरोध इलाकों में बदल देना होगा...''

''... आधार क्षेत्रों का निर्माण करने की समस्याओं पर लगातार ध्यान बनाए रखना होगा और इसे साकार करने हेतु संकल्पित संघर्ष चलाते रहना होगा क्योंकि बिना मुक्त क्षेत्रों के इस तरह के दीर्घ और कठोर प्रकृति के गुरिल्ला युद्ध को अधिक समय तक नहीं चलाया जा सकता।''

''जब आधार क्षेत्रों का प्रश्न गंभीरता के साथ विचारणीय हो जाता है, तब राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और अन्य ऐसे ही घटकों के साथ–साथ स्थालाकृतिक और भूतलीय दशायें काफी महत्वपूर्ण हो जाती हैं।'' आगे कहा गया था कि मुक्त क्षेत्रों की स्थापना में ''पहाड़ियों और जंगली इलाके, जो विशेष रूप से अनुकूल दशायें उपस्थित करते हैं, पहले स्थान पर आते हैं; अगले स्थान पर नदियों और झीलों से आड़े–तिरछे करे इलाके आते हैं, जो शत्रु की तेज गति को कठिन बना देते हैं। मैदान अंतिम स्थान पर आते हैं, जहां मुक्त क्षेत्रों की स्थापना अत्यंत कठिन कार्य है, खास तौर पर सशस्त्र युद्ध की प्रारंभिक अवधियों में... फिर भी... फिर भी ऐसा मान लेना बड़ी भूल होगी कि सशस्त्र गुरिल्ला प्रतिरोध केवल जंगलों और पहाड़ियों में ही संभव है, मैदानों में नहीं।''

''... (सशस्त्र गुरिल्ला संघर्ष) कब कहां और कैसे शुरू किया जाना चाहिए, इस प्रश्न पर कोई छंटे और पके–पकाये नियम नहीं बनाये जा सकते। लेकिन गुरिल्ला सशस्त्र संघर्ष किसी भी मुद्दे पर क्यों न शुरू हो, तब तक इसे जमीन और जनता की सत्ता यानी जनता की ग्राम कमजोरियों से नहीं जोड़ दिया जाता, तब तक न तो इसे लंबे समय तक टिकाया जा सकता है और न ही इसको विस्तार और गहराई दी जा सकती है।''

''सशस्त्र संघर्ष, संघर्ष का मुख्य रूप बना रहता है और यह तब भी बना रहेगा जब पार्टी, किसी बड़े या छोटे– चाहे यह हमारे देश का आधा भाग, दसवां भाग या बीसवां भाग हो– क्षेत्र में तुरंत खुद को गठित करने और कार्य संचालन करने की स्थिति में ही क्यों न हो। सशस्त्र संघर्ष मुख्य रूप बना रहता है और तब भी बना ही रहेगा, जब इस सशस्त्र संघर्ष की अवस्था और रूप या इसका विस्तार गुरिल्ला प्रतिरोध का प्रारंभिक चरण ही कयों न हो।''

''यह सोचना गलत होगा कि सशस्त्र संघर्ष, संघर्ष का एकमात्र रूप है क्योंकि साथ ही साथ, सभी विचार योग्य संघर्ष के रूपों– जैसे कि आर्थिक और राजनीतिक हड़तालें, प्रदर्शन, खेतिहर मजदूरों और बटाईदारों के संघर्ष, शांति के लिए हस्ताक्षर संग्रह, चुनावों में भागीदारी आदि–आदि को चलाये बिना न तो सशस्त्र संघर्ष लंबे समय तक चलाया जा सकता है और न ही अंतिम विजय तक पहुंचा जा सकता है।''

जून सी.सी. के सामने अपनी नई कार्यदिशा के प्रति समूची पार्टी का समर्थन जुटाने के दुःसह कार्य करने के अतिरिक्त, पार्टी को मार्क्सवादी–लेनिनवादी उसूलों पर और मुख्य नेतृत्वकारी संकायों के गोपनीय संचालन के आधार पर पुनः संजीवनी प्रदान करने का और पुनः संगठित करने का दुर्गम कार्यभार भी हाथ में लेना था।

''पार्टी की वर्तमान अवस्था पर आया जाय तो इसका चरित्रांकन चरम रूप से गंभीर हालत के रूप में करना होगा। यह चातुर्दिक– राजनीतिक, सांगठनिक और वित्तीय संकटों से घिरी हुई थी। दक्षिणपंथी सुधारवाद और वाम संकीर्णतावाद नीतियों और सांगठनिक तरीकों वाले वर्षों के बुरे प्रभाव, काम करने की सभी गैर बोल्शेविक तरीके और शैलियां अब ज्वालामुखी की तरह फट पड़ी थीं जो पार्टी के भीतर चौतरफा संकट पैदा कर रही थीं।''

''जिस दौरान नई कार्यदिशा पर बहस चल रही थी, पार्टी के भीतर भारी राजनीतिक विभ्रम का बोलबाला था। विभ्रम ने पार्टी को लगभग लकवे की हालत में, निष्क्रियता की अवस्था में डाल रखा था। ... पार्टी के सदस्य... एक समय तो ऐसा आया कि वे किसी भी स्तर के नेतृत्व में अपना विश्वास खो बैठे थे– केंद्रीय कमेटी से लेकर निम्नतम स्तर की ईकाई तक में, वे विश्वास और निश्चय के साथ काम कर सकने में असमर्थ थे।''

''सांगठनिक रूप से... सभी पार्टी रूपों को हवा में उछाल दिया गया था, और पार्टी के भीतर एक अराजकता की प्रवृत्ति सर उठाती जा रही थी। पार्टी के अंदरूनी जनवाद और नौकरशाही के विरुद्ध संघर्ष के नाम पर, पार्टी–विरोधी, अवसरवादी और विघटनकारी प्रवृत्तियां सर उठाती जा रही थी।...''

''यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि पार्टी सदस्यों की बहुसंख्या अभी तक विधिवत क्रियाशील सेलों या अन्य पार्टी इकाइयों में पुनर्गठित नहीं किया जा सका था। सामान्य रूप से कहा जाय तो ऐसा कोई समुचित तकनीकी उपकरण मौजूद नहीं था जो उस शत्रु के निर्दय प्रहार का सामना कर सकता जो देश के अधिकांश भागों में पार्टी के विरुद्ध आक्रमण तेज करता जा रहा था।''

''...वास्तविक अंदरूनी पार्टी जनवाद, अर्थात पार्टी के अंदरूनी को ढालने में पार्टी की कतारें और निचली इकाइयां प्रभावकारी ढंग से भाग, नहीं ले रही थीं। समूचे तौर पर देखा जाय तो मार्क्सवाद–लेनिनवाद के मूल सिद्धांतों की और पार्टी के सामने उठ खड़ी होने वाली व्यवहारिक समस्याओं के समाधान में इसके इस्तेमाल की उचित शिक्षा न होने की वजह से, पार्टी का निम्न विचारधारात्मक स्तर, पार्टी की कतारों द्वारा पार्टी के अंदरूनी जीवन के आकार देने में प्रभावकारी ढंग से भाग लेने और पार्टी के निर्णयों तथा नीतियों को तैयार करने में अपना समुचित योगदान देने के रास्ते में, भारी रूकावट था।''

जून से सीने नव जनवादी क्रांतिकारी रास्ते के प्रति प्रतिबद्ध नेतृत्व का निर्माण करने का प्रयास किया। परंतु उन तरीकों की वजह से जो इस कार्यभार को पूरा करने के लिए अपनाये गये इसके प्रयास उल्टे पड़ गये। पहले इसने रणदिवे द्वारा सी.सी. को खुद अपने पुनर्गठन के लिए अधिकृत कर देने के जरिए अपना पुनर्गठन किया। इसने कांग्रेस द्वारा चुने गये अधिकांश सी.सी. सदस्यों को बाहर कर दिया। इससे भी बढ़कर इसने, खुद द्वारा पेश की जाने वाली कार्यदिशा पर डटे रहने को, सी.सी. का सदस्य बनने का मानदंड बना दिया। इसने दो कम परिचित सदस्यों को सी.सी. मे इसलिए ले लिया कि उन्हें किसान आंदोलन और गुरिल्ला संघर्ष का अनुभव प्राप्त था। गुप्त गैरकानूनी पार्टी बनाने की व्यग्रता में इसने छोटी कमजोरियों को गठन करने की वकालत की और छोटी कमजोरियां बनाने की तथा ऐसी कमेटियों को पुनर्गठित करने की कोशिश की जो बिखर चुकी थीं तथा निष्क्रिय थीं। इन सभी प्रयासों को, दक्षिणपंथी पक्ष ने वाम संकीर्णतावाद की निरंतरता के रूप से देखा तथा इसे बड़ा मुद्दा बना लिया और तेलंगाना कार्यदिशा को रणदिवे की कार्यदिशा के समान बताने की कोशिश की। यहां तक कि सी.पी.जी.बी. ने भी सी.सी. से एक प्रतिनिधि सी.सी. बनाने की मांग के अनुसार कार्य करने को कहा था। दरअसल, क्रांतिकारी कार्यदिशा के लिए प्रतिबद्ध, एक जुझारू क्रांतिकारी नेतृत्व का निर्माण करने के लिए अपनाये गये जल्दबाज तरीकों ने, सी.सी. के उन विरोधियों को ही मदद की, जो असली व्यवधानकारी थे और पार्टी औपचारिकताओं तथा अनुशासन का कभी भी ध्यान नहीं रखते थे।

तेलंगाना संघर्ष की नाजुक दशा

जून सी.सी. के गठन के वक्त तेलंगाना कठिन समय का सामना कर रहा था। दलों ने नेहरू की सेना का डटकर मुकाबला किया था। फासीवादियों द्वारा की जा रही हत्याओं और दमन से डरे बिना, लोग दलों का बचाव करते थे। दल नेहरू सेना के सामने डटे रहना और उस पर प्रत्याक्रमण करना सीख रहे थे। छोटे भूस्वामियों और धनी किसानों का एक हिस्सा संघर्ष से पीछे हट गया था। रवि नारायण रेड्डी और येल्ला रेड्डी जोर दे रहे थे कि नेहरू की सेना के प्रवेश के बाद संघर्ष को जारी रखना गलत है। लंबे समय तक सीपीआई द्वारा अनुसरित की जा रही अवसरवादी, संशोधनवादी कार्यदिशा की वजह से धनी किसानों का एक हिस्सा पार्टी और जनसंगठनों में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा था। नेहरू के फासीवादी आक्रमण के बाद से, इस हिस्से ने पार्टी से और आंदोलन से दूरी बना ली थी। जून सी.सी. के गठन के बाद शीर्घ ही, रवि नारायण रेड्डी पार्टी को अपने स्थान की कोई जानकारी दिये बिना बांबे चले गये थे और पी.एच.क्यू. (प्रांतीय हेड क्वार्टर) के समर्थन से तेलंगाना संघर्ष और नेतृत्व पर खुलेआम आक्रमण करने लगे थे।

तेलंगाना आंदोलन के स्वतः स्फूर्त विकास और केंद्रीय नेतृत्व की उपेक्षा की वजह से, सेना की कार्रवाई के बाद से, संघर्ष को भारी नुकसान उठाना पड़ रहा था। यद्यपि शुरू में तो दलों को नेस्तानाबूद ही कर दिया गया था, परंतु चूंकि उत्पीड़ित किसान पार्टी के साथ दृढ़तापूर्वक खड़े हुए थे, धीरे–धीरे दल, निरंतर तलाशी अभियानों और सैन्य आक्रमणों के बीच भी निपुणता के साथ कार्य करने में समर्थ हो गये थे। यह सही था कि नेहय की सेना को तुरंत वापस नहीं खदेड़ा जा सकता था, लेकिन यह पहले से ही साबित होने लगा था कि लोगों को पार्टी से विमुख करना और दलों तथा पार्टी को मिटा डालना असंभव था। संघर्ष के अन्य क्षेत्रों में विस्तार के प्रयास भी परिणाम देने लग गये थे। पहली बार सी.सी. दीर्घकालीन लोकयुद्ध को विकसित करने के लिए एक सैन्य कार्यदिशा स्थापित करने का प्रयास कर रही थी। वह अब यह समझने में समर्थ हो चली थी कि वास्तव में मात्र मुक्त गांवों को मिला देने से सही मानो में मुक्त क्षेत्र नहीं बनता। इसने आधार क्षेत्र निर्माण का काम शुरू कर दिया था। वह अब जनता की शक्ति की स्थापना और जन सेना के बीच संबंध को भी समझने लगी थी। परंतु तेलंगाना कार्य दिशा को पूरी पार्टी को ही इस कार्य दिशा के अनुरूप क्रियाशील करना जरूरी था। इस प्रश्न से परे कि जून सी.सी. या आंध्र नेतृत्व इस कार्य के लिए संमर्थ थी या नहीं, एक बात सुनिश्चित है कि जून सी.सी. के पास इस तरह के प्रयास के लिए अवसर उपलब्ध नहीं था।

जून सी. सी. गिरफ्त में

नेतृत्व का दक्षिण पक्ष इतना पतित हो चुका था कि वह सशस्त्र क्रांति से भयभीत था और साथ ही ऐसे कानूनी तथा खुली गतिविधियों के अवसर भी समाप्त होते जा रहे थे, जिनके बिना यह अपने अस्तित्व की कल्पना भी नहीं कर सकता था। यह नेहरू की छत्रछाया पाने के लिए उतावला था। वहीं वाम अवसरवादी चीनी रास्ते को पचा पाने में असमर्थ थे जिसमें निम्न बुर्जुआ किसानों की मुख्य भूमिका होती थी। दोनों में एक बात साझा थी– मजदूर वर्ग की प्रधानता के बहाने से क्रांति में किसानों की भूमिका का तिरस्कार। एफ.एल. पी. एंड एफ.पी.डी. संपादकीय के बाद नेतृत्व के दक्षिण और वाम दोनों धड़े ही यद्यपि खुलकर चीनी रास्ते को अपना समर्थन घोषित करते थे, परंतु व्यवहार में जून सी.सी. और इसकी कार्यदिशा को नेस्तानाबूद करने का हर संभव प्रयास कर रहे थे।

जब तेलंगाना कार्यदिशा बहुमत द्वारा लागू की जाने लगी तो दक्षिणपंथी अवसरवादी व्याकुल हो उठे। उन्होंने जून सी.सी. पर चौतरफा आक्रमण छेड़ दिया था, यहां तक कि सी.

पी.जी.बी. तथा आर.पी.दत्त का समर्थन भी प्राप्त कर लिया था। बिना समय गंवाए दक्षिणपंथी अवसरवादियों ने, जून सी.सी. की, जिसे दरअसल उन्होंने कभी काम ही नहीं दिया था, तथाकथित ''संकीर्ण कार्यपद्धति'' के बारे में हो हल्ला मचाते हुए, ऐसे नाजुक मोड़ पर पार्टी को लकवाग्रस्त कर दिया, जब वह तेलंगाना में, जीवन मरण का संघर्ष कर रही थी।

यहां तक कि जून सी.सी. के मुख्यालय (पी.एच.क्यू.) की स्थापना से पहले ही इस समूह ने तेलंगाना संघर्ष और आंध्र नेतृत्व पर हमला बोल दिया था। अब उन्होंने दुगुने जोश के साथ जून सी.सी. और तेलंगाना संघर्ष के खिलाफ अभियान छेड़ दिया। तेलंगाना के प्रथम दंगाबाज, रवि नारायण रेड्डी, जिसने निजाम के राज्य में सेना के प्रवेश के साथ ही यह दलील दी थी कि संघर्ष को वापस ले लिया जाना चाहिए, अपनी शरणस्थली से भाग खड़े हुए और मुख्यालय में शामिल हो गये। उन्होंने बांबे रेडियो से घोषणा की थी कि तेलंगाना संघर्ष वापस ले लिया जाना चाहिए। एक अभियान ही चलाया जा रहा था कि तेलंगाना संघर्ष के बारे में आंध्र नेतृत्व जो कुद कहता है, वह सब झूठ है। यह अभियान इतना तीखा था कि मेजर जयपाल सिंह ने जो बाद में तेलंगाना आये थे, बताया कि वे मानने लगे थे कि आंध्रा के कामरेडों की रिपोर्टों के मुकाबले नेहरू और रेडियो के बयान ज्यादा विश्वसनीय हैं। ट्रेड यूनियन नेतृत्व के लिए जो उस समय तक खुद को गांधियन कम्यूनिस्ट' समझने लगा था, रेड्डी ट्रंप कार्ड थे। बहस के नाम पर; मुख्यालय अपने खुले मंच से उनका कुत्सित प्रचार अभियान चला रहे था।

जुलाई में जेल से रिहा होने के तुरंत बाद, डांगे ने एक बयान जारी किया, जिसमें उन्होंने जून सी.सी. की भर्त्सना की थी। उन्होंने आरोप लगाया था कि जून सी.सी. अपनी ''द्वेषपूर्ण योजनाबद्ध कार्यवाही'' द्वारा इस गलत धारणा को मजबूत बनाने में लगी हुई है कि सी.पी.आई. सशस्त्र क्रांति की योजना तैयार कर रही है। यह घोषणा बांबे समूह द्वारा प्रकाशित किये जाने वाले साप्ताहिक क्रास रोड के (20 जुलाई 1950) अंक में प्रकाशित हुई थी। क्रासरोड भी जून सी.सी. तथा तेलंगाना संघर्ष के खिलाफ, कुत्सि प्रचार के एक मंच के तौर पर सक्रिय था।

पी.सी. जोशी, जो औपचारिक रूप से पार्टी से निकाले जा चुके थे, पार्टी के भीतर मौजूद दक्षिणपंथी अवसरवादियों के साथ अपना संपर्क सूत्र बनाये हुए थे। वे भी तुरंत सक्रिय हो गये। उन्होंने जून सी.सी. पर आरोप लगाया कि यह अपनी उसी पुरानी संकीर्ण वाम दुस्साहिक्ता के साथ चिपकी हुई है। फर्क बस इतना है कि अब यह चीजी रास्ते की नकल करती है। उनके लिए तो पार्टी से निष्कासन, वरदान ही सिद्ध हुआ था क्योंकि अब वे पार्टी अनुशासन की परवाह किये बिना, नेतृत्व के विरुद्ध जैसा चाहें मिथ्या प्रचार कर सकते हैं। तमाम प्रकाशनों से अलग उन्होंने इंडिया टूडे नामक पत्रिका का प्रकाशन शुरू कर दिया और जून सी.सी. के विरुद्ध खुला आक्रमण छेड़ दिया। दिसंबर तक, उन पर कमीशन नियुक्त होने के साथ ही, पार्टी में जोशी के पुनः प्रवेश के लिए, द्वार तैयार किया जा चुका था।

रूसी कम्युनिस्ट पार्टी ने भी, जो सी.पी.आई. के भीतर दक्षिणपंथी अवसरवाद के लिए बड़े समर्थक के रूप में अपनी भूमिका निभाती रही थी, अब रंगस्थल में प्रवेश किया। इसने सी.सी. को एक पत्र लिखा जिसमें उसने लगभग सभी दक्षिणपंथी आरोपों से सहमत होते हुए, जून सी.सी. को रणदिवे नेतृत्व के साथ ही कोष्ठबद्ध किया था और उससे अपने 'टीटोवादी' तौर–तरीकों त्याग देने का निर्देश दिया था।

पार्टी हेडक्वार्टर इस पत्र से संतुष्ट नहीं था। उसने आर.पी.दत्त से संपर्क स्थापित किया और उनसे एक एल.पी एंउ एफ.पी.डी. संपादकीय की ''सही'' व्याख्या के लिए प्रश्नोत्तरी के रूप में उनकी सलाह प्राप्त कर ली। आर.पी.दत्त ने लिखा था कि तेलंगाना में पार्टी

संगठन और जनता में इसका आधार विलुप्त हो चुका है। यह स्वीकार करते हुए भी कि वे आंध्र की स्थिति को नहीं जानते और इसलिए यह सुझाव देने में असमर्थ हैं कि वहां काम को कैसे जारी रखा जाए; उन्होंने टिप्पणी की थी कि यदि दूसरी कांग्रेस के बाद आंध्रा में संघर्ष के सही रूपों को अपनाया गया होता तो पार्टी बिखरने नहीं पाती। इसका सीधा अर्थ है कि परोक्ष रूप से यही कह रहे थे कि नेहरू की फौज के विरुद्ध लड़ा जाने वाला तेलंगाना का बहादुराना सशस्त्र संघर्ष गलत था। क्रास रोड पार्टी मुख्यालय के खुले मंच और रवि नारायण रेड्डी की रिपोर्टों के आधार पर ही, आर.पी.दत्त ने तेलंगाना संघर्ष और आंध्र थीसिस की आलोचना की थी। सीपीआई को यह उपदेश देते हुए कि सीपीआई के सामने उपस्थित कार्यभार नेहय के साथ मिलकर शांति स्थापना करना है, उन्होंने पार्टी को सलाह दी कि वह अपने पुराने ''राष्ट्रीय मोर्चे'' का निर्माण करे। उसने सीपीआई को आगामी आम चुनाव के लिए तैयारी करने की सलाह दी थी। पार्टी मुख्यालय द्वारा उनके सुझाओं को छापकर पूरी पार्टी में वितरित किया गया था।

आर.पी.दत्त और पार्टी के भीतर मौजूद दक्षिणपंथी गुट, दोनों ने ही एक सुर में तेलंगाना कार्यदिशा पर कपटपूर्ण हमला बोल दिया था। एक तरफ तो वे एफ.एल.पी. एंड एफ.पी.डी. के संपादकीय और क्रांति के चीनी रास्ते का झंडा उठाये हुए थे, दूसरी ओर वे संकीर्णता का झूठा आरोप लगाते हुए, तेलंगाना कार्यदिशा को, जो चीनी रास्ता ही था, बदनाम करने पर तुले हुए थे। दक्षिणपंथी गुट की भविष्य में होने वाली कार्रवाइयों ने यह स्पष्ट रूप से साबित कर दिया कि उन्होंने क्रांति के चीनी रास्ते पर टिके होने के नाम पर, दरअसल उस पर आक्रमण किया था। उन्होंने जून सी.सी. द्वारा समर्थित, तेलंगाना कार्यदिशा की गलत व्याख्या की थी और उस पर यह आरोप लगाया था कि वह मनोगत तरीके से तुरंत और ही कहीं सशस्त्र संघर्श शुरू कर देने की वकालत कर रही है। उन्होंने पार्टी और जनसंगठनों की सोचनीय दशा पर इशारा करने का प्रयास किया, मानो इसके लिए जून सी.सी. जिम्मेदार थी।

इस प्रकार पार्टी के भीतरी जनतंत्र तथा आधारभूत राजनीतिक कार्यदिशा पर संपूर्णता के साथ बहस–मुबाहिसा के नाम पर, दक्षिण पक्ष ने तेलंगाना द्वारा सामने लाई गई क्रांतिकारी कार्यदिशा पर हमला बोल दिया था। जून सी.सी. की खुद की गलतियों ने भी दक्षिण पक्ष को उनका समर्थन जुटाने में मदद पहुंचाई थी।

परंतु शुरू से ही उनकी गिरफ्त में फंसी हुई जून सी.सी. ने छः महीने के भीतर ही अपनी हार मान ली थी। सी.सी. की दिसंबर बैठक में दूसरी कांग्रेस के उन पांच सदस्यों को अपने भीतर शामिल कर लिया जो जून सी.सी. से बाहर थे। 13 सदस्यीय सी.सी. में शामिल थे; सी. राजेश्वर राव, डी. वेंकटेश्वर राव, पी. सुंदरैया, एम. बासवपुनैया, एम.एस. नंबूदरीपाद, वीरेश मिश्रा, मोनी सिंह और एस.वी. पारुलेकर जून सी.सी. से तथा अजय घोष, एस.ए. डांगे, एस.वी. घाटे, रणेन सेन मुजफ्फर अहमद और एस.एस.युसुफ पिछली दूसरी कांग्रेस से।

इनमें से पांच सदस्यों को लेकर एक पांच सदस्यीय पोलित ब्यूरो गठित किया गया, जिसमें राजेश्वर राव, ई.एम.एस. नंबूदरीपाद एस.एस.युसुफ, अजय घोष और एस.ए. डांगे चुने गये थे। राजेश्वर राव के सामान्य सचिव बने रहने; भ्राता सी.पी.एस.यू. के साथ सलाह–विचार करने के दिसंबर बैठक के खुद लिए निर्णय के बावजूद, दक्षिण पक्ष ने अपने प्रभुत्व को मजबूत कर लिया था और आधिकारिक अनुमति के साथ अपने वर्ग सहयोग की कार्यदिशा लागू करने के लिए उपयुक्त समय की बाट जोह रहा था। दिसंबर में ही आंध्र नेतृत्व दक्षिणपंथियों के दबाव के सामने लड़खड़ा गया था और तेलंगाना सशस्त्र संघर्ष को त्याग देने की ओर बढ़ चला था।

अप्रैल 1951 में पोलित ब्यूरो ने मसौदा कार्यक्रम (ड्राफ्ट प्रोग्राम) और रणनीतिक कार्यदिशा (टैक्टिकल लाइन) शीर्षक वाले दो दस्तावेज सूत्रबद्ध किये थे। यह कहा गया था कि ये दस्तावेज रूसी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व के साथ विचार–विमर्श के आधार पर तैयार किये गए थे। रणनीतिक कार्यदिशा के कानूनी प्रकाशन के लिए इसमें हल्का सा बदलाव कर दिया गया था और इसे नीति वक्तव्य के शीर्षक से प्रकाशित किया गया था। (ऐसा लगता है कि आगामी चुनावों को हैदराबाद, कोचीन तथा त्रावणकोर राज्यों में पार्टी पर लगे प्रतिबंध के उठा लिये जाने को ध्यान में रखकर ऐसा करना पड़ा था।)

मसौदा कार्यक्रम

अधिकांश हिस्से में यह आंध्र थीसिस के समान ही था।

इसने दूसरी कांग्रेस के इस सूत्रीकरण को कि क्रांति दो चरणों का सम्मिश्रण है निरस्त कर दिया था। इसने जनता के जनवादी क्रांतिकारी अवस्था के रूप में क्रांति की मौजूदा अवस्था के चरित्र को सही पहचान की थी।

इसने दूसरी कांग्रेस के इस सूत्रीकरण को नकार दिया कि समस्त भारतीय बुर्जुआ ही प्रतिक्रियावादी है। इसने सभी साम्राज्यवाद विरोधी, सामंतवाद विरोधी ताकतों का जो देश की स्वतंत्रता के आकांक्षी है एक मोर्चा बनाने के लिए आह्वान किया था जिसमें राष्ट्रीय बुर्जुआ को भी शामिल किया जाना था।

सत्ता हस्तांतरण के द्वारा निर्मित सरकार केवल साम्राज्यवादियों के सेवा करती है। हमने जो आजादी प्राप्त की है, वह नकली है। नेहरू की सरकार ''भूस्वामियों और एकाधिकारी पूंजीपतियों'' की सरकार है। नेहरू सरकार न केवल ब्रिटिश सरकार की सेवा करती है अपितु वह अमरीकी साम्राज्यवाद को भी भारत में प्रवेश करने की अनुमति देती है। मुख्यतः ब्रिटिश साम्राज्यवाद की विदेश नीति का अनुगमन करती है।

जहां तक भारत की आजादी का सवाल है, ब्रिटिश साम्राज्यवाद मुख्य दुश्मन है। परंतु विश्वासघात का मुख्य दुश्मन अमरीकी साम्राज्यवाद है।

''हमारी पार्टी करोड़ों श्रमजीवियों, मजदूरों, किसानों, श्रमिक बुद्धिजीवियों का, मध्यवर्ग का तथा साथ ही राष्ट्रीय बुर्जुआ का, उन समीक्षा को देश की आजादी और विकास की तथा समृद्धिशाली जीवन की चाह रखते हैं– देश की संपूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए, सामंतों के उत्पीड़न से किसानों को मुक्त करने के लिए एक साझा जनतांत्रिक मोर्चे में एकजुट हो जाने हेतु आह्वान करते हैं...।''

रणनीतिक कार्यदिशा

1. यह भारत और चीन के बीच समानताओं और असमानताओं का सही विश्लेषण करती है।

समानतायें हैं : (अ) हमारी क्रांति का चरित्र : हमारी क्रांति सामंतवाद–विरोधी तथा साम्राज्यवाद–विरोधी है; (ब) दोनों ही देशों में कृषि और किसानों का सवाल पहला महत्व रखता है; (स) चीन और भारत मिलकर विशाल भूक्षेत्र बनाते हैं; (द) चीन और भारत में किसानों की विशाल जनसंख्या मौजूद है।

असमानताएं हैं : (अ) चीन के पास एक सेना है जिसकी विरासत 1925 में हुई क्रांति में फूट तक जाती है ; (ब) चीन के पास एकीकृत, बढ़िया संचार प्रणाली मौजूद नहीं है; (स) भारत के पास, चीन के पास उसकी स्वतंत्रता के समय मौजूद मजदूर वर्ग के मुकाबले अधिक

बड़ा श्रमिक वर्ग है; (द) चीन की लाल सेना को बार–बार विलुप्त हो जाने का खतरा झेलना पड़ा था, जब तक कि यह मंचूरिया नहीं पहुंच गई थी।

2. लेकिन यह इस निष्कर्ष पर पहुंचती है कि भारतीय क्रांति का रास्ता न तो रूसी रास्ता है, न ही चीनी रास्ता। यह मार्क्सवादी–लेनिनवादी रास्ता होगा जो भारतीय दशाओं में लागू होगा। इस प्रकार रणनीतिक कार्यदिशा ने दीर्घकालीन लोकयुद्ध के रास्ते को अस्वीकार कर दिया? उस नव जनवादी क्रांतिकारी रास्ते पर जो तेलंगाना किसान आंदोलन से रौशन हो रहा था, ग्रहण लग गया था।

''इस प्रकार का दृष्टिकोण, दरअसल इस बात को उपेक्षित कर देता है कि हमारे पास एक बड़ा श्रमिक वर्ग है, और यह स्वतंत्रता के लिए हमारे संघर्ष में निर्णायक भूमिका निभा सकती है। श्रमिक वर्ग और किसान के बीच महान संश्रय जो कदम मिलाकर चलने वाला होगा, कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में मजदूरों और किसानों के संघर्षों का सम्मिलन और संघर्षों को चलाने के लिए इतिहास से प्राप्त सबकों का इस्तेमाल ही हमारा रास्ता होगा।''

3. यह इस बात को मान्यता देता है कि धनी किसान एक ऐसी ताकत है, जिसे हमको अपने मोर्चे में शामिल होने के लिए कायल करना होगा।

4. इसने इसे मान्यता दी कि भारतीय क्रांति सिर्फ सशस्त्र क्रांति के रूप में ही संभव है। इसने घोषित किया कि संघर्ष के सभी रूप और कानूनी अवसरों का इस्तेमाल करना चाहिए।

''संघर्ष के सभी रूपों को अपनाते हुए जिनमें नितांत प्रारंभिक रूप भी शामिल होंगे, जनता को आंदोलित करने के लिए सभी कानूनी संभावनाओं का इस्तेमाल करते हुए और उसे स्वतंत्रता और जनतंत्र के लिए संघर्ष के रास्ते पर आगे ले जाते हुए भी, कम्युनिस्ट पार्टी हमेशा ही यह मानती है रही हैं कि भारत में मौजूद वर्तमान औपनिवेशिक व्यवस्था रहते हुए तथा किसी वास्तविक आजादी की अनुपस्थिति को देखते हुए, कानूनी और संसदीय संभावनायें बुरी तरह बाधित हैं और इसलिए यह कि साम्राज्यवादी–सामंतवादी व्यवस्था को स्वीकार और संचालित करने वाले वर्तमान राज्य को नष्ट करके उनक उसके स्थान पर जनता का जनवादी राज्य कायम करना जनता की सशस्त्र क्रांति के जरिए ही संभव है।''

5. चुनावों के प्रति सिद्धांत ''हमें संसदीय चुनावों में और हम एक उन क्षेत्रों के चुनावों का इस्तेमाल करना चाहिए जहां जनता के व्यापक तबकों को आंदोलित और गोलबंद किया जा सके और उनके हितों की हिफाजत की जा सके।''

6. देहाती क्षेत्रों में चलने वाले पक्षधर युद्धों को शहरों में मजदूरों को विद्रोहों के साथ जोड़ा जाना चाहिए।

''...सभी औपनिवेशिक देशों के मामले में पक्षधर युद्ध हमारे प्रमुख हथियारों में अवश्य शामिल होना चाहिए। लेकिन यह हथियार अकेले हमारी जीत सुनिश्चित नहीं कर सकता। इसे अन्य प्रमुख हथियारों के साथ साथ काम में लाना होगा जैसे मजदूर वर्ग की हड़तालें, मजदूर वर्ग की सशस्त्र टुकड़ियों की अगुवाई में शहरों में सामान्य हड़ताल और विद्रोह। इसलिए जनता की जनवादी क्रांति की जीत हासिल करने के लिए क्रांति के दो मूलभूत घटकों– किसानों का लोक युद्ध और शहरों में मजदूर विद्रोह, को एकबद्ध करना नितांत आवश्यक है।''

''...भारत में मौजूद ठोस परिस्थितियों में लोक युद्ध अकेले शत्रु पर विजय सुनिश्चित नहीं कर सकता, चाहे इसका कितना भी विस्तार क्यों न हो जाए। जब घनीभूत होता हुआ संकट जनपक्षधर शक्तियां अनेक क्षेत्रों में शत्रु के खिलाफ लड़ रही होती है, तब शहरों में, अनिवार्य उद्योगों में कार्यरत मजदूरों की भूमिका निर्णायक हो जाती है।...''

''हर तरह के समय पूर्व आंदोलनों और दुस्साहसी कार्रवाइयों का निःसंदेह परित्याग कर दिया जाना चाहिए। साथ ही यह कहना भी गलत होगा कि लोकयुद्ध के रूप में हथियारबद्ध संघर्ष को प्रत्येक विशेष क्षेत्रों में केवल तभी छेड़ना चाहिए जब पेशे के सभी क्षेत्रों में चलने वाले जनांदोलन जनविद्रोह के स्तर तक पहुंच जायें।''

7. यह कहा गया है कि शांति के लिए आंदोलन का निर्माण करने की जरूरत है। लेकिन यह स्पष्ट होना चाहिए कि नेहरू की विदेश नीति शांति की नीति नहीं है अपितु अमेरिका, जो शांति का मुख्य दुश्मन है, और इसके कनिष्ठ साझीदार ब्रिटेन के साथ शत्रु सहयोग है।

हमें यह याद रखना चाहिए कि ये दोनों दस्तावेज समझौते के दस्तावेज थे। मौटे तौर पर राजनीतिक थीसिस आंध्र थीसिस के समान ही थी, लेकिन रणनीति के तौर पर चीनी रास्ते को त्याग कर दिया गया था। इसने क्रांति में किसानों के महत्व को कम दिया गया था। पार्टी के भीतर घुसे हुए दक्षिणपंथी अवसरवाद का, पार्टी कार्यक्रम से क्रांतिकारी कार्यदिशा को हल्का करते हुए समाप्त कर देने के प्रयास का, एक आगे बढ़ा हुआ निर्णायक कदम था। मई 1951 की सी.सी. बैठक ने इन दस्तावेजों को स्वीकृत कर लिया। तेलंगाना कार्यदिशा पर आक्रमण करने वाली तिकड़ी के एक सदस्य, अजय घोष महासचिव बन गये थे।

धोखा और संशोधन की राह पर कदम

1951 की मई–जून बैठक तेलंगाना सशस्त्र संघर्ष को वापस ले लेने के निर्णय पर जा पहुंची। सच है कि सी.सी. ने वापस लेने का निर्णय सीधे तौर पर नहीं लिया था। यह द्विअर्थी भाषा बोल रही थी, कि संघर्ष के भविष्य के बारे में निर्णय तेलंगाना की जनता को लेना है। लेकिन सी.सी. का कहना था कि सितंबर 1948 में नेहरू की फौज के दाखिले के बाद से संघर्ष को, संघर्ष द्वारा प्राप्त फलों को सहेजने के लिए ही जारी रखना चाहिए। नेहरू शासन के विरुद्ध मुक्ति के लिए युद्ध छेड़ना गलत होगा। अर्थात जनता को अब कब्जा की जा चुकी भूमि की हिफाजत के लिए जनतांत्रिक अधिकारों आदि के लिए ही संघर्ष करना चाहिए। इसका सोचना था कि 1948 में ही नेहरू के साथ एक समझौते पर पहुंच जाना चाहिए था। इसलिए अब इसने मोलभाव शुरू कर दिया था। इसने एक छलनाट्य किया कि तेलंगाना के भविष्य का निर्णय तेलंगाना के लोग लेंगे जबकि यह खुद मोलभाव में लगी हुई थी। (तेलंगाना की जनता से सलाह लेने के) सचमुच खुले जाने से पहले, सी.सी. ने खुली घोषणा की थी कि यह तेलंगाना मुद्दे को वार्ता से सुलझाने को तैयार है।

''कुछ घेरों में ऐसा विश्वास किया जाता है कि तेलंगाना संघर्ष नेहरू सरकार को उखाड़ फेंकने के लिए है। ये घेरे इस तथ्य की उपेक्षा कर देते हैं कि सामंती भूस्वामियों और निजाम के उत्पीड़न के विरुद्ध किसानों का भूमि संघर्ष 1946 में, नेहरू सरकार के अस्तित्व में आने से पहले शुरू हो चुका था।''

''और नेहरू सरकार की फौज के निजाम के राज्य में प्रवेश के बाद, यह संघर्ष उन भूस्वामियों से किसानों की सुरक्षा मात्र के लिए जारी है, जिन्हें नेहरू सरकार ने निजाम के साथ गठबंधन करके पुनः काबिज किया जा रहा है, उसी निजाम के साथ जिसे बेदखल करने का नाटक करते हुए इसने राज्य में प्रवेश किया था।''

यह कुछ मांगों के साथ, समझौता करने के लिए तैयार थी, जैसे कि (1) भूमि को किसानों द्वारा जोता जाए और खेतिहर मजदूरों को उन्हीं के साथ संबंध कर दिया जाए (2) फौजों एवं अर्द्धफौजों को वापस बुला लिया जाए (3) राजनीतिक कैदियों को रिहा कर दिया

जाए। इस उद्देश्य के लिए एक कमेटी भी नियुक्त कर ली गई जिसके सदस्य थे ए.के. गोपालन, ज्योति बसु और मुजफ्फर अहमद।

इसमें संदेह नहीं है कि पार्टी, दलों और किसान आंदोलन को गहरा धक्का लगा था, क्योंकि वे फौजी दखल की अपेक्षा नहीं रखते थे, उनका मुकाबला करने की कोई तैयारी नहीं थी। गुरिल्ला ताकतें संख्याबल रूप से 2000 से घटकर 500 रह गई थी। लेकिन महत्वपूर्ण बात तो यह है कि ये गुरिल्ला ताकतें नेहरू की उस फौज के सामने तीन वर्षों तक टिकी रही थी, जो इस भोकाल के साथ तेलंगाना में प्रविष्ट हुई थी कि बस एक हफ्ते की बात है और वह कम्युनिस्टों का सफाया कर देगी। यह अनुभव करके कि फौजी कार्रवाई से इसका समाधान संभव नहीं है, नेहरू ने 1950 के अंत तक सी.पी.आई. को संदेश भेजने शुरू कर दिये थे।

मई–जून 1951 की केंद्रीय कमेटी की बैठक के समय ही आंध्र के सी.सी. सदस्यों ने तेलंगाना संघर्ष के भविष्य पर विचार–विमर्श करने के लिए अलग से बैठक की थी। बैठक के लिए राजेश्वर राव तैयार किये गए मसौदा स्पष्ट रूप से उन सभी दलीलों को खारिज करता था, जो साबित करना चाहती थी कि तेलंगाना संघर्ष ने जनता का समर्थन खो दिया है, कि अब गुरिल्ला लड़ाई की जगह मात्र व्यक्तिगत हिंसात्मक कार्रवाई चल रही है और यह कि संघर्ष को आगे जारी रखना संभव नहीं है। मसौदे में कहा गया था कि आगे जारी रखने की सभी आवश्यक दशायें मौजूद हैं। जनता के चेतना विकसित करते हुए और जन संगठनों के संगठनात्मक ढांचों को मजबूत करते हुए संघर्ष को जारी रखा जाना चाहिए। राजेश्वर राव ने कहा था :

''अवर्णनीय अत्याचारों के बावजूद, जनता भोजन मुहैया करा रही है, आने–जाने, लाने–ले जाने की व्यवस्था कर रही है और शत्रु की गतिविधियों के बारे में अविलंब सूचनाएं जुटा रही है। वे खुद भी छोटे–छोटे दलों में संगठित हो रहे हैं। वे बांटी गई जमीनों की तथा जीती गई विजयों की तमाम तरीकों से हिफाजत कर रहे हैं।''

''वे न केवल अपनी रोजाना की समस्याओं के विरुद्ध संघर्ष चलाते हैं, वरन् शत्रु की सेना पर किये जाने वाले आक्रमणों में भी हिस्सा लेते हैं। परंतु अभी तक जनभागीदारी का इतना विस्तार नहीं हो सकता था जितना सशस्त्र गुरिल्ला युद्ध को मजबूती के साथ जारी रखने के लिए आवश्यक था। इसका मुख्य कारण ये कमजोरियां थी। अगर हम इन कमजोरियों को दूर कर लेते हैं तो जनता को विस्तृत संघर्षों में खींच लाना संभव हो सकेगा।''

यह ध्यान में रखते हुए कि सामान्य जन सशस्त्र गुरिल्ला संघर्ष को जारी रखने के लिए पूरी तरह तैयार हैं, शत्रु शिविर जो जन से कट चुका है और जो आंतरिक अंतर्विरोधों और अफरा–तफरी से ग्रस्त है, तीव्र होते आर्थिक संकट की वजह से भारत के कुछ हिस्सों में जनता के स्वतःस्फूर्त उद्वेलन अपनी रोजाना की मांगों के लिए तीखे संघर्ष की ओर बढ़ रहा है तथा कांग्रेस अखिल भारतीय स्तर पर विखंडित होती जा रही है, यदि हम अपनी कमजोरियों को दूर कर लें तो तेलंगाना में अपने सशस्त्र संघर्ष को जारी रख सकते हैं।''

सत्तासीन वर्गों की कमजोरियों के अति आकलन के बावजूद, यह आकलन स्पष्ट रूप से यह दिखाता है कि संघर्ष पुनर्योजन की प्रक्रिया से गुजर रहा था और इसे जारी रखा जा सकता था। लेकिन राजेश्वर राव, जो दक्षिणपंथी दबाव के आगे कमजोर पड़ गये थे और एक जोशी में परिणत हो जाने की ओर अपनी यात्रा शुरू कर चुके थे, इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे :

''परंतु हमें हमारी पार्टी के नये कार्यक्रम और नई रणनीति के अनुसार अपने आंदोलन को नये पथ पर ले जाना होगा।''

''नेहरू सरकार को उखाड़ फेंकने और जन सत्ता की स्थापना करने की बजाय, हमारे आंदोलन का उद्देश्य भूमि और जनांदोलन की सुरक्षा करना और फौज, होमगार्डों, भूस्वामियों की दमनकारी नीति का प्रतिरोध करना होना चाहिए। इन न्यूनतम मांगों की प्राप्ति के लिए सशस्त्र संघर्ष को जारी रखा जाना चाहिए। इसी तरह से यह मांग भी उठानी चाहिए कि आम वयस्क चुनावों के जरिए चुनी गई संविधान सभा द्वारा ही राज्य का भविष्य तप किया जाये।''

संघर्ष की उपलब्धियों की सुरक्षा के लिए शांतिपूर्ण समाधान के लिए वार्ता के दौरान संघर्ष को जारी रखने के, सी.सी.द्वारा पारित प्रस्ताव के प्रति आदर भी न दिखाते हुए पोलित ब्यूरो ने उक्त प्रस्ताव प्रेस के लिए जारी कर दिया। यहां तक कि इसने गुरिल्लाओं की ''व्यक्तिगत हिंसा'' की भर्त्सना भी की। नेहरू ने, जो यह समझ चुके थे कि सीपीआई संघर्ष को वापस लेने का बहाना तलाश रही है, एक दुराग्रहपूर्ण अवस्थिति अपना ली और सीपीआई के साथ किसी भी तरह की वार्ता चलाने से इंकार कर दिया और यह मांग कि संघर्ष को बिना किसी शर्त के वापस लिया जाए। यहां तक कि वार्ता समिति को जेल में बंद नेताओं से मशविरा करने की अनुमति भी नहीं दी गईं 21 अक्टूबर 1951 को सी.सी. और विशाल आंध्रा समितियों ने अत्यधिक अपमान जनक तरीके से एकतरफा बिलाशर्त संघर्ष वापसी की घोषणा कर दी। लेकिन नेहरू सरकार जो 1945 से ही सीपीआई को विनष्ट कर डालने की योजना पर काम कर रही थी, सेना को वापस नहीं बुलाया। इससे बढ़कर इसने सेना का आक्रमण तीव्र कर दिया। संघर्ष को वापस लिए जाने के छः महीने के बाद तक गुरिल्ला दलों को आत्मरक्षा के लिए नेहरू की सेना के विरुद्ध हथियारबंद संघर्ष चलाना पड़ा था।

सीपीआई के नेतृत्व ने न केवल भारतीय जनवरी क्रांति को और तेलंगाना के किसान संघर्ष को ध्वंस कर डाला था बल्कि संघर्ष वापस लेने के बाद भी दलों, कार्यकर्ताओं और जनता की सुरक्षा की अवहेलना करते हुए, गुटीय टकरावों में लिप्त रही थी। पूरा ही नेतृत्व 1952 के चुनावों का उत्सुकता के साथ इंतजार कर रहा था। नवनिर्वाचित सी.सी. के महासचिव अजय घोष ने तो आंध्र नेतृत्व को यह धमकी तक दे डाली थी कि वे उन गुरिल्लाओं द्वारा किये जा रहे प्रतिरोध की विभिन्न घटनाओं की सार्वजनिक रूप से निंदनीय घोषित कर देंगे, जो संघर्ष की वापसी के बाद भी जारी सैन्य आक्रमणों के विरुद्ध अपनी जीवन रक्षा के लिए लड़ने को बाध्य थे। तेलंगाना की जनता और दलों द्वारा अपने विचारों को दृढ़तापूर्वक रखे जाने से पहले ही सी.सी. ने संघर्ष वापसी की अपनी राय घोषित कर डाली थी। आंध्र सचिवालय ने स्पष्ट रूप से कहा था कि दलों की बहुसंख्या बिला शर्त संघर्ष वापसी के खिलाफ है। परंतु उस समय नेतृत्व का एकमात्र उद्देश्य जितनी जल्दी संभव हो तेलंगाना संघर्ष से छुटकारा पा लेना और आगामी चुनावों के लिए तैयारी करना था। सरकार ने इस कमजोरी का, संघर्ष की बिलाशर्त वापसी के लिए दबाव डालने हेतु, पूरा उपयोग किया था।

नेतृत्व के बीच गुटीय संघर्ष

जिस दौरान तेलंगाना के लोग और गुरिल्ला दल अभी भी नेहरू के सेना से मुकाबला कर रहे थे, नेतृत्व के बीच गुटीय टकराव चरम पर जा पहुंचे थे। तेलंगाना के पहले गद्दारों रवि नारायण रेड्डी, येला रेड्डी और राजबहादुर गौड़, अजय घोष के मौन समर्थन के साथ अपनी विघटनकारी गतिविधियों तेज कर दी थी। यह आरोप लगाते हुए कि आंध्रा नेतृत्व की वजह से आंदोलन 1949 से बर्बाद हो चुका है, उन्होंने आंध्रा के कामरेडों को तेलंगाना से

वापस भेज देने की मांग की। उन्होंने खुले रूप से उन जमींदारों का समर्थन किया, जिन्होंने किसानों से जमीन वापस छीनना कब्जा करना शुरू कर दिया था। उन्होंने सार्वजनिक रूप से भूमिगत नेतृत्व का विरोध किया और उनके विरुद्ध झूठा कुत्सा प्रचार चलाया। जबकि पार्टी की आधिकारिक नीति भाषाई राज्यों के निर्माण की मांग थी। अजय घोष रणदिवे के समान आंध्र नेतृत्व की एकता भंग करने पर अमादा थे और उन्होंने सीधे सी.सी. के अधीन हैदराबाद राज्य की प्रांतीय समिति बनाने का प्रयास किया। चुनाव समिति के नाम पर उन्होंने रवि नारायण रेड्डी, देशपांडे गुट के साथ एक वैकल्पिक प्रांतीय कमेटी बना ली थी।

तेलंगाना नेतृत्व के हित से अपनी गद्दारी के बाद से स्वयं भी कमजोर पड़ चुका था और राजेश्वर राव, जो दक्षिणपंथी गुट के कट्टर नेता थे, सुंदरैया के साथ, जो वासवपुन्नैया के रूप में अपना सहयोगी पा गये थे, सींग टकराना शुरू कर दिया था।

सी.पी.एम उस समय की सी.सी. और राज्य सचिवालय के दृष्टिकोण का समर्थन करती है। उसने इस दृष्टिकोण की पुष्टि की थी कि नेहरू सेना के प्रवेश करने के समय ही, बहस आयोजित की जानी चाहिए थी तथा संघश्र की जीतों की सुरक्षा के लिए लड़ने के दौरान ही किसी समझौते पर पहुंच जाना चाहिए था। सी.पी.आई. रवि नारायण रेड्डी की दलीलों का समर्थन करती है। उनकी दलील थी कि ज्यों ही नेहरू सेना ने प्रवेश किया संघर्ष को वापस ले लिया जाना चाहिए था। दोनों ही पार्टियों का एकमत विचार है कि तेलंगाना का संघर्ष केवल निजाम के निरंकुश शासन के विरुद्ध था। यह मुक्ति आंदोलन नहीं था। मतभेद केवल इस बात पर है कि संघर्ष की वापसी किस तरीके से की जानी चाहिए थी।

आंध्रा नेतृत्व ने जिसने तेलंगाना के किसानों के शानदार संघर्षों से उभर कर सामने आये दीर्घ लोकयुद्ध के रास्ते थे ''आंध्र थीसिस के रूप में प्रतिपादित किया था, स्वयं ही इस कार्यदिशा का परित्याग कर दिया था। केंद्र में स्थित दक्षिणपंथियों के साथ हाथ मिलाकर, इसने तेलंगाना संघर्ष की पीठ में छूरा भोंक दिया था। इसने भारतीय जनवादी क्रांति का ध्वंस कर डाला था। सी.पी.आई. नेतृत्व ने संसदीय रास्ता अपना लिया था और दलाल पूंजीपतियों के विश्वसनीय तथा सम्मानित विरोध पक्ष बन जाने की ओर बढ़ा दिये थे। तेलंगाना संघर्ष को नष्ट करने के समय से ही, सी.पी.आई. का इतिहास, भारत की शोषित–उत्पीड़ित जनता के क्रांतिकारी नेतृत्व की भूमिका से बुर्जुआ वाम पार्टी के रूप में पतन का इतिहास है।

अक्टूबर 1951 में सी.पी.आई. का अखिल भारतीय सम्मेलन आयोजित हुआ था। इस सम्मेलन ने मसौदा कार्यक्रम तथा रणनीतिक कार्यदिशा (नीति वक्तव्य) पारित किया था। अजय घोष पुनः सचिव चुन लिये गये थे। पार्टी संसदीय चुनावों के लिए तैयार हो रही थी।

1952 के पहले आम चुनाव में कांग्रेस पार्टी ने संसद पूर्ण बहुमत प्राप्त किया था। हालांकि ज्यादातर सीटें पचास प्रतिशत से कम मतों से जीती गई थीं। सत्ता हस्तांतरण के बाद हुए प्रथम आम चुनाव में भी कांग्रेस मतों का बहुमत (पचास प्रतिशत से अधिक) नहीं पा सकी थी।

सी.पी.आई. प्रमुख विपक्षी दल के रूप में सामने आई थी। सी.पी.आई. का दक्षिणपंथी नेतृत्व और इसके विदेशी प्रवक्ता आर.पी.दत्त दलील देते आये थे कि 1948 के बाद संघर्ष जारी रखने के कारण तेलंगाना का जनाधार समाप्त हो गया है। सी.पी.आई. ने तेलंगाना तथा आंध्र क्षेत्रों में भारी सफलता प्राप्त की थी। पार्टी ने 85 विधान सभा सीटें और 19 संसदीय सीटें जीत ली थी। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि पार्टी को केवल उन्हीं इलाकों में जन समर्थन हासिल हुआ था, जहां इसने जुझारू संघर्ष छेड़ा था। परंतु सी.पी.आई. नेतृत्व

को बहरहाल संसदीय चुनाव सत्ता प्राप्ति का एक सरल मार्ग (शार्टकट) रास्ता प्रतीत होता था। मसौदा कार्यक्रम और रणनीतिक कार्यदिशा में सशस्त्र संघर्ष का रास्ता मात्र कागज पर ही शेष रह गया था।

संक्षिप्त सारांश

कम्युनिस्ट पार्टी ने आंध्र इलाके से सटे, निजाम राज्य के तेलंगाना जिलों में, 1930 के अंत से कार्य करना प्रारंभ किया। कम्युनिस्टों ने सर्वप्रथम अपनी गतिविधियां की शुरुआत एक उदार बुर्जुआ संगठन 'आंध्र महासभा' में पहले शामिल हो कर की थी। क्रूर सामंती उत्पीड़न और शोषण के नीचे पिस रहे किसान वर्ग ने पार्टी के सामने सामंत विरोधी किसान वर्ग ने पार्टी के सामने सामंत विरोधी किसान वर्ग का मुद्दा पेश किया था। कम्युनिस्टों की सक्रिय भागीदारी की वजह से सभा क्रमशः सामंत विरोधी संघर्षों के एक बड़े मंच में बदलती जा रही थी। जब से पार्टी ने सामंत विरोधी संघर्ष को अपने हाथ में लिया तब से कम्युनिस्टों के नेतृत्व में किसानों की विशाल जनसंख्या संगठित होने लगी थी। पार्टी ने सभा पर अपना नेतृत्व कायम किया और इसे सामंतवाद विरोधी व्यापक मोर्चे में रूपांतरित कर दिया। सभा के सामंतवाद विरोधी संघर्षों के मंच में इस रूपांतरण से विछुब्ध दक्षिणपंथी सभा छोड़कर चले गये।

सामंती भूस्वामियों ने निजाम की पुलिस को उन किसानों का दमन करने के लिए खुला छोड़ दिया जो उस समय सामंतवाद विरोधी एक मजबूत संगठित शक्ति के रूप में उभर रहे थे। निजाम और भूस्वामियों की सशक्त टुकड़ियाँ ग्रामीण जनों पर भीषण जोर जोर जुल्म ढाने में लगा दी गईं। वे किसान, जिन्होंने अपने आंशिक मुद्दों जैसे वेट्टी का उन्मूलन, भूमि से बेदखली रोकने आदि पर संघर्ष करना शुरू किया था, अपने सुरक्षा के लिए हथियार उठाने को बाध्य हो गये थे। दक्षिणपंथी पार्टी नेतृत्व ने पहले उन्हें बंदूकें उठाने की अनुमति नहीं दी थी। बंदूकों के बिना ही पार्टी नेतृत्व के अंतर्गत जनता ने निजाम की फौजों और भूस्वामियों के गुंडों के विरुद्ध वीरतापूर्वक प्रतिरोध संघर्ष खड़ा किया था और उन्हें पीछे धकेल दिया था। कृषक जनों का प्रतिरोध जंगल की आग की मानिंद फैल गया था और इसने निजाम के विरुद्ध मुक्ति युद्ध का रूप लेना शुरू कर दिया था।

विशेष रूप से सत्ता हस्तांतरण के बाद से किसान संघर्ष तेलंगाना में व्यापक और तीव्र हो गया था। किसानों ने, जमीन जोतने वालों की – नारे के आधार पर भूस्वामियों की जमीनों पर कब्जा करना शुरू कर दिया था। इन संघर्षों ने निजाम की सामंती सत्ता की चूलें हिला दी। पुलिस, फौज और रजाकार गुंडा दलों ने मिलकर किसानों के दमन के लिए और पार्टी को नष्ट करने के लिए हमला बोल दिया। पार्टी ने लोगों को सशस्त्र प्रतिरोध संघर्ष और प्रत्याक्रमण के लिए तैयार किया। किसानों के गुरिल्ला दल संगठित किए गये थे। नेहरू की फौजी कार्रवाई के समय तक करीब 3000 गाँवों में निजाम के सामंती शासन को उखाड़ फेंका गया था और जन सत्ता की प्रतीक पंच समितियाँ निर्मित कर ली गई थीं। उन मुक्त गाँवों में जन सत्ता अंकुरण होने लगा था। इस कृषि क्रांतिकारी उफान से ही भारत की क्रांतिकारी जनदिशा के तौर पर दीर्घकालीन लोक युद्ध की कार्यदिशा उभर कर सामने आई थी और तेलंगाना थीसिस के रूप में इसने अभिव्यक्ति पायी थी। आंध्र सचिवालय ने तेलंगाना संघर्ष के अपने अनुभवों के आधार पर भारतीय क्रांति के लिए नव जनवादी कार्यदिशा को सूत्रबद्ध किया था। आंध्र थीसिस ने भारत में पहली बार घोषणा की थी कि भारत में क्रांति ''भूमि जोतने वालों को'' के केन्द्रीय नारे के साथ, कृषि क्रांति के आधार पर मुख्य ताकत के रूप में किसानों को आगे करते हुए चीनी क्रांति के पथ का अनुसरण करेगी।

परंतु केन्द्रीय नेतृत्व इस संघर्ष के वास्तविक महत्व को समझ नहीं सका और उसने इस घोषणा को उपेक्षित कर दिया। जिस समय केन्द्रीय फौजों ने राज्य में प्रवेश किया, उस समय तक पार्टी फौज का सामना करने को बिल्कुल ही तैयार नहीं थी। केन्द्रीय नेतृत्व ने उस समय के लिए, जब कभी केन्द्रीय सेना दखला करेगी, संघर्ष के भविष्यगामी पथ के लिए किसी योजना या आकलन पेश करने की जरूरत ही नहीं समझी थी। पार्टी के ज्यादातर लोगों को तो इस बात का कोई अंदेशा ही नहीं था कि उन्हें नेहरू की फौज से लड़ना पड़ेगा। दरअसल पार्टी में नेहरू को लेकर अभी भी भारी विभ्रम कायम था।

नेहरू के कम्युनिस्टों से निःशर्त में कब्जा की गई भूमि वापस लौटाने की माँग की। परंतु पार्टी और जनता वीरतापूर्ण संघर्ष और महान बलिदानों से प्राप्त विजय को खो देने के लिए तैयार न थे। नेहरू सेना ने पार्टी, गुरिल्ला दलों और जनता की सन्त को नेस्तानाबूद करने और सामंती व्यवस्था को पुनः स्थापित करने के लिए तेलंगाना में आतंक का राज तांडव छेड़ दिया जो तीन साल तक चलता रहा था।

पार्टी, दलों और जनता की तैयारी न होने की वजह से आंदोलन का भारी नुकसान उठाना पड़ा। भूस्वामियों का एक छोटा हिस्सा और धनी किसानों का एक हिस्सा, जो निजाम के विरुद्ध संघर्ष में किसानों के साथ था स्वभावतया संघर्ष से अलग हो गया था। परंतु गरीब मझोले किसान पार्टी के पीछे मजबूती से खड़े रहे और उन्होंने नेहरू सरकार के खिलाफ बहादुराना मुक्ति संघर्ष जारी रखा।

यह निर्णय लिया गया कि शत्रु को तितर–बितर के लिए संघर्ष का विस्तार किया जाये और एक मजबूत प्रतिरोध खड़ा करने के लिए ऐसे छोटे दलों की स्थापना की जाये, जो जनता में आसानी से विलीन हो सकें। यह भी निश्चय किया गया कि व्यापक जनता के मुद्दों को लेकर संघर्ष छेड़ा जाय और जनता की सत्ता को थोड़ा ही समय लगा था और वे पार्टी के पीछे दृढ़तापूर्वक खड़े हो गये थे। परिणामस्वरूप 1950 के अंत तक पार्टी आंदोलन को स्थाई करने में समर्थ हो गई थी। सफलतापूर्वक अपनी सुरक्षा करते दलों ने सेना पर आक्रमण करना शुरू कर दिया था। परंतु पार्टी के नेतृत्व की कठोर प्रवृत्ति के चलते देश के भागों की तेलंगाना संघर्ष के साथ एकता स्थापित न हो सकी थी। आंध्रा की पार्टी ने अकेले नेहरू की सेना के विरुद्ध जनता का नेतृत्व किया था।

रणदिवे की वाम दुस्साहस तथा संकीर्णतावाद की कार्यदिशा के खिलाफ पार्टी में व्यापक विरोध की मौजूदगी तथा एफ.एल.पी. एंड एफ.पी.डी. सम्पादकीय ने, जिसमें औपनिवेशिक देशों के लिए क्रांति के चीनी रास्ते की वकालत की गई थी, जून सीसी के गठन में मदद पहुँचाई थी। जून सी.सी. में आंध्र नेतृत्व सी.सी. नेतृत्व का केन्द्रीय सारभाग (कोर) था। राजेश्वर राव पार्टी के सचिव चुने गये थे। जून सी सीने आंध्र थीसिस/यानी तेलंगाना कार्यदिशा को भारत की क्रांति के लिए सामान्य क्रांतिकारी कार्यदिशा को भारत की क्रांति के लिए सामान्य क्रांतिकारी कार्यदिशा के रूप में अंगीकार कर लिया था। परंतु जून सी.सी. के गठन को तेलंगाना कार्यदिशा या क्रांति के चीनी रास्ते की विजय नहीं माना जा सकता क्योंकि यह विशेष परिस्थितियों में बहुमत जुटा पाई थी। इस बहुमत के पीछे पार्टी नेतृत्व का पाटी कार्यदिशा में दृढ़ विश्वास नहीं था, कार्यदिशा लागू करने के प्रति दृढ़ विश्वास नहीं था, कार्यदिशा लागू करने के प्रति दृढ़ निश्चय नहीं था। पार्टी का भीतर लम्बे समय से मौजूद दक्षिणपंथी अवसरवाद जून सीसी और इसकी क्रांतिकारी कार्यदिशा को ध्वस्त करने में लग गया। वास्तव में शुरुआत से ही चारों तरफ से घेरेबंदी में जकड़ी हुई सी.सी. को कभी कार्य करने ही नहीं दिया गया था।

पार्टी के भीतर मौजूद दक्षिणपंथी अवसरवादी पक्ष ने जून सी.सी. और तेलंगाना कार्यदिशा पर हमला बोल दिया। जून सी.सी. को अवरुद्ध करने में सी.पी.जी.बी. तथा आर. पी. दत्त ने भी इनसे हाथ मिला लिया था। उन्होंने यह आरोप लगाते हुए जून सी.सी. पर हमला बोल दिया था कि यह रणदिवे की वाम दुस्साहसिक कार्यदिशा का और संकीर्ण तरीकों का इस्तेमाल कर रही है। उन्होंने तेलंगाना कार्यदिशा – भारतीय क्रांति की नव जनवादी क्रांतिकारी कार्यदिशा को यह कह कर बदनाम किया था कि यह क्रांति के चीनी रास्ते का और एफ.एल.पी. एण्ड एफ.पी.डी. सम्पादकीय की गलत व्यवस्था पर आधारित है। दक्षिणपंथी ताकतों और उनकी आश्रय (प्राप) सी.पी.जी.बी. ने शब्दों में सम्पादकीय का स्वागत किया था और सर्वसम्मति से क्रांति के चीनी रास्ते की व्यावहारिकता को स्वीकार किया था ताकि वे भारत के क्रांतिकारी नव जनवादी राह पर इसकी आड़ लेकर आक्रमण कर सकें। उन्होंने पार्टी को उस समय लकवा ग्रस्त कर दिया था जब तेलंगाना जीवन–मृत्यु की लड़ाई लड़ रहा था।

तेलंगाना नेतृत्व का एक हिस्सा यह दलील दी कि जब सेना ने कार्रवाई शुरू की तब सशस्त्र संघर्ष को वापस ले लेना चाहिए था। इस दलील के मुख्य समर्थक रवि नारायण रेड्डी केन्द्र में स्थित दक्षिणपंथी अवसरवादी गुट में शामिल हो गये और उन्होंने तेलंगाना संघर्ष और इस संघर्ष के नेताओं के खिलाफ कुत्सा प्रचार शुरू कर दिया। जून सी.सी. दक्षिणपंथी आक्रमण के सामने टिक न सकी और वह तेलंगाना संघर्ष और इससे उभरने वाले क्रांतिकारी रास्ते से दगा करने की राह पर चली पड़ी थी।

दक्षिणपंथी नेता अजय घोष ने मई 1951 में औपचारिक रूप से नेतृत्व सम्हाल लिया था।

यद्यपि कि सी.सी. का मसौदा कार्यक्रम जून सी.सी. की समझ (अंडरस्टैंडिंग) के समरूप ही था परंतु इसकी रणनीतिक कार्यदिशा दीर्घकालीन लोकयुद्ध के रास्ते का परित्याग करती थी। इसने दक्षिणपंथी अवसरवाद का प्रतिनिधित्व किया और वर्ग सहयोगवाद के लिए रास्ता हमवार किया। इस नई समझ ने तेलंगाना से की गई दगा को सैद्धांतिक औचित्य प्रदान कर दिया था।

वर्ग नेतृत्व ने तेलंगाना संघर्ष को यह कहकर धोखा दिया था कि तेलंगाना की जनता मुक्ति के लिए नहीं, मात्र अपनी पक्षीय माँगों के लिए लड़ रही है। इसने बड़ी बेशर्मी के साथ उस समय संघर्ष को बिला शर्त वापस ले लिया जब संघर्ष नेहरु के फासीवादी आक्रमण का सफलतापूर्वक मुकाबला कर रहा था और नये क्षेत्रों में फैल रहा था। इसने स्थानीय नेतृत्व, लड़ाका दलों और जनता से कोई सलाह–मशविरा तक नहीं किया और आम चुनावों में हिस्सा लेने की तैयारी करने के लिए जल्दबाजी के संघर्ष वापसी की घोषणा कर दी। दक्षिणपंथी अवसरवादी नेतृत्व संशोधनवाद के गड्ढे में गिर पड़ा था। इसने तेलंगाना की जनता, लड़ाका दलों और पार्टी के पाँच वर्षों से चल रहे बहादुराना संघर्ष की और अकूत बलिदानों की पीठ में छूरा भोंक दिया। पाँच हजार शहीदों के बलिदानों पर अंकुरित जन सत्ता को नेहरू के सामने आत्मसमर्पण करने को मजबूर कर दिया गया था। संशोधनवादी नेतृत्व अब संसदीय रास्ते की तरफ मुड़ चुका था और पार्टी को पूर्ण रूप से संशोधनवादी पार्टी में बदला देने के लिये चल पड़ा था।

❍❍❍

संभवतः दुनिया की अन्य किसी भी पार्टी को शासक वर्गों के चरित्र निर्धारण में इतना विभ्रम नहीं हुआ होगा, जितना सी.पी.आई. को हुआ था। भारतीय दलाल पूंजीपति और

भूस्वामी शासक वर्गों के नेता, नेहरू एक हाथ से जन संघर्षों को लौह बूटों से कुचल तक रहे थे तो दूसरे हाथ से अनेक ''प्रगतिशील'' कदम, बाहरी और भीतरी, दोनों नीतियों में, उठा रहे थे। सी.पी.आई. नेतृत्व के भीतर, कांग्रेसी सरकार के चरित्र निर्धारण और इसके प्रति अनुसरण की जाने वाली नीति को लेकर हमेशा ही तीखी बहस मौजूद रही है। सी.पी.आई. का आकलन था कि सार्वजनिक क्षेत्र के अंतर्गत योजनाबद्ध आर्थिक विकास और औद्योगिक विकास की नेहरू द्वारा अंगीकृत नीति आर्थिक क्षेत्र में प्रगतिशील कदम हैं। दरअसल नेहरू ने 1937 में ही योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था की बात की थी। बड़े दलाल पूंजीपति महसूस करते थे कि इसके खुद के हित के लिए यह नितांत आवश्यक है कि उन भारी उद्योगों को, जिनमें भारी निवेश करना पड़ता है तथा जिसको चालू हालत में लाने में काफी समय लगता है, सार्वजनिक क्षेत्र में नेहरू द्वारा प्रतिपादित योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था के जरिए स्थापित किया जाय। परंतु सीपीआई का सोचना था कि 1952 से शुरू की गई पंचवर्षीय योजनाओं स्वावलम्बी आर्थिक विकास की दिशा में किया जाने वाले प्रयास है।

दूसरी ओर नेहरू अपने ''समाजवादी चरित्र'' को विदेश नीति तक पहुँचाने में लगे हुए थे। समाजवादी देशों के साथ दोस्ताना संबंध बनाकर वे यह भ्रम खड़ा करना चाहते थे कि देश उनके नेतृत्व में समाजवाद की दिशा में आगे बढ़ रहा है। इससे भी बढ़कर वे अपने इस कदम के माध्यम से कम्युनिस्ट पार्टी को निष्प्रभावी कर देना चाहते थे। नेहरू ने यह भ्रम उत्पन्न करने की कोशिश की थी कि उनकी विदेश नीति साम्राज्यवादी विरोधी है। उन्होंने कोरियन मामले में भी अपनी नाक घुसेड़ दी थी। उन्होंने समाजवादी देशों के साथ दोस्ताना संबंध बनाये रखे थे। और उसी समय उन्होंने अमरीकी साम्राज्यवाद के लिए भी देश के दरवाजे खोल दिये थे।

मदुरै कांग्रेस

सीपीआई की तीसरी कांग्रेस, 27 दिसम्बर 1953 से 4 जनवरी 1954 तक मदुरै में आयोजित हुई थी। स्टालिन की मृत्यु के बाद सीपीआई की यह पहली कांग्रेस थी। इस कांग्रेस ने 1951 में सूत्रबिद्धत कार्यक्रम और रणनीतिक कार्यदिशा को पुनः अंगीकृत कर लिया था। सीपीजीबी के सचिव हैरी पोलित्व ने इस बैठक में शिरकत की थी।

नेहरू की विदेश नीति को लेकर कांग्रेस में काफी बहस चली थी। दरअसल उस समय तक स्वयं आर.पी.दत्त यह सुझाव देने लगे थे कि नेहरू की विदेश नीति प्रगतिशील है और इसका पूर्ण समर्थन किया जाना चाहिए। यह दलील मजबूती के साथ सामने लाई गई कि नेहरू की विदेश नीति विश्व शांति के लिए मददगार है। परंतु सोवियत समर्थक दक्षिणपंथी गुट के प्रयासों के बावजूद इस कांग्रेस ने नेहरू की विदेश नीति को पूर्ण समर्थन नहीं प्रदान किया।

''नेहरू सरकार द्वारा हाल में किये गये कुछ कार्य और घोषणायें... शांति के लिए मददगार हैं... शांति के हित में सरकार द्वारा उठाये गये सभी कार्यों का दृढ़ समर्थन किया जाना चाहिए। फिर भी परिस्थिति... अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर... पूर्ण समर्थन... की इजाजत नहीं देती... क्योंकि भारत सरकार शांति और जनवाद की नीति का सुसंगत रूप से अनुसरण नहीं करती। इसलिए यह आवश्यक है कि... दबाव को बढ़ाया जाय... ताकि एक सुसंगत शांति नीति लागू करने के लिए बाध्य किया जा सके...।''

युद्ध पश्चात की अवधि में, चूँकि अमरीकी महाशक्ति, समाजवादी शिविर की घेरेबंदी में लगी हुइ थी और आक्रामक हो चली थी, और इसकी वजह से युद्ध का खतरा बढ़ रहा था, यह एकदम सही था कि एक शांति आंदोलन खड़ा किया जाय। सोवियत समर्थक

दक्षिणपंथी पक्ष संशोधनवादी सोवियत रूस की विदेश नीति के साथ कदम मिलाते हुए शक्ति आंदोलन के नाम पर नेहरू के पीछे खड़ा होना चाहता था। सीपीआई नेतृत्व पार्टी को, पूरी तरह वर्ग संघर्ष त्याग देने और संसदीय संघर्ष शांति आंदोलन तक सीमित रह जाने की दिशा में बढ़ा ले चला था। बाद के दिनों में शांति आंदोलन हेतु बना यह संयुक्त मोर्चा, सीपीआई नेतृत्व के लिए, अपनी पुरानी वर्ग शत्रु–सहयोग की नीति पर लौट आने का एक कारगर साधन बन गया था।

कांग्रेस में जेरे बहस एक अन्य सवाल यह था कि भारतीय मुक्ति का मुख्य दुश्मन ब्रिटेन है या अमेरिका। यह मुद्दा नेहरू की विदेश नीति से संबंध रखता था। दरअसल कहा जा सकता है कि यह बहस 1951 की कार्यदिशा पर एक आक्रमण था। सीपीजीबी के हैरी पोलित्व का सुझाव था कि समूची दुनिया में प्रतिक्रिया को बढ़ावा देने वाला अमेरिका अब मुख्य शत्रु बन गया है और इसलिए उसे ही मुख्य शत्रु माना जाना चाहिए। इसका निहितार्थ यह था कि नेहरू सरकार के साथ शांति स्थापित की जानी चाहिए ताकि संशोधनवादी सोवियत यूनियन के रणनीतिक और आर्थिक हित के अनुकूल अमेरिका विरोधी मोर्चे को मजबूत किया जा सके।

आंध्र नेतृत्व ने इस संबंध में 1951 के कार्यक्रम को बचाने का प्रयास किया था। परंतु सोवियत समर्थक दक्षिणपंथी नेतृत्व अमेरिका को मुख्य शत्रु घोषित करके नेहरू सरकार के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने के लिये अत्यधिक उत्सुक था।

आंध्र थीसिस अमेरिकी साम्राज्यवाद के विद्धद्ध संघर्ष की आवश्यकता को मानते हुए भी मुख्य शत्रु का दर्जा ब्रिटेन को देती थी। इसने भविष्य में अमेरिकी समाजवाद की पकड़ के बढ़ते जाने की और इस प्रकार प्रमुख शत्रु बन जाने की संभावना को भी पहचान लिया था।

''अंतरराष्ट्रीय तौर पर देखा जाय तो समस्त मानवता की शांति और स्वतंत्रता के मुख्य शत्रु के तौर पर अमेरिका वैश्विक प्रतिक्रिया का शस्त्राग्र (स्पीयरहेड) है। परंतु चूँकि एक विशेष राज्य के अधीन देश में हमारी एक खास स्थिति है, हमें कुछ ठोस कार्यभार पूरे करने हैं। हमारी राष्ट्रीय स्वतंत्रता का मुख्य शत्रु ब्रिटिश साम्राज्यवाद है।''

''हमारा एक राष्ट्रीय शत्रु है और अलग से एक अंतर्राष्ट्रीय शत्रु है। अपने विशेष राष्ट्रीय शत्रु के विरुद्ध राष्ट्रीय मुक्ति के लिए संघर्ष और एक अन्य अंतर्विरोध नहीं है यद्यपि दोनों संघर्षों का चरित्र भिन्न है।''

''अगर... अमेरिका भारत से ब्रिटिश को धकिया कर बाहर कर देता है और अपना प्रभुत्व कायम कर लेता है... और अगर अमेरिका हमारा मुख्य राष्ट्रीय शत्रु हो जाता है, तो हमारा कार्यभार अपनी मुख्य लड़ाई को अमेरिकी साम्राज्यवाद के विरुद्ध संकेद्रित करता जायेगा।''

अजय घोष ने, जो ''(सेंट्रिस्ट) भूमिका में थे, सुझाव दिया था कि हमें मध्यमार्ग अपनाना चाहिए। ''एक विच्युति कहती है कि अमेरिका मात्र शांति के लिए खतरा है। हमारी स्वतंत्रता के लिए नहीं। इसकी विच्युति कहती है कि अमेरिका एकमात्र शत्रु है। हमें शांति और राष्ट्रीय मुक्ति दोनों के ही विरुद्ध लड़ना होगा।''

यह कहकर उन्होंने सुझाव दिया कि दोनों के खिलाफ एक साथ लड़ना होगा। परंतु व्यवहार में, उन्होंने पार्टी को **शांति के लिए वृहत संयुक्त मोर्चा** की ओर धकेला था। इस प्रकार उन्होंने यह सुनिश्चित कर लिया था कि मुक्ति के लिए संघर्ष मात्र कागज पर बना रहे।

मदुरै कांग्रेस ने भाषाई आधार पर राज्यों के निर्माण हेतु आंदोलन खड़ा करने का प्रस्ताव पास किया था। कहा जा सकता है कि इस अवधि में सीपीआई के नेतृत्व में चलाया गया यह प्रमुख संघर्ष था।

यद्यपि मदुरै कांग्रेस ने 1951 में सूत्रबद्ध कार्यक्रम और रणनीतिक कार्यदिशा स्वीकार की थी, परंतु नेतृत्व ने समूची पार्टी को दक्षिणपंथी अवसरवाद के गर्त में डुबोना शुरू कर दिया था। नेहरू की धोखे भरी नीतियाँ इनके हाथों में 1951 में सूत्रबद्ध कार्यक्रम और रणनीतिक कार्यदिशा के क्रांतिकारी सारतत्व को निकाल फेंकने का साधन बन गई थी। नेतृत्व ने समूची पार्टी के नेहरू के पीछे गोलबंद करना शुरू कर दिया और इसका दक्षिणपंथी अवसरवाद संशोधनवाद में पतित होने लगा था।

मदुरै और पालघाट कांग्रेसों के बीच की अवधि

25 जून 1954 को चाउ एल लाई भारत आये। नेहरू और चाउ एन लाई ने पंचशील पर हस्ताक्षर किए। नवम्बर में नेहरू ने चीन की यात्रा की। उन्होंने चीन की प्रशंसा के पुल बाँध दिये थे। नवम्बर के अंतिम सप्ताह में टीटो भारत दौरे पर आये। इसी दिन (28 नवम्बर को टीटो ने संसद को संबंधित किया। नेहरू ने पहली बार घोषणा की कि भारतीय सरकार का उद्देश्य समाजवाद का निर्माण करना है। टीटो कांग्रेस के अवाड़ी सत्र में शामिल हुए। इस सत्र में कांग्रेस ने यह प्रस्ताव पास किया कि समाजवाद की प्राप्ति इसका लक्ष्य है। यह नेहरू की कम्युनिस्टों के सभी नारों को अपना लेने की पुरानी नीति की निरंतरता ही थी। इस दौर में जब सीपीआई शांतिपूर्ण संक्रमण के रास्ते पर आगे बढ़ रही थी, नेहरू ने शांतिपूर्ण संसदीय समाजवाद को अपना कार्यक्रम बना लिया था।

इसी अवधि में ख्रुश्चेव गुट ने रूस में अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। दलाल पूंजीवादी राजनेता, नेहरू अपने उत्सुक निरीक्षण के बल पर यह समझ लेने में सक्षम थे कि संशोधनवादी सोवियत यूनियन उनका बहुत अच्छा मित्र साबित होगा। संशोधनवादी रूस भी भारतीय दलाल पूंजीपति वर्ग से अपनी दोस्ती को अपने लिये बहुत आवश्यक मानता था।

8 अक्टूबर 1954 को एक एल.पी.एफ.पी.डी. के एक अंक में, दत्त ने एक लेख प्रकाशित करवाया, जिसमें यह संकेत मौजूद था कि शांति के लिए संघर्ष और मुक्ति के लिए संघर्ष में कोई अंतर नहीं है।

''...ब्रिटिश साम्राज्याधीन देशों की जनता का राष्ट्रीय मुक्ति के लिए संघर्ष, ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के प्रभुत्व और उत्पीड़न के विरुद्ध और अमेरिकी साम्राज्यवादियों के दाखिले के विरुद्ध लड़ाई का एक संयुक्त संघर्ष है।''

''अमेरिकी साम्राज्यवाद के नेतृत्व में साम्राज्यवादी शिविर के युद्धाभिमान के विरुद्ध शांति के लिए संघर्ष, राष्ट्रीय मुक्ति के लिए संघर्ष के बीच निकट संबंध है।... राष्ट्रीय मुक्ति के लिए संघर्ष को शांति के लिए संघर्ष से अलगाया नहीं जा सकता।''

घबराई हुई सीसी ने एक आपातकालीन बैठक बुलाई और दत्त के आलेख की यह कहकर आलोचना की कि यह मदुरै कांग्रेस की अवस्थिति (अंडरस्टैंडिंग) के विपरीत है।

''कांग्रेस ने दर्शाया था कि शांति के लिए संघर्ष और मुक्ति के लिए संघर्ष के बीच एक निकट संबंध मौजूद रहता है... ये संघर्ष यद्यपि समान नहीं है, परंतु एक दूसरे को मजबूती प्रदान करते हैं। इसने इस बात पर जोर दिया था कि दोनों संघर्षों को एक साथ और समान उत्साह के साथ चलाया जाना चाहिए; क्योंकि दोनों का ही समान महत्व है।''

इस प्रस्ताव के बावजूद नेतृत्व दत्त की अवस्थिति की ओर झुकता चला गया था जो दरअसल सीपीआई के लिए संशोधनवादी सोवियत यूनियन इस पेश नुस्खे को ही प्रतिबिम्बित करती थी।

कांग्रेस के बाद यह कहते हुए कि नेहरू की विदेश नीति में एक सुस्पष्ट बदलाव आ चुका है अजय घोष ने नेहरू सरकार की भीतरी और बाहरी नीति के बीच एक अंतर्विरोध खोज निकाला। चीन के अपने दौरे के बाद से उसकी उपलब्धियों की प्रशंसा करते हुए नेहरू ने सीपीआई पर तीखा आक्रमण शुरू कर दिया था। नेहरू ने मार्क्सवाद को ''व्यतीत (आउटमोडेड)'' बताया और सीपीआई पर ''रूस और चीन के निर्देश'' पालन करने ''संकट पैदा करने'' और हिंसा में लिप्त होने आदि के आरोप लगाये। नेहरू ने यह भी कहा सीपीआई ने उनकी विदेश नीति को समझा ही नहीं। अजय घोष ने अपने पींडित को कम्युनिस्ट जवाब में पहली बार नेहरू की भीतरी और बाहरी नीतियों के बीच खुद द्वारा खोजे गये अंतर्विरोध को स्पष्ट रूप से सामने रखा था।

''क्या भारतीय मामलों का कोई भी गंभीर विद्यार्थी इस बात से इंकार कर सकता है कि पिछले पाँव सालों के दौरान पंडित नेहरू की सरकार की विदेश नीति में एक विचलन आया है।''

''हम इस बदलाव का समर्थन करते हैं और इसको मान्यता देने में हमें कोई हिचकिचाहट नहीं है।''

''पंडित नेहरू की विदेश नीति के शांतिपूर्ण पहलुओं के समर्थन में खड़े रहना और देश के भीतर प्रतिक्रांतिकारी नीतियों के विरुद्ध संघर्ष चलाना और कुछ नहीं बल्कि देश के भीतर और देश के बाहर, शांति, स्वतंत्रता और जनवाद की ताकतों को मजबूत बनाना ही है।''

''नेहरू सरकार की अंदरूनी नीति जनता के हितों के अनुकूल नहीं है जबकि विदेश नीति है।''

यह दलील ही कि नेहरू की अंदरूनी नीति जन–विरोधी है परंतु विदेश नीति प्रगतिशील है, आगे की अवधि में, वर्ग शत्रु सहयोगी मित्रता का प्रमुख आधार बनी थी।

नेहरू सरकार का समर्थन करने के लिए वैचारिक आधार तैयार कर लिया गया था। (सीपीआई ने प्रगतिशील विदेश नीति और जनविरोधी आंतरिक नीति के बीच मौजूद इस अंतर्विरोध को अपनी चौथी कांग्रेस में हल कर लिया था जिसमें इसने चिन्हित किया था कि नेहरू सरकार की आंतरिक नीति भी प्रगतिशील है।) इस वैचारिकी पर चलते हुए ही, सीपीआई का नेतृत्व इस अवस्थिति (पोजीशन) पर जा पहुँचा था कि भारत की सच्ची आजादी जीती जा चुकी है। इस तरह यह पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है कि तेलंगाना सशस्त्र संघर्ष की वापसी के समय से ही सीपीआई जिस रास्ते का अनुसरण कर रही थी, वह पीसी जोशी का पूर्ण अवसरवाद और वर्ग शत्रु सहयोग का ही रास्ता था।

आंध्र का मध्यवर्ती चुनाव

1954 में आंध्र में कांग्रेस सरकर गिर गई। 1955 में मध्यवर्ती चुनाव कराया गया। सीपीआई ने उन इलाकों में, जहाँ इसने जुझारू संघर्ष किये थे, खास कर किसान संघर्ष, भारी बहुमत हासिल कर लिया था। चुनाव परिणामों ने यह उजागर कर दिया था कि सीपीआई की ताकत उसके द्वारा संचालित किये गये जुझारू संघर्षों में और किसानों में है। परंतु सीपीआई के नेतृत्व में संसदीय रास्ते के बारे में विभ्रम पैदा हो चुका था। पाटी के सारे ही कार्य चुनाव के इर्द–गिर्द ही सिमट गये थे।

सीपीआई ने वर्ग संघर्ष में आ रहे बदलावों की और वर्ग शक्तियों की ताकत की पूर्णतया उपेक्षा की। सीपीआई ने सोचा था कि वह इन चुनावों में निश्चय ही सत्ता पर कब्जा कर लेगी। कांग्रेस ने इन चुनावों में अपनी पूरी ताकत झोंक दी थी। चुनावों के कुछ दिन पहले (26 जनवरी 1955), को प्रावदा ने एक लेख प्रकाशित किया कि नेहरू की गृह नीति और विदेश नीति दोनों ही प्रगतिशील है। कांग्रेस ने इस लेख की लाखों प्रतियाँ छापकर आंध्र प्रदेश में वितरित कर दी। सीपीआई की ताकत 140 विधान सभा सदस्यों में मात्र 15 रह गई। चुनावों में सीपीआई का सूपड़ा साफ हो गया था। चुनाव परिणामों की समीक्षा के नाम पर केन्द्र तथा राज्य दोनों ही स्तरों पर नेतृत्व के बीच गुटीय संघर्ष खड़े हो गये थे।

पार्टी में संकट

यह दावा करते हुए कि नेहरू की विदेश नीत प्रगतिशील है, पीसीजोशी ने 1954 में यह दलील पेश की कि राष्ट्रीय पूंजीपति (अर्थात् कांग्रेस के प्रतिनिधित्व में बड़ा पूंजीपति वर्ग) प्रगतिशील और प्रतिगामी दो हिस्सों में बंट चुका है और जबकि प्रतिगामी कर रहा है, प्रगतिशील हिस्सा इसका विरोध कर रहा है। इस दावे को उस समय सीसी में बहुमत नहीं मिल सका था। परंतु आंध्र चुनावों के समय पोलित ब्यूरो इस हिस्से पर दो फाड़ हो गया। पार्टी में संकट उठ खड़ा हुआ। यह सोचना भूल होगी कि जो लोग कांग्रेस के भीतर किसी प्रगतिशील धड़े की मौजूदगी और इसके साथ सहयोग के सवाल को नहीं मानते (बाद के समय में सीपीएम नेता) वे क्रांति चाहते हैं। विवाद केवल चुनावों में अपनाई जाने वाली रणनीति को लेकर था। पार्टी के केन्द्रीय नेतृत्व के भीतर गुटीय संघर्ष कांग्रेस के पहले ही संकट के स्तर तक जा पहुँचा था।

पालघाट कांग्रेस में पेश की गई सी.सी. रिपोर्ट यह कहती है : ''पोलित ब्यूरो में मतभेद काफी तीखे हो चुके हैं। जून की बैठक में, मतभेद घटने की बजाय और भी मुख हो उठे थे।''

''मदुरै के बाद से आयोजित केन्द्रीय कमेटी को सभी आठ बैठकों में, पहली को छोड़कर... – सी.सी. बैठकों बेनतीजा रही थी। सी.सी. पार्टी लीडर के तौर पर कार्यशील नहीं थी बल्कि ऐसा विवाद–समाज बन गई थी जहाँ अमूर्त सैद्धांतिक मामलों पर बहस होती है।''

तकरारों के बावजूद पार्टी को नेहरू के पीछे कतारबद्ध कर दिया गया ''पोलित ब्यूरो ने फिर भी नेहरू सरकार की विदेश नीति के प्रति सकारात्मक रुख अख्तियार करने में... अपना योगदान किया था।''

पालघाट कांग्रेस

अप्रैल 1956 में, सीपीआई ने अपनी चौथी कांग्रेस पालघाट में ायोजित की। इस कांग्रेस के पहले ही सीपीएसयू की बीसवीं कांग्रेस सम्पन्न हो चुकी थी। ख्रुश्चेव के ''शांतिपूर्ण संक्रमण'', ''शांतिपूर्ण सहअस्तित्व'' तथा ''शांतिपूर्ण आर्थिक प्रतियोगिता'' संशोधनवादी सिद्धांतों ने, सीपीआई नेतृत्व द्वारा अपने ''अप्रासंगिक हो चुके (आउटडेटेड)'' कार्यक्रम और रणनीतिक आधारभूमि मुहैया कर दी थी।

–पालघाट कांग्रेस ने भारत को आजाद देश और सत्ता हस्तांतरण को वास्तविक आजादी स्वीकार कर लिया था।

''आज की दुनिया में, भारत का एक ऐसा प्रभुतासम्पन्न और स्वतंत्र गणराज्य के रूप में सामने आना जो शांति और स्वतंत्रता की हामी है, एक अत्यधिक महत्वपूर्ण घटकह है।''

–बड़े पूंजीपति वर्ग को उसकी सम्पूर्णता में, (सीपीआई की शब्दावली में राष्ट्रीय बुर्जुआ) साम्राज्यवाद विरोधी और सामंतवाद विरोधी मान लिया था।

''भारतीय समाज का आधारभूत द्वन्द्वयुद्ध (कान्फ्लिक्ट) एक तरफ साम्राज्यवाद और सामंतवाद तथा दूसरी तरफ समूची भारतीय जनता के बीच है; जिस जनता में राष्ट्रीय बुर्जुआ भी शामिल है।''

– यह भारतीय सरकार को ''एक पूंजीपति भूस्वामी सरकार मानती है, जिसमें पूंजीपति नेतृत्वकारी शक्ति है। इसकी नीतियाँ **''भारत के स्वावलम्बी पूंजीवादी दिशा में विकसित करने की आकांक्षा** से प्रेरित होती है।... सरकार हमारी अर्थव्यवस्था में मौजूद ब्रिटिश पूंजी की स्थिति को कमजोर करने के लिए तत्पर है। यह सामंती भूस्वामियों को पूंजीवादी भूस्वामियों में बदलकर एक धनी किसान वर्ग खड़ा करके शोषण के सामंतवादी रूपों को नष्ट करने के लिए तत्पर है।... ये उद्देश्य और इनके परिणामस्वरूप उठाये जा रहे कदम अपरिहार्य रूप से **सरकार को साम्राज्यवद के साथ, सामंतवाद के साथ और कभी कभी पूंजीपतियों को कुछ हिस्सों के संकीर्ण–संकीर्ण हिस्सों के साथ टकराव में ला खड़ा करेंगे।''**

–यह उल्लेख करती है कि नेहरू द्वारा अनुसरित विदेश नीति एक सच्ची शांति नीति है, इसका समर्थन किया जाना चाहिए और इसके आधार पर एक संयुक्त मोर्चा बनाया जाना चाहिए।

''शांति की नीति एक सच्ची राष्ट्रीय नीति है, एक साम्राज्यवाद–विरोधी नीति जो हमारे स्वतंत्रता आंदोलन की परम्पनरा को जारी रखती है और आगे बढ़ाती है। इसका यह अर्थ निकलता है कि ऐसी नीतियों के लिए संघर्ष उस वृहत एकता के लिए आधार पर प्रस्तुत करता है जिसमें हमारी जनता के वे सभी वर्ग और सभी हिस्से शामिल होंगे जो भारत की वैश्विक प्रतिष्ठा को दृढ़ करना और अपनी उसकी स्वतंत्रता को मजबूत करना चाहते हैं।''

–कांग्रेस द्वारा समाजवाद को अपना लक्ष्य घोषित करने को ''पूंजीपतियों द्वारा अपनी नीतियों के असल चरित्र पर छद्मावरण'' मानने के बावजूद इसका वर्णन यह एक क्रांतिकारी कदम के रूप में करती है।

''समाजवाद को अपना लक्ष्य घोषित कर देना मात्र भी एक परिवर्तनकारी ताकत का काम करेगा। यह कांग्रेसियों, कांग्रेस समर्थकों और सामान्य जनता में वाम झुकाव को मजबूत बनायेगा, क्रांतिकारी सुधारों के लिए मांग को तीव्र करेगा।''

– सीपीएसयू की बीसवीं कांग्रेस के प्रस्तावों का समर्थन किया गया। यह पाया गया कि भारत में भी शांतिपूर्ण संक्रमण संभव है।

''सीपीएसयू की बीसवीं कांग्रेस अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन में एक मील का पत्थर है। शक्तिशाली विजयों के आधार पनर यह आगे भी शक्तिशाली विजयों का रास्ता प्रदर्शित करती है। समस्त कठमुल्लावाद और मताग्रहों से खुद को अलग करते हुए, यह साहस के साथ वर्तमान समस्याओं को हल करती है रचनात्मक तरीके से मार्क्सवाद–लेनिनवाद को विकसित करती है।''

''समाजवाद की ओर शांतिपूर्ण संक्रमण की थीसिस हमारे हाथों में एक बड़ा हथियार है। यह हमें समाजवादी आंदोलन में उत्पन्न दरारों को पाटने में सक्षम बनाती है।''

''यह संभावना मात्र फ्रांस और इंग्लैण्ड के देशों में ही नहीं है, बल्कि ऐसा भारत और इंडोनेशिया जैसे देशों में भी संभव है। इन देशों में, कुछ निश्चित परिस्थितियों में जनता के

जनवाद का प्रथम चरण भी शांतिपूर्ण तरीके से... बिना किसी गृहयुद्ध के सम्पन्न किया जा सकता है।''

''जनवाद के विस्तार के लिए एक सतत संघर्ष को जारी रखना होगा। इस संघर्ष में हमारी सफलता पर ही शांतिपूर्ण संक्रमण की संभावना निर्भर हैं।''

इस कांग्रेस में और इसके बाद भी राजेश्वर राव, पी.सी.जोशी, भवानी सेन और अन्य (बाद के दिनों का सी.पी.आई. नेतृत्व) अल्पमत में था। सुंदरैया, रणदिवे और अन्य (बाद के दिनों का सी.पी.आई. नेतृत्व) मध्यमाग्रि अजय घोष की मदद से बहुमत में था। राजेश्वर राव एवं अन्य द्वारा पेश वैकल्पिक राजनीतिक प्रस्ताव को हरा दिया गया था। उसका प्रस्ताव यह कहता था ''कांग्रेस–विरोधी जनवादी मोर्चा बनाने की रणनीतियाँ कालातीत हो चुकी हैं और इनका परित्याग कर दिया जाना चाहिए। क्योंकि ऐसी नीतियों का अनुसरण जनता में मौजूद विभाजन को स्थाई बनाने की ओर ले जायेगा और तब जनता को एकजुट करने की पार्टी की भूमिका सीमित हो जायेगी।'' इनका विचार कांग्रेस के साथ सरकार में हिस्सेदारी करने का था। इसे संक्षेप में कहा जाय तो वामपंथी और दक्षिणपंथी हिस्सों के बीच का सारा अंतर कांग्रेस के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने का या न बनाने का था।''

वस्तुतः पालघाट कांग्रेस में सभी वामपंथी, दक्षिणपंथी और मध्यपंथी समूह आधारभूत राजनीतिक मुद्दों पर एक सहमति पर पहुँच चुके थे। सभी महत्वपूर्ण मुद्दों पर सभी के विचारों में लगभग ऐक्य था जैसे कि (1) भारत की आज़ादी (2) पूंजीपति वर्ग का चरित्र (3) नेहरू की विदेश नीति (4) योजनाबद्ध आर्थिक विकास और सार्वजनिक क्षेत्र में औद्योगिक विकास (5) सीपीसी यू.पी. की बीसवीं कांग्रेस क निर्णय आदि विचारों में एक मात्र बड़ा विभाजन इस बात पर था कि क्या कांग्रेस के साथ संयुक्त मोर्चा बनाया जाय... चुनावी समझौते किए जाएँ, सरकार में साझीदारी की जाय और अगर की जाय तो किस किस्म की? इसका अर्थ यह था कि दरअसल नेतृत्व में एक अत्यंत मजबूत (संशोधनवादी) राजनीतिक एकता कायम हो चुकी थी। परंतु फिर भी पार्टी कांग्रेस के बाद से पार्टी तेजी के साथ विभाजन की ओर चल पड़ी थी और 1960 तक यह विभाजन के कगार पर आ पहुँची थी।

अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन में फूट हिंदचीन के सीमाविवाद जैसी घटनायें पार्टी विभाजन पर राजनीतिक रंग चढ़ाने में उस वक्त सहायक बनी थीं, जब यह 1964 में औपचारिक रूप से घटित हुआ। सांगठनिक क्षरण जो सीपीआई वे राजनीतिक क्षरण का दूसरा पहलू था, पार्टी विभाजन का मुख्य कारण था।

अजय घोष, पी सी जोशी, डांगे एवम् तथा पीएचक्यू द्वारा तेलंगाना संघर्ष और तेलंगाना थीसिस पर विलोपनवादी (लिम्बिडेशनिस्ट) आक्रमण अपने आप में सीपीआई के भीतर मौजूद सांगठनिक पतन को दर्शाता है। तेलंगाना सशस्त्र संघर्ष से विश्वासघात के बाद; सीपीआई का संशोधनवाद में राजनीतिक पतन की प्रक्रिया के दौरान ही सांगठनिक पतन भी अपने चरम पर जा पहुँचा था।

सांगठनिक प्रणाली और पार्टी केन्द्र की गतिविधियाँ (प्रैक्टिसेज) शीर्षक से अजय घोष द्वारा पालघाट कांग्रेस में पेश की गई रिपोर्ट कुछ हद तक उस सांगठनिक संकट को उद्घाटित करती है, जिसका पार्टी सामना कर रही थी।

– ''वे मतभेद जो सीसी की सितम्बर और नवम्बर की बैठक में प्रकट हुए थे अब और भी स्पष्ट तथा तीखे रूप में उमर आये हैं। अधिक बुरी बात यह है कि इन मतभेदों ने उन लोगों में, जो अपनी एक विशिष्ट दृष्टि रखते हैं, ऐसी प्रवृत्ति पैदा कर दी है कि वे उन लोगों को, जो उनसे भिन्न दृष्टि रखते हैं, ऐसे लोग मानते हैं जिनसे ''मुकाबला'' किया जाना चाहिए और जिन्हें ''पराजित'' कर दिया जाना चाहिए।''

– ''प्रस्ताव के समर्थकों और विरोधियों के बीच जो विरोधी बाद में स्वयं दो कोटियों में विभाजित हो गये थे – वे जो ''वाम'' से और वे जो ''दक्षिण'' से विरोध करते थे) चला तीखा राजनीतिक संघर्ष, ऊपर से नीचे तक, पार्टी के आंतरिक जीवन की प्रमुख विशेषता बन गई थी। यहाँ तक कि ज्यादातर प्रदेशों में पार्टी की तत्कालीन गतिविधियाँ ठप पड़ चुकी थीं।''

– ''पार्टी के आंतरिक मतदभेदों का प्रकटन तथा इन मतभेदों को हल करने की आवश्यकता, सही सांगठनिक तरीकों के कड़ाई से पालन के महत्व को घटाने की बजाय बढ़ा रहा था। परंतु यही आधारभूत सत्य पार्टी नेतृत्व की दृष्टि से उस समय भी ओझल था जब मतभेद प्रकट होने लगे थे।''

– ''... पार्टी की अपनी क्रियाशीलता के सभी पहलुओं पर पार्टी नीतियों के समूचे परिसर को (यहां तक कि कई उन मामलों में भी जिन पर कोई मतभेद नहीं है) विवाद के लिए खुला छोड़ दिया गया। इससे भी बढ़कर विवाद के बिंदुओं को यहाँ तक कि सहमति के बिंदुओं को यहाँ तक कि सहमति के बिंदुओं को भी ऐसे शब्दों में प्रस्तुत किया गया कि पार्टी सदस्यों का बहुलांश (खास तौर पर मजदूर और किसान) इन बहसों में भाग लेने में वस्तुतः असमर्थ था, इसलिए नहीं कि ये साथी बुद्धि के स्तर पर ऐसा करने में असमर्थ थे बल्कि इसलिए कि बहस जनांदोलनों की ज्वलंत समस्याओं पर नहीं बल्कि कुछ अमूर्त सामान्यीकरणों पर संकेन्द्रित थी।''

– ''सिवाय टी.यू. कमेटी के, अन्य कोई कमेटी सक्रिय नहीं थी... पोलित ब्यूरो के प्रत्येक सदस्यों और उनके कार्यों के संबंध में उदारतावादी रूझान व्याप्त था।... अपने किसी भी सदस्य की असफलताओं और गलतियों की पोलित ब्यूरो कभी भी आलोचना नहीं करता था।''

–''ऐसे भी अवसर कई दिनों के लिए आते थे जब केन्द्र पर पोलित ब्यूरो का कोई भी सदस्य उपस्थित नहीं होता था। इससे भी बढ़कर जब वहाँ अधिक पोलित ब्यूरो सदस्य जमा होते थे तब भी वे सामूहिक टीम के रूप में नहीं बल्कि व्यक्तिगत तरीके से कार्य करते थे... ऐसा होता था कि दूसरे पोलित ब्यूरो सदस्य व्यक्ति के कार्य पर ध्यान देते थे और वे (टीम भावना न होने की वजह से) उस व्यक्ति द्वारा दिये गये विचारों, सुझावों के विपरीत विचार और सुझाव देते थे।''

–''यह संकट ऐसे स्तर तक जा पहुँचा है कि आज के दिन कोई भी पार्टी केन्द्र नहीं रह गया है जो अपने नाम को सार्थक करता हो। (साप्ताहिक और मासिक) पार्टी मुखपत्र पर्चों एवं अन्य साहित्य का प्रकाशन और वितरण, अखिल भारतीय जन संगठनों में साथियों की गतिविधियाँ, यहाँ तक कि केन्द्र में काम करने वाले साथियों द्वारा कार्यों को संगठित करने का काम इन सभी पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। इससे हताशा और आपसी कटुता पनप रही है।''

''प्रांतों में भी स्थिति बेहतर नहीं है, वहाँ भी सामूहिक नेतृत्व का विकास नहीं हो रहा है। हताशा की भावना और निष्क्रियता फैल रही है। अनुशासन की भावना नष्ट हो रही है। पार्टी कमेटी के प्रस्तावों पर कोई अमल नहीं होता। बड़े पैमाने पर अनुत्तरदायी बातें चल रही हैं और पार्टी की प्रतिष्ठा गिर रही है।''

1957 का चुनाव – केरल में विजय

1957 के विधानसभा चुनावों में सीपीआई ने केरल में विजय प्राप्त कर ली थी। सी. पी.आई. सोचती थी कि यह विजय सबूत है सीपीएसयू की बीसवीं कांग्रेस के प्रस्तावों की

सत्यता का, जिसे सीपीआई ने स्वीकार कर लिया था। यह जीत सीपीएसयू के लिये भी काफी लाभदायक थी। इसने कहा कि यह इसके द्वारा प्रस्तावित शांतिपूर्ण संक्रमण की व्यावहारिक जीत है। सीपीआई के वामपंथी धड़े ने इस सफलता की व्याख्या अपनी कांग्रेस विरोधी चुनावी रणनीति की सफलता के रूप में की। परंतु दक्षिणपंथी अड़े हुए थे कि कांग्रेस के प्रगतिशील पहलुओं को मान्य करना चाहिए। इस धड़े ने वामपंथियों की संकीर्ण प्रवृत्ति आलोचना की। दक्षिणपंथियों का कांग्रेस के बारे में यह आकलन सीधे सीपीएसयू से ले लिया गया था। इस बात पर ध्यान दिया चाहिए कि तथाकथित वामपंथी भी सीपीएसयू की बीसवीं कांग्रेस के प्रस्तावों की स्वीकार करते थे।

केरल के चुनाव में मिली जीत से उत्साहित नेतृत्व ने यह सपना देखना शुरू कर दिया कि केन्द्र में सत्ता प्राप्त कर लेना भी आसान होगा। अजय घोष ने स्वयं व्यापक प्रसार वाले इस भ्रम को स्वीकार किया था ''केरल की विजय के बाद से यह विचार मजबूत हो रहा है कि अगले कदम में पश्चिम बंगाल और आंध्रा में कांग्रेस के गद्दी से उतार दिया जायेगा और फिर शनैः शनैः बिना किसी परेशानी के केन्द्र में सत्ता प्राप्त कर ली जायेगी। यद्यपि कि ऐसा किसी के भी द्वारा स्पष्ट रूप से नहीं कहा गया है परंतु व्यवहार में हम सिद्धांत के विश्वास के रूप में देख रहे हैं।''

अमृतसर कांग्रेस

सीपीआई की पाँचवी कांग्रेस मार्च–अप्रैल 1958 में अमृतसर में आयोजित हुई। नेतृत्व का कहना था कि यह असामान्य कांग्रेस राजनीतिक नीतियों पर विचार करने के लिए नहीं अपितु मुख्यतः सांगठनिक मामलों पर बहस के लिए बुलाई गई थी। महासचिव ने रिपोर्ट में 2,30,000 सदस्यों का उल्लेख किया था। 67 प्रतिशत प्रतिनिधि गैर मजदूर और किसान वर्गों से आये थे (मध्यवर्ग, भूस्वामी और छोटे व्यवसायी)। 72 प्रतिशत कालेज स्तर की शिक्षा प्राप्त थे और 78 प्रतिशत 45 वर्ष से अधिक उम्र वाले थे।

पालघाट कांग्रेस के समय तक क्रांतिकारी महत्व के सभी राजनीतिक मुझे हल कर लिये गये थे। सर्वाधिक महत्वपूर्ण मुद्दों यथा शासक वर्गों का चरित्र नेहरू सरकार का चरित्र सीपएसयू की बीसवीं कांग्रेस के निर्णय पर, करीब–करीब सारा ही नेतृत्व कमोबेश संशोधनवादी समझ तक पहुँच चुका था। परंतु गुटवाद खत्म नहीं हुआ था और नेतृत्व में मतभेद भीतर तक समाया हुआ था। इन मुद्दों पर कि कांग्रेस के साथ संयुक्त मोर्चा बनाया जाय या नहीं और मुख्य आक्रमण का लक्ष्य (चुनावों में) कांग्रेस हो या इसका दक्षिणपंथी प्रतिगामी (रियेक्शनरी) हिस्सा हो, नेतृत्व में टकराहट जारी थी।

सीपीसी जुलाई बैठक से ही दक्षिणपंथी धड़े ने अपनी इस दलील को त्याग दिया था कि चूंकि सीपीआई में दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावादी ताकतें पनप रही है इसलिए सीपीआई को इन पर आक्रमण करना चाहिए। मोदेस्ता सबिन्सतीन ने (5 जुलाई और 2 अगस्त 1956 के न्यू टाइम्स में) एक आलेख प्रकाशित करवाया था ''अविकसित देशों के लिए एक गैर–पूंजीवादी रास्ता''। अवाड़ी प्रस्ताव की प्रशंसा करते हुए उसने इस बात की पुष्टि की थी कि यद्यपि इसमें लम्बा समय लग सकता है पर भारत नेहरू सरकार की नीतियों के जरिये समाजवाद तक पहुँच जायेगा। इस आलेख की मदद से दक्षिणपंथी धड़े ने पुनः ''राष्ट्रीय संयुक्त सरकार'' (कांग्रेस के साथ) के विचार को आगे ले आया था। अमृतसर कांग्रेस तक में दक्षिणपंथी धड़े का राष्ट्रीय संयुक्त सरकार का यह विचार बहुमत नदी प्राप्त कर सका था। इस बात को मानते हुए कि पिछले चुनावों में कांग्रेस कमजोर पड़ी है दक्षिणपंथी ताकतें मजबूत हुई पर सीपीआई नहीं। दोनों ही धड़े मात्र अपनी पुरानी दलीलें दुहराने में लगे हुए थे। दोनों ही पक्ष

यह मानने के लिए तैयार नहीं थे कि जनता, जो कांग्रेस की नीतियों से आजिज आ चुकी हैं, सीपीआई की वर्गशत्रु सहयोग की नीतियों की वजह से, दक्षिण की ओर झुक रही है ना कि दूसरी दिशा वाम की ओर नहीं।

यह अमृतसर कांग्रेस की जिसके प्रमुख यह दलील पेश आई थी कि केरल चुनाव शांतिपूर्ण संक्रमण के लिए अवसर का सबूत है। इस दलील का कुछ विरोध भी हुआ था, परंतु कोई गम्भीर बहस नहीं हो पाई थी। वाम पक्ष ने भी जिसने बाद में सीपीएम के रूप में सीपीआई पर शांतिपूर्ण संक्रमण स्वीकारने की वजह से संशोधनवादी होने का आरोप लगाया था, इस मुद्दे को उठाया नहीं था। कांग्रेस को रिपोर्ट में यह कहा गया कि पार्टी में मूलभूत वैचारिक बहसों के प्रति अरुचि बढ़ गई है।

इस कांग्रेस ने एक नया संविधान अंगीकृत किया। सीसी की सदस्य संख्या बढ़ाकर 101 कर दी गई (इसके पहले यह संख्या 38 के ऊपर कभी नहीं पहुँची थी) एक नया निकाय सचिवालय स्थापित किया गया। इसमें महासचिव के अतिरिक्त 5 से 7 सदस्य हो सकते थे। राज्य और जिला कमेटियों का आकार भी इसी तरह से बढ़ा दिया गया था।

यह कहा गया था कि इन परिवर्तनों का उद्देश्य एक जन पार्टी का निर्माण और संगठन को पुनर्जीवन प्रदान करना है। परंतु राजनीतिक और सांगठनिक पतन इतना गहरा था कि ये कदम लकवाग्रस्त संगठन पर कोई वास्तविक प्रभाव नहीं डाल सके थे।

इस संविधान ने विभिन्न सांगठनिक निकायों का नाम बदल दिया, इकाई (सेल) को बदल कर शाखा (ब्रांच) कर दिया गया। सीसी अब से राष्ट्रीय परिषद (नेशनल काउंसिल) कहलाती थी। पोलित ब्यूरो अब केन्द्रीय कार्यकारिणी कमेटी (सीईसी) था।

इस संविधान ने यह घोषित करके कि सीपीआई ''जनतंत्र और समाजवाद को शांतिपूर्ण तरीकों से पूर्ण बनाने की कोशिश करेगी, दक्षिण की तरफ झुकाव को सुनिश्चित कर दिया था।

अमृतसर और विजयवाड़ा कांग्रेस के बीच में

अमृतसर कांग्रेस के बाद से नेतृत्व में गुटीय झगड़े हो गये थे। इसी अवधि में सीपीएसयू और सीपीसी के बीच मतभेद और सीमा विवाद गंभीर हो चला था। परंतु अभी ये मामले विवाद के प्रमुख बिंदु नहीं बन पाये थे। छठी कांग्रेस में भी ये टकराव के मुख्य मुद्दे नहीं बन सके थे।

केरल में वाम मोर्चा सरकार की बर्खास्तगी

जिस दौरान सीपीआई नेहरू की बहसें और भीतरी दोनों नीतियों में प्रगतिशीलता तलाश रही थी, उस समय भी नेहरू ने सीपीआई पर युद्ध के बाद से जारी अपने आक्रमण को शिथिल नहीं होने दिया था। कांग्रेस पाटी वाम मोर्चे की सरकार के बनने के साथ ही इसे गिराने के लिए कुचक्र रचने में लग गई थी। कांग्रेस पार्टी ने शिक्षा अधिनियम और भूमि सुधार अधिनियम खिलाफ प्रचार अभियान छेड़ दिया था। एक ''मुक्ति संघर्ष'' की शुरुआत की गई। साम्प्रदायिक भावनाओं को उभारा गया। कानून और व्यवस्था की समस्या खड़ी की गई। 31 जुलाई 1959 का नेहरु सरकार ने केरल की वाम मोर्चा सरकार को बर्खास्त कर दिया। इस प्रकार शांतिपूर्ण संक्रमण के प्रकाश स्तम्भ को किसी और द्वारा नहीं स्वयं उसी नेहरू सरकार हुई थी। स्वाभाविक है कि इस परिणाम से नेतृत्व भौचक्का रह गया था।

''हमारा यह विश्वास कि हमारे पूंजीपति जो गांधी की परम्परा में पले–बढ़े हैं, मूल्यों को धारण करते हैं, कोई अकेला हमारा ही विश्वास नहीं था। इसलिए इस बात पर किसी

आश्चर्य की आवश्यकता नहीं है कि जब पहली बार केरल सरकार को बर्खास्त करने की घटना हुई, तब हमें काफी धक्का लगा था।''

साफ–साफ इस अलोकतांत्रिक कार्रवाई का परिणाम यह होना चाहिए था कि नेतृत्व द्वारा संसदीय रास्ते और शांतिपूर्ण संक्रमण को लेकर जिसका अनुसरण किया जा रहा था और नेहरू सरकार ताकि भारतीय बड़े पूंजीपति के चरित्र के आकलन को लेकर, आधारभूत पुनर्विचार–आत्म निरीक्षण किया जाता। परंतु ऐसा नहीं हुआ। बहरहाल नेतृत्व के धड़ों ने जो अवसरवाद और कठमुल्लावाद की खाई में गहरे धंस चुके थे, केरल की घटनावली को अपने–अपने आत्मगत राजनीतिक सूत्रीकरणों के ढांचे में फिट कर लिया। दक्षिण पक्ष में इंदिरा गांधी और कांग्रेस के भीतर तथा बाहर बढ़ रही प्रतिक्रांतिकारी ताकतों को इस बर्खास्तगी के लिए जिम्मेदार ठहराया और वह इस निर्णय पर जा पहुँची कि नेहरू के साथ मजबूती के साथ जुड़ने की जरूरत है। जबकि वाम पक्ष ने इस बर्खास्तगी का उपयोग अपनी इस अवस्थित (पोजीशन) को बचाने में किया कि दक्षिणपंथी ताकतें नेहरू पर अपना प्रभुत्व जमाने में लगी हुई हैं। बहरहाल दोनों ही पक्ष यह नहीं समझ सके कि ये घटनायें संसदीय रास्ते और शांतिपूर्ण संक्रमण के सिद्धांत का दिवालियापन प्रकट करती है।

1960 में खुश्चेव भारत आये और उन्होंने नेहरू की बाहरी और भीतरी दोनों ही नीतियों को प्रगतिशील ठहराते हुए उनकी प्रशंसा की। केरल में सम्पन्न मध्यावधि चुनाव में सीपीआई केरल में हार गई।

गुटीय झगड़े जारी रहे और गंभीर होते रहे। अजय घोष इन झगड़ों को इस प्रकार स्वीकार करते हैं : सीपीआई में ''आज कोई एकीभूत राजनीतिक समझ मौजूद नहीं है।... वैचारिक और राजनीतिक तौर पर पर कहा जाय तो, हम किसी तरह जी मर रहे हैं...आधारभूत प्रश्नों के बच रहे हैं... इसका परिणाम है धारा में बहे चले जाना, दिशा का अभाव और अस्तव्यवस्था... पिछले बारह वर्षों से परिस्थितियों का हमारा आकलन अनेकों बार दोषपूर्ण साबित हुआ है और घटनाएँ उस तरह घटित नहीं हुई है जैसे हमने सोचा था।''

मार्च 1960 में सचिवालय ने राजनीतिक प्रस्ताव के लिए तैयारी करने की कोशिश की। दो मसौदे बहस के लिए प्रस्तुत किये गये।

I. रणदिवे और बासव पुन्नैया द्वारा प्रस्तावित वाम मसौदा :

(1) दूसरी पंचवर्षीय योजना संकटग्रस्त थी। (2) निहित स्वार्थ आर्थिक संकट का बोझ जनता पर डाल रहे थे (3) कांग्रेस और नेहरू ने दक्षिणपंथियों और अमेरिकी पूंजी के साथ अधिकारिक समझौते करना शुरू कर दिया था (4) विदेश नीति साम्राज्यवाद की तरफ झुक रही थी। उन्होंने कांग्रेस के विकल्प के रूप में एक मजबूत पार्टी बनाने का सुझाव रखा।

II. डांगे और अजय घोष द्वारा प्रस्तावित मसौदा : (1) योजना संकट में नहीं है तथा भारतीय अर्थव्यवस्था तथा विश्व अर्थव्यवस्था दोनों ही विकसित हो रही हैं। (2) विदेशी आर्थिक मदद को राष्ट्रीय आर्थिक विकास को दृष्टिगत रखते हुए समझना चाहिए (3) सोवियत आर्थिक सहायता भी आ रही है। (''आप डालर को लेकर क्यों परेशान है, देखिए रुबल भी तो आ रहे हैं।'')

अप्रैल में सचिवालय सीईसी की बैठक में मात्र एक मसौदा पेश करने में असफल रहा। रणदिवे ने दक्षिणपंथ के बढ़ते खतरे का मुकाबला करने के लिए वाम एकता का आह्वान किया। डांगे ने सभी ताकतों को एकजुट करके संयुक्त मोर्चा खड़ा करने के लिए आह्वान किया (कांग्रेस भी शामिल करते हुए)। अजय घोष ने इन दोनों मसौदे के समझौता दस्तावेज के रूप में एक अलग दस्तावेज प्रस्तुत किया। अजय घोष ने इसे डांगे केक आर्थिक

विश्लेषण और रणदिवे के राजनीतिक विश्लेषण के आधार पर इसे सूत्रबद्ध किया था। वाम धड़े द्वारा कुछ संशोधनों के साथ इस समझौता दस्तावेज को पारित कर दिया गया। (बाद में चलकर दक्षिणपंथियों ने इसे वामपंथी धड़े की साजिश बताया।

सी.ई.सी. ने जिस दस्तावेज को पारित किया था वह राष्ट्रीय परिषद में अजय घोष द्वारा प्रस्तुत नहीं किया गया था। (डांगे ने अजय घोष पर दबाया डाला था) एक जिच (स्टेलमेट) पैदा हो गई थी क्योंकि दोनों पक्ष इस मुद्दे को निर्णित कर लेने के लिए अड़े हुए थे। बैठक ने दोनों ही मुद्दों को किनारे कर देने का और एक अन्य दस्तावेज को सूत्रबद्ध करने का निश्चय किया। छठी कांग्रेस के लिए दस्तावेजों को सूत्रबद्ध करने के लिए दो कमीशन नियुक्त किए गये।

मास्को विज्ञप्ति (डिक्लेरेशन)

नवम्बर 1960 में 80 कम्युनिस्ट पार्टियों का सम्मेलन आयोजित हुआ। मास्को विज्ञप्ति सामने आई। राष्ट्रीय परिषद ने इस विज्ञप्ति का अनुमोदन कर दिया। इस विज्ञप्ति में सीपीएसयू के दबाव में पिछड़े देशों के समाजवाद में परिवर्तित होने की प्रक्रिया के दौरान **राष्ट्रीय जनवादी राज्य** की एक अवधारणा पेश की गई थी। इसने पिछड़े देशों खास तौर से शांति क्षेत्र में आने वाले देशों को जिनके पूंजीपतियों ने गुट निरपेक्षता की नीति अपना ली है, और जो प्रगतिशील भूमिका निभा रहे हैं, आर्थिक और राजनीतिक मदद देने का प्रस्ताव रखा गया था। सीपीसी शुरुआत से ही राष्ट्रीय जनवादी राज्य की इस अवधारणा का विरोध कर रही थी। चूंकि यह एक समझौता विज्ञप्ति थी इसलिए सीपीसी इसका अनुमोदन करने के लिए मजबूर थी, लेकिन यह स्पष्ट कर दिया था भारत जैसे देश का पूंजीपति वर्ग प्रगतिशील नहीं है और इसलिए उसे मदद देने की जरूरत नहीं है।

मोहित सेन के खयाल से राष्ट्रीय जनवादी राज्य की यह संकल्पना खुद सीपीआई द्वारा जनित थी जिसकी यह पालघाट कांग्रेस से ही विकसित कर रही थी।

सीपीआई के दक्षिणपंथी धड़ा राष्ट्रीय जनवादी राज्य की अवधारणा की मदद से अपनी पुरानी दलीलों को पुनः सामने ले आया। वाम धड़े ने एक राष्ट्रीय जनवादी मोर्चा बनाने का आह्वान किया जिसमें जनता के जनवाद के लिए सर्वहारा को मुख्य भूमिका निभानी थी।

कुल मिलाकर राष्ट्रीय परिषद का दक्षिणपंथी धड़ा अपने दोनों ही दस्तावेजों – कार्यक्रम और राजनीतिक प्रस्तावों के लिए बहुमत जुटा सकता था। फिर भी यह निर्णय लिया गया कि दोनों ही पक्षों के दस्तावेजों को निम्नतम स्तर तक बहस के लिए ले जाना चाहिए।

विजयवाड़ा कांग्रेस

छठी कांग्रेस 9 से 16 अप्रैल तक 1961 में विजयवाड़ा में आयोजित हुई। इस कांग्रेस में सीपीएसयू के सीसी सचिव मिखाइल सुस्लोव ने सक्रिय भूमिका अदा की थी। इन्होंने दक्षिणपंथी धड़े की ओर से कांग्रेस में हस्तक्षेप किया था। इसके बाद भी दस्तावेज को लेकर विचारों में एकता नहीं थी। भारी मतभेद यहां तक कि स्वयं राष्ट्रीय परिषद के गठन को लेकर भी, उठ खड़े हुए थे। दोनों ही पक्षों ने नेतृत्व हथियाने के लिए अनेक जोड़–तोड़ किये। सभी यह समझ रहे थे कि फूट को टाला नहीं जा सकता। लेकिन उस समय कोई भी फूट के लिए तैयार नहीं था। अंततः किसी दस्तावेज को पारित न करते हुए और राजनीतिक मुद्दों को स्थगित करते हुए पार्टी विभाजन के अस्थाई तौर पर रोक दिया गया। कांग्रेस मात्र आने वाले चुनावों में अपनाई जाने वाली रणनीति पर ही प्रस्ताव पारित कर सकी थी।

राष्ट्रीय परिषद ने केन्द्रीय कार्यकारी कमेटी और सचिवालय का चुनाव कराया। लेकिन सुंदरैया, ज्योति बसु और हरिकिशन सिंह सुरजीत इनमें शामिल नहीं हुए। विजयवाड़ा में समझौते द्वारा हासिल किया गया युद्ध विराम अधिक समय तक टिक न सका। 1961 में आखिरी महीने में भारत–चीन सीमा पर तनाव पैदा हो गया था। झड़पें शुरू हो गई थीं। यह विवाद अक्टूबर–नवम्बर 1962 में एक महीने लम्बे युद्ध में परिणत हो गया। भारत के चीन पर आक्रमण को वापस पीछे हटने पर बाध्य करने के बाद, चीनी सेना वापस उस जगह हटने पर बाध्य करने के बाद, चीनी सेना वापस उस जगह वापस लौट गई थी जिस जगह को चीन अपना क्षेत्र मानता था। 1961 के अंत में यह सीमा विवाद सीपीआई के भीतर भी संघर्ष का मुद्दा बन गया था।

भारत–चीन सीमा विवाद

भारत चीन के बीच छिड़ा सीमा विवाद अक्टूबर 1962 को युद्ध तक जा पहुँचा। चूँकि नक्शे साम्राज्यवादियों द्वारा तैयार किये गये थे और विवादित भूमि ऐसी भूमि थी जहाँ कोई मानव बसावट ही नहीं थी, इसलिए इस विवाद को दोनों देशों द्वारा आपसी बातचीत द्वारा कुछ लेकर कुछ देकर हल किया विवाद खड़ा किया था। नेहरू ने सबसे पहले 1954 में यह विवाद खड़ा किया था।

1950 की शुरुआत में नेहरू ने समाजवादी देशों के साथ मैत्री को प्राथमिकता दी थी। कम्युनिस्ट पार्टियों का प्रभाव समाप्त करने और सम्राज्यवादी देशों के साथ मोल–तोल में एक मजबूत स्थान प्राप्त करने के दो हित साधन ही नेहरू की विदेश नीति का आधार था। 1954 में नेहरू ने चाउ एन. लाई. के साथ पंचशील समझौते पर हस्ताक्षर किया था। चीन के साथ मैत्री संबंध को उन्होंने विशेष महत्व प्रदान किया था।

परंतु, पचास के दशक के अंत में, चीन के प्रति नेहरु के रूख में पूर्ण बदलाव आ गया। इसके लिए सोवियत यूनियन का संशोधनवादी देश में बदल जाना मुख्य कारण था। सोवियत संशोधनवादी नेतृत्व दृष्टि से; भारतीय शासक वर्ग के साथ अपने दोस्ताना संबंध को काफी अधिक महत्व देता था। खास तौर से इसलिए कि सीपीसी ने आधुनिक संशोधनवाद के खिलाफ कड़ा रूख अपनाना शुरू कर दिया था, सोवियत यूनियन ने इस सीमा विवाद को चीन के विरुद्ध इस्तेमाल करने के प्रयत्न किये थे इसके लिए भारतीय शासक वर्ग साथ मजबूत संबंध बनाने की प्रयत्न किये थे। यद्यपि कि इसका पहला उद्देश्य अधिक सफल नहीं हो सका था, दूसरा सफल हो गया था। इस अवधि में ही भारतीय शासक वर्ग की सोवियत साम्राज्यवाद के साथ दोस्ती की आधारशिला रखी गई थी।

सीपीआई, भारतीय शासक वर्ग द्वारा साम्राज्यवाद के साथ मिलकर उस चीन के विरुद्ध रचित षड़यंत्र की भर्त्सना करने में असफल रही जो उस समाजवादी शिविर का जो ख्रुश्चेव के संशोधनवाद द्वारा किया जा रहा विध्वंस झेल रहा था, नेतृत्व कर रहा था। इसने सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीय और नेहरू के प्रति अपनी विश्वसनीयता के बीच संतुलन स्थापित करने की कोशिश की। अंततोगत्वा इसने उग्र राष्ट्रवाद की अवस्थिति अपना ली थी और इसने बेशर्मी के साथ नेहरू के आक्रमण का समर्थन किया था। यह नेहरू के साथ चीन को आक्रमणकारी ठहराने के सुर में सुर मिलाने लगी थी।

नेहरू सरकार ने तिब्बत में लामा विद्रोह को खुला समर्थन दिया था। इसने लामाओं को, सीमा में कम्मिपोंग को अपनी गतिविधियों का केन्द्र बनाते हुए अपनी गतिविधियाँ जारी रखने के लिए अनुमति प्रदान की थी। चीन ने पंचशील समझौते का उल्लंघन करते हुए अपने अंदरूनी मामले में भारत की दललंदाजी की भर्त्सना की थी। अप्रैल 1959 में लामा

विद्रोह दबा दिया गया था। भारतीय सरकार ने दलाई लामा को राजनीतिक शरण प्रदान की। इसके साथ ही दोनों देशों के बीच संबंध और भी कटु हो गये थे।

सीपीआई ने कहा था कि चीन के अंदरूनी मामलों में दललंदाजी भारत की गलती है। इसने कहा था कि नेहरू इस बात को नहीं समझ पा रहे हैं कि उनकी यह नीति पंचशील समझौते का उल्लंघन करती है। लेकिन पार्टी ने इस तथ्य को लेकर अपनी प्रसन्नता भी व्यक्त की थी कि नेहरु साम्राज्यवाद द्वारा भयभीत विदेश नीति को बदले जाने के प्रयास का प्रतिरोध कर रहे हैं। यह था वह तरीका सीपीआई के विश्लेषण का जो वह उस समय अपनाये हुई थी जब नेहरू समाजवादी चीन के विरुद्ध साम्राज्यवादी कुचक्र में सहभागी बने हुए थे।) सी.पी.आई. ने कहा था कि प्रतिक्रियावादी लोग दोनों देशों के बीच मतभेद पैदा करने की कोशिश कर रहे हैं। नेहरू की विदेश नीति का बचाव किया जाना चाहिए।

सितम्बर 1960 का सी.सी. प्रस्ताव में कहा गया था : ''भारत–चीन की मित्रता से पहला विश्वासघात, तिब्बत में प्रति–क्रांतिकारी विद्रोह के प्रति भारतीय सरकार के रुझान और कार्यों तथा दलाई लामा को भारत में चीन विरोधी अभियान चलाने में दी गई सहायता के रूप में किया गया था।''

सीपीआई ने कहा था कि भारत की तिब्बत को लेकर कोई महत्वाकांक्ष नहीं है परंतु यह साम्राज्यवादी षड्यंत्र का गैरइरादतन सहभागी बन गया था।

सोवियत रूस ने भी शुरुआत में यही रुख अपनाया था। मास्को रेडियो ने मार्च–अप्रैल 1959 में तीन बार दोहराया था कि कलिम्पोंग का लामा विद्रोह के केंद्र के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है। मार्च 1959 की सीपीआई की सीईसी बैठक ने भी ठीक यही बात कही थी। उस समय तक सीपीआई ने सीपीएसयू की बीसवीं कांग्रेस के निर्णयों का अनुमोदन कर दिया था। अजय घोष एवं अन्य दक्षिणपंथी नेताओं ने मास्को के साथ नजदीकी संबंध बना रखा था। अजय घोष सीपीएसयू तथा सीपीसी के बीच के मतभेदों की गहराई से वाकिफ थे। उस समय तक सीपीएसयू, सीपीआई को भारतीय शासक वर्गों के साथ मैत्री हेतु बलि का बकरा बनाने के लिए तैयार हो चुकी थी। सीपीआई का दक्षिणपंथी हिस्सा नेहरू के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने के लिए आतुर था। इसलिए अजय घोष तथा अन्य नेताओं ने स्वभावतया मास्को का अंधानुकरण की नीति अपना ली थी। मई 1960 के बाद से सोवियत यूनियन ने भारत–चीन सीमा विवाद पर ''तटस्थ'' अवस्थिति लेना शुरू कर दिया था और इसने बिरादराना समाजवादी चीन और भारत जो साम्राज्यवादियों के उकसावे पर आक्रमण की तैयारी कर रहा था, दोनों को एक ही खाने में रख दिया था। इसने कलिम्पोंग का जिक्र करना बंद कर दिया था। सीपीआई ने अपने इस प्रस्ताव को वापस ले लिया जिसमें इसने कहा था कि कलिम्पोंग का विद्रोह के केन्द्र के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है और इसने सीईसी की मई बैठक में ठीक इसका उल्टा प्रस्ताव पास कर दिया।

इस बीच जुलाई 1959 में केरल सरका को बर्खास्त कर दिया गया था। इसके तुरंत बाद सोवियत यूनियन ने भारत को 350 मिलियन रुबल (3,000 मिलियन रुपये) का ऋण प्रदान कर दिया था। सीपीआई एक अजीब स्थिति में फँस गई थी।

केरल सरकार की बर्खास्तगी के बाद से सीपीआई को इस बात का भय था कि सरकार इस पर भारी हमला कर सकती है। इसे डर था कि यदि भारत–चीन विवाद गहराता है तो सीपीआई पर हमला तेज हो जायेगा। इसने चीन से संयम बरतने के लिए प्रार्थना की थी। इसने भारत में नेहरू और अन्य प्रतिक्रांतिकारियों के बीच अंतर का खयाल करने के लिए तथा नेहरू और चाउ एन लाई के बीच वार्ता के लिए प्रार्थना की। सीपीसी को अपने अगस्त पत्र में इसने लिखा था :

''चीन के विरुद्ध अभियान जो लगातार मजबूती प्राप्त करता जा रहा है; भारत की विदेश नीति के विरुद्ध तथा साथ ही भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के विरुद्ध अभियान है। वर्तमान मतभेद के जारी रहने और इस पर बल दिये जाने से भारत की विदेश नीति को भारी खतरा पहुँचेगा तथा दक्षिणपंथियों द्वारा भारत को अमेरिका की ओर धकेलने में, और भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के विरुद्ध कुत्सा प्रचार में मदद मिलेगी।''

8 सितम्बर को लांगजू घटना घटित हुई। यह घटना भारतीय सेना को उकसावा देने से घटित हुई थी। सीपीआई भारत–चीन के बीच युद्ध छिड़ जाने से खुद को पहुँचने वाले नुकसान से भयभीत थी। इसने मास्को से मदद के लिए गुहार लगाई। समाचार एजेंसी तास ने लांगजू घटना पर अपनी चिंता व्यक्त की। इसने प्रकारांतर से यह इशारा कर दिया था कि दोनों देशों के बीच टकराव में यह तटस्थ बना रहेगा। इस प्रकार चीन और भारत दोनों को एक साथ नत्थी कर देने से नेहरू को काफी बल मिला था।

अजय घोष ने तास के व्यक्त को पूर्णतया सही ठहराया। उन्होंने पुनः कहा कि न तो भारत और न ही चीन का आक्रमण करने का कोई इरादा है।

30 सितम्बर को ख्रुश्चेव ने चीन की आलोचना की थी कि यह ताकत के इस्तेमाल द्वारा पूंजीवाद के स्थायित्व की परीक्षा लेना चाहता है। ख्रुश्चेव ने कहा था कि ताइवान और चीन भारत सीमा विवाद के संबंध में चीन का रुख दुराग्रह पूर्ण है। ख्रुश्चेव ने साफ कह दिया था कि भारत आक्रमण करने की कोई मंशा नहीं रखता।

''संभवतया वह कोई नहीं सोच सकता कि भारत जैसा कोई राज्य, जो चीन से आर्थिक और सामरिक मामलों में अनिर्धारणीय रूप से कमजोर है, चीन पर वास्तव में सैन्य हमला कर सकता है और आक्रामक हो सकता है; दरअसल चीन द्वारा इस मामले में किया जाने वाला बर्ताव ''संकीर्ण राष्ट्रवादी प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति'' है; ''

''मैं जानता हूँ कि युद्ध क्या होता है। चूंकि भारतीय मारे गये हैं, इसका मतलब यही है कि चीन ने भारत पर आक्रमण किया है... हम कम्युनिस्ट हैं हमारे लिए यह महत्वपूर्ण नहीं है कि सीमा कहाँ से गुजरती है।''

सीपीआई में विभिन्न मत :

लांगजू घटना तक सीमा को लेकर सीपीआई में कोई विचारणीय मतभेद नहीं थे। लेकिन लांगजू घटना के बाद दक्षिणपंथी हिस्से आलोचना करने लगे कि अगस्त प्रस्ताव यह साफ–साफ नहीं कहता कि आक्रमणकर्ता कौन है। डांगे, अहमद और ए.के. गोपालन ''राष्ट्रवादी'' अवस्थिति अपनाना चाहते थे। उन्होंने कहा कि किसी भी आक्रमण के मुकाबले में देशभक्तिपूर्ण तैयारी को अभिव्यक्त किया जाना चाहिए और चीन की, हल्की ही सही पर स्पष्ट आलोचना की जानी चाहिए। वी.राम मूर्ति, ए के गोपालन और नंबूदरीपाद ने खुली घोषणा की थी कि किसी भी आक्रमण का मुकाबला किया जाना चाहिए। सारतः दक्षिणपंथी और वामपंथी दोनों ही धड़ों ने उग्र राष्ट्रीयता का रुख अपनाया था।

इस बीच 21 अक्टूबर को कांग का पास (पूर्वी लद्दाख) पर दोनों सेनाओं के बीच झड़प हो गई। दोनों ही तरफ मौतें हुई थी। सचिवालय ने इस घटना को ''अनौपचित्यपूर्ण'' करार दिया। इसने अपनी ''असहमति और क्रोध'' व्यक्त किया। इसने नेहरू सरकार के व्यक्तव्य पर पूर्ण विश्वास कर लिया था। इसने यह सुनने की कोई कोशिश भी नहीं की थी कि दूसरा पक्ष क्या कहता है।

ख्रुश्चेव ने यह कर भारतीय सरकार के साथ अपनी खुली सहानुभूति व्यक्त की थी कि चीन लेन–देन के तरीके को अपनाये ही कार्रवाई कर रहा है। ख्रुश्चेव के बयानों के

आधार पवर सीपीआई का नेतृत्व नेहरू को अपना खुला समर्थन घोषित कर देने को तत्पर था। ख्रुश्चेव बुखारेस्ट और मास्को की 81 पार्टियों की बैठकों में, सीपीसी पर जो उसके विरुद्ध विचारधारात्मक संघर्ष चला रही थी, फट पड़ा था। उसने चीन को युद्ध पिपासु कहा था।

अजय घोष ने नवम्बर 1961 में चीन की भारी आलोचना करते हुए एक वक्तव्य दिया। विजयवाड़ा कांग्रेस में सीमा विवाद को लेकर ज्यादा बहस नहीं हुई थी।

सचिवालय में सीमा विवाद पर मतभेद बढ़ने लगे थे। अहमद, योगेन्द्र शर्मा और गोविंदन नायर ने यह दलील दी कि चीन ने मैकमोहन रेखा का आक्रामक हो गया है। उन्होंने इस आशय का एक प्रस्ताव करने के लिए जोर दिया भूपेश गुप्ता, ज्योति बसु सुंदरैया और हरकिशन सिंह सुरजीत का मानना था कि चीन आक्रमण नहीं करेगा। उन्होंने माँग की कि अहमद के खिलाफ, खुले साक्षात्कार देने के के लिए कि चीन गलत है, कार्रवाई की जानी चाहिए। डांगे, योगेन्द्र शर्मा, एम.एन. गोविंदन नायर और अहमद ने इसका विरोध किया। ई.एम.एस. तटस्थ रहे। डांगे ने यह सार्वजनिक वक्तव्य दिया था कि अल्पमत चीन का समर्थक था।

राष्ट्रीय परिषद, अगस्त 1962 में अपनी हैदराबाद बैठक में, सीमा की सुरक्षा के लिए जरूरी कदम उठाते हुए साथ ही शांतिपूर्ण तरीके से बातचीत द्वारा मुद्दे को सुलझाने का प्रयास करने के लिए, भारतीय सरकार द्वारा किये जाने वाले प्रयासों के समर्थन की घोषणा की। वास्तविकता यह थी कि नेहरु ने मुद्दे की बातचीत से सुलझाने का कोई प्रयास नहीं किया था। वह एक ओर साम्राज्यवादियों के उकसावे पर चीन के विरुद्ध आक्रमण की तैयारी कर रहे थे, दूसरी ओर सोवियत संशोधनवादियों की हिमायत करने में लगे हुए थे। अक्टूबर 1962 में भारत द्वारा आक्रमण छेड़ने से पहले सोवियत यूनियन ने यह कहा कि भारत आक्रमण पर उतारु है। इसने यह भी घोषणा की थी कि आक्रमण होने पर वह तटस्थ नहीं रहेगा। बल्कि समाजवादी चीन का समर्थन करेगा।

प्रत्येक आदमी समझौता प्रस्ताव की अपने तरीके से व्याख्या कर रहा था बयान दे रहा था। डांगे ने बयान दिया कि सचिवालय में अल्पमत चीन के समर्थन में था। उन्होंने प्रस्ताव की यह व्याख्या की थी कि सचिवालय चीनी सेना को मैकमोहन लाइन के पार खदेड़ देने का आह्वान करता है।

20 अक्टूबर को भारतीय सेना ने चीन पर आक्रमण किया। युद्ध शुरू हो गया था। नवम्बर में राष्ट्रीय परिषद की बैठक बुलाई गई। राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए आह्वान करने पर राष्ट्रीय परिषद में पूर्ण सहमति थी।

वाम धड़ा सिर्फ इन मुद्दों पर इसरार कर रहा था कि चीन के विरुद्ध कुत्सा प्रचार बंद किया जाय; कि बिलाशर्त वार्ता चलाई जाय, कि बाहरी सैन्य सहायता से इन्कार कर दिया जाना चाहिए। परिषद ने दक्षिणपंथी धड़े का प्रस्ताव पास कर दिया : **चीन के खुले आक्रमण के विरुद्ध अपनी मातृभूमि की सुरक्षा के लिए एकजुट हों।**

सीपीआई ने यह कहते हुए कि सीपीआई ने कभी कल्पना नहीं की थी कि चीन ''एक ऐसे देश के विरुद्ध आश्चर्यजनक दावे पेश करेगा, जो अपनी नव विजित स्वतंत्रता के शांतिपूर्ण सशक्तीकरण में लगा हुआ है जो शांति शिविर का सदस्य है, जो गुटनिरपेक्षता की विदेश नीति का हामी है।'' इस राष्ट्रीय आपदा के समय सभी देशभक्त ताकतों को एकजुट करने की शपथ ग्रहण की।

उसने आगे कहा था कि ''भारत की कम्युनिस्ट पार्टी, व्यवसायिक आधार पर किसी भी देश के शस्त्र खरीदने के खिलाफ नहीं है, परंतु यह देश की रक्षा के लिए सेना की

सहायता नहीं है, परंतु यह देश की रक्षा के लिए सेना की सहायता हेतु बाहर से मानव शक्ति आयात करने के विरुद्ध है।''

वाम धड़े के तीन सदस्यों ने यह कहते हुए कि सचिवालय बैठकों के भीतरी बहसों को व्यवस्थित तरीके से बाहर पहुँचाया जा रहा है त्यागपत्र दे दिया था। महासचिव और भूपेष गुप्ता ने भी त्यागपत्र सौंप दिये थे, परंतु सदस्यों की बहुसंख्या के निवेदन पर वापस ले लिये थे।

चीनी सेना ने आक्रमणकारी नेहरू सेना को सबक सिखाया और वापस चली गई। इस मौके पर ख्रुश्चेव ने घुमा फिरा कर कहा था कि चीनी सेना आक्रामक थी : ''यह अच्छा है कि चीनी सेना ने एकतरफा युद्ध विराम घोषित कर दिया है और अपनी टुकड़ियों को वापस बुला लिया है, पर यह अधिक अच्छा होता कि चीनी सेना अपनी मूल स्थिति से आगे नहीं बढ़ती।''

युद्ध के दौरान, डांगे गुट ने समूची पार्टी को नेहरू के पीछे गोलबंद कर दिया था। उन्होंने सारे पार्टी ढांचे को अपनी गिरफ्त में ले लेने के प्रयास किये थे। इस प्रकार 1962 में, भारत–चीन सीमा विवाद, सीपीआई नेतृत्व में मौजूद धड़ों के बीच मतभेद का मुद्दा बन गया था।

महान बहस – सीपीआई

सीपीआई के नेतृत्व ने जो गुटीय संघर्षों में पूरी तरह डूबा हुआ था। अंतरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन में महत्वपूर्ण मुद्दों पर चल रही बहस पर ध्यान नहीं दिया। दक्षिणपंथी धड़ा सीपीएसयू के साथ पूर्णतः गठबंधित हो चुका था, और मात्र उसके एजेंट की भूमिका निभा रहा था। यहाँ तक कि वामपंथी (सीपीएम का नेतृत्व) ने भी, जिन्हें बाद में ''चीनी रास्ते के समर्थक'', ''दुस्साहसिक'' तथा ''पीकिंग एजेन्र्स'' कहा जाने लगा था, शुरूआत में इस बहस पर कोई ध्यान नहीं दिया था। सुन्दरैया जैसे दो–एक नेताओं ने ख्रुश्चेव को लेकर संदेह जताया था लेकिन उन्होंने ख्रुश्चेव के संशोधनवादी सूत्रीकरणों पर गंभीर विचार नहीं किया और न ही कोई निर्णयों पर बहस की शुरुआत तक नहीं की। वामपंथियों ने ''शांतिपूर्ण संक्रमण'' पर भी कोई सवाल नहीं खड़ा किया। उन सभी मतभेदों के बीच जिसने पार्टी को लकवाग्रस्त कर रखा था, ख्रुश्चेव का संशोधनवाद कभी भी मुद्दा नहीं बना था।

सी.पी.एस.यू. ने CPC को, चीन को नाभिकीय ऊर्जा तकनीक देने से इन्कार करके, सामरिक समझौतों को समाप्त करके, चीन से अपने तकनीकी विशेषज्ञों को वापस बुला करके ब्लैकमेल करने का प्रयास किया। लेकिन सी.पी.आई. ने रूस की इन कार्रवाइयों को दो देशों के बीच का द्विपक्षीय मामला ही माना था। सी.पी.सी. ने, जोधैर्यपूर्वक अंतर्राष्ट्रीय बहस का संचालन कर रही थी, आखिर अप्रैल 1960 में, पहली बार संशोधनवादी ख्रुश्चेव के साथ चल रही अपनी वैचारिक रूप से सार्वजनिक रूप से खुला कर दिया। इसने रेड फ्लैग में लांग लिव लेनिनिज्म शीर्षक से एक लेख प्रकाशित किया। यह समझ करके, वह जो ब्लैकमेल का तरीका अपनाये हुए है, व्यर्थ है, ख्रुश्चेव ने अंधाधुंध आक्रमण शुरू कर दिया। जून 1960 में, रोमानिया की पार्टी कांग्रेस के अवसर पर, बुखारेस्ट में कम्युनिस्ट पार्टियों की मीटिंग में, ख्रुश्चेव ने यह कहकर कि चीन ''तृतीय विश्वयुद्ध को भड़का रहा है'' और यह कि चीन–भारत सीमा विाद को मामले में यह उग्रराष्ट्रवादी रूख अख्तियार किये हुए है, सीपीसी पर हमला बोल दिया। भूपेश गुप्ता और बासवपुन्नैया इस मीटिंग में भारतीय प्रतिनिधियों के तौर पर शिरकत कर रहे थे। उनके भारत लौटने के बाद, सीपीआई में पहली बार सीपीएसयू–सीपीसी मतभेदों पर बहस शुरू हुई। (अजय घोष और डांगे इन मतभेदों के बारे में, काफी पहले

अवगत थे। यह कहा गया था कि वे अपने ''दुस्साहसवादी'' कामरेडों के साथ चल रहे अपने संघर्ष में मास्को–पीकिंग सम्बन्ध को नहीं घसीटना चाहते।

सी.ई.सी. बहसों में, अजय घोष ने पूरी तरह से ख्रुश्चेव का समर्थन किया था। रणदिवे चाहते थे कि सीपीआई को मास्को–पीकिंग विवाद के बीच नहीं पड़ना चाहिए। सुंदरैया ने कहा था कि ख्रुश्चेव पर बिल्कुल भी विश्वास नहीं किया जाना चाहिए। नम्बूदरीपाद इन दोनों ही मतों में तार्किकता दिखाई दे रही थी।

सी.ई.सी. ने सितम्बर 1960 में अंतरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन को प्रभावित करने वाले कतिपय वैचारिक प्रश्नों पर शीर्षक से एक मसौदा प्रस्तावित किया। इसे अजय घोष द्वारा लिखा गया था। अल्पमत का मसौदा प्रस्ताव, भूपेश गुप्ता, सुंदरैया द्वारा पेश किया गया था और ज्योति बसु तथा हरिकिशन सिंह सुरजीत ने इसका समर्थन किया था। वाम धड़े का यह मसौदा प्रस्ताव स्पष्ट और निभ्रांत अवस्थिति नहीं ले सका था। अजय घोष के मसौदा प्रस्ताव को बहुमत दस्तावेज के तौर पर पारित कर दिया गया। इसने 14 मत प्राप्त किये थे जबकि वैकल्पिक मसौदे के 5 मत प्राप्त हुए थे। तीन लोगों ने मतदान में भाग नहीं लिया था। वी. राममूर्ति, नम्बूदरीपाद जो उस समय तक वाम धड़े में थे, और जोशी ने भी बहुमत दस्तावेज का समर्थन किया था। यह प्रस्ताव सीपीएसयू को अपना पूर्ण समर्थन घोषित किया था और सीपीसी की आलोचना करता था। खास तौर पर भारत–चीन सीमा विवाद के मुद्दे पर पूर्णरुपेण नेहरू के पीछे खड़ा था। यह प्रस्ताव युद्ध, शांतिपूर्ण संक्रमण, राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन आदि सभी मुद्दों पर सोवियत दलीलों का पूर्ण समर्थन करता था।

पश्चिम बंगाल की प्रांतीय कमेटी ने इस प्रस्ताव को तिरस्कृत कर दिया। पंजाब तटस्थ रहा। बिहार के वाम धड़े ने इस पराजित करने का प्रयास किया किंतु नाकाम रहा।

आगामी नवम्बर 1960 में प्रस्तावित कम्युनिस्ट पार्टियों के विश्व सम्मेलन में, सी.पी. आई. द्वारा ली जाने वाली अवस्थिति सी.ई.सी. ने ही बहुमत के जरिये सुनिश्चित की थी। बाद में, राष्ट्रीय परिषद ने 81 पार्टियों की घोषणा को स्वीकृत कर लिया था।

विजयवाड़ा कांग्रेस में भी सीपीएसयू – सीपीसी मतभेद पर कोई बहस मौजूद नहीं थी। 1961 में सी.पी.सी.यू. की बाइसवीं कांग्रेस आयोजित हुई। इस कांग्रेस में ख्रुश्चेव ने मार्क्सवाद–लेनिनवाद पर अपने आक्रमण को तीखा कर दिया था। उसने अल्बानिया की कम्युनिस्ट पार्टी पर घृणित आक्रमण छेड़ डाला (अल्बानिया की पार्टी को कांग्रेस में आमंत्रित ही नहीं किया गया था)। स्टालिन पर एक धीमा आक्रमण किया गया। सीपीआई के कार्यकर्ताओं में 1956 से ही जब स्टालिन पर आक्रमण शुरू हुआ था, तीखा विरोध मौजूद था। पार्टी कार्यकर्ताओं के स्टालिन के प्रति प्यार और आदर को देखते हुए, घोष को स्टालिन पर नये आक्रमण से अपनी असहमति जतानी पड़ी थी।

मास्को से पार्टी के प्रतिनिधि मंडल के लौटने तक पार्टी के भीतर सीपीएसयू की बाइसवीं कांग्रेस की अवस्थिति पर व्यापक असहमति उठ खड़ी हुई थी। अजय घोष चतुराई के साथ इस मुद्दे पर वाम धड़े के साथ उलझने से बचते रहे। तत्काल के लिए, यह कहकर कि यद्यपि वे सीपीएसयू की अवस्थिति का व्यक्तिगत रूप से समर्थन करते हैं इस पर राष्ट्रीय परिषद में बहस रखी जायेगी, उन्होंने मुद्दे को टाल दिया था।

विभाजन

1961 के अंत तक भारत–चीन सीमा पर तनाव बढ़ गया था। सी.पी.एस.यू. ने सी.पी. आई. को समर्थन देना शुरू कर दियां भारत–चीन सीमा पर झड़पों के आधार पर अजय घोष ने पूरी चतुराई के साथ, चीन पर हमला बोल दिया। जनवरी 1962 में अजय घोष चल बसे।

गुटीय टकरावों की वजह से महासचिव का चुनाव करना एक दुसाध्य कार्य था। समझौते के तौर पर पार्टी संविधान में संशोधन किया गया और डांगे को चेयरमैन तथा ई.एम.एस. नम्बूदरीपाद को सचिव चुन लिया गया।

शुरुआत में सी.पी.एस.यू. ने घोषित किया कि वह अक्टूबर–नवम्बर 1962 के भारत–चीन युद्ध पर खुद को तटस्थ रखेगा। (चीनी सरकार ने अक्टूबर में रूस को सूचित किया था कि भारतीय सेना आक्रमण की तैयारी में लगी हुई है और सोवियत अधिकारियों ने यह माना था कि चीन सही कह रहा था)। सी.पी.आई. ने चीन को आक्रमणकारी घोषित कर दिया था। सीपीएसयू ने घोषित कर दिया कि चीन आक्रमण पर आमादा है। वाद में चलकर तो रूस ने चीन को सैन्य सहायता भी प्रदान की थी। सी.पी.आई. ने युद्ध कि दौरान अंधराष्ट्रवादी रूख अपनाया। सीपीआई के वाम धड़े ने भी ''राष्ट्रीय सुरक्षा'' का पूर्ण समर्थन किया। इस दौरान, जब चीन विरोधी भावनायें काफी उभार पर थीं, डांगे के नेतृत्व में सीपीआई के दक्षिणपंथी धड़े ने वाम धड़े पर निर्णायक आक्रमण छेड़ दिया। उन्होंने खुलकर ऐलान किया कि राष्ट्रीय परिषद के सदस्यों के बीच चीन–समर्थक मौजूद हैं। उन सभी पर, जो उनके दक्षिणपंथी धड़े में शामिल नहीं था, दुस्साहसी वादी या चीन समर्थक लगा दिया गया। युद्ध के बाद 1963 में नेहरू सरकार ने सीपीआई में मौजूद सभी ''चीन–समर्थकों'' को जेल में डाल दिया गया। प्रांतों में भी डांगे गुट के सभी विरोधियों को जेल में डाल दिया गया। दूसरे देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों ने आग्रह किया था कि इन सभी को रिहा कर दिया जाना चाहिए। परंतु डांगे गुट ने ऐसी कोई मांग नहीं रखी थी। उन्होंने तो आपातकाल समाप्त करने तक की मांग नहीं की। डांगे ने उनकी रिहाई की मांग उठाने से यह कहकर इन्कार कर दिया था कि ''ये नेता जेल में रहेंगे तो कोई आकाश नहीं टूट पड़ेगा।''

चीन विरोधी अंधराष्ट्रवाद का इस्तेमाल करते हुए, सरकार ने उन सभी पर हमला बोलने का प्रयास किया था, जो सीपीआई के नेहरू का दुमछल्ला बन जाने का विरोध करते थे। नेहरू ने, जो देख रहे थे कि देश में आर्थिक संकट गहराता जा रहा था और यह था कि जनता का कांग्रेस पर से विश्वास उठता जा रहा था, आर्थिक तथा राजनीतिक संकट की आने वाली अवधि के दौरान सर्वहारा पार्टी का पूरी तरह खात्मा कर देने का प्रयास किया था। नेहरू सरकार ने डांगे गुट की मदद से, सीपीआई में मौजूद वामपंथी नेतृत्व और जुझारू हिस्से पर हमला बोल दिया था। पूरे देश में 1000 के करीब कम्युनिस्टों को जेल में डाल दिया गया था। सीपीएसयू और डांगे गुट ने सीपीआई में फूट डालने के प्रयास को तेज कर दिया। उन सभी नेताओं को, जिन्होंने बाद में सीपीएम का गठन किया था, महान बहस में चीन का पक्षधर करार दे दिया गया। परंतु यह याद रखा जाना चाहिए कि इन कथित चीन पक्षधर नेताओं ने वस्तुतः कभी भी सीपीएसयू के संशोधनवाद का विरोध नहीं किया था। उन्होंने मात्र कुछ मुद्दों पर ही सीपीएसयू की आलोचना की थी जैसे कि स्टालिन पर आक्रमण का सवाल। ''चीन समर्थकों'' का यह ठप्पा जो उन पर चेप दिया गया था, उनके लिए एक दूसरे तरीके से उपयोगी ही सिद्ध हुआ था।

गंभीर कम्युनिस्ट कार्यकर्ता जो सीपीआई की अवसरवादी संसदीय नीतियों से क्षुब्ध थे, और एक क्रांतिकारी कार्यदिशा की तलाश में थे, इस वाम नेतृत्व के गिर्द एकजुट हो गये थे। बहुत से वे क्रांतिकारी भी, जिन्होंने आगे चलकर सी.पी.आई.एमल का गठन किया था, इस नेतृत्व के निकट चले आये थे।

डांगे गुट ने सभी घृणित तरीकों का इस्तेमाल करते हुए, जिस दौरान समूचा वामपंथी नेतृत्व जेलों में कैद था, पूरे पार्टी संगठन को अपनी गिरफ्त में कर लेने का प्रयास किया। इसने अपनी इच्छानुसार राज्य कमेटियों को भंग करके उनका पुनर्गठन किया और सभी

वामपंथी नेताओं पर अनुशासनात्मक कार्रवाई की। इसने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि, वे उस वाम धड़े को पार्टी से निष्काषित कर दें जो समूची पार्टी को नेहरू का दुमछल्ला बना देने की राह में रोड़ा था। उसी सीपीएमयू ने जिसने विजयवाड़ा कांग्रेस में पार्टी को विभाजन से बचाया था, इस अवसर को विभाजन के लिए उपयुक्त माना था।

वाम धड़ा 1962 से ही तीव्र गति से बदलती और विकसित होती स्थितियों को समझ सकने में अवस्था में नहीं था। सच्चाई यह थी कि वाम धड़े के पास कोई स्पष्ट सर्वसम्मत राजनीतिक परिप्रेक्ष्य मौजूद नहीं था। उनके भीतर खुद ही मतभेद मौजूद था। वाम नेताओं ने, जो 1963 के अंत में जेल से छूट कर बाहर आये थे, सोचा था कि उस समय विभाजन उनके लिए विपरीत परिणाम वाला होगा, अतः वे एकता का प्रयास कर रहे थे। वे बार–बार कह रहे थे कि वे एकता ही चाहते थे, बस उन्हें उनके सांगठनिक पद वापस प्रदान कर दिये जायें। बहरहाल, सीपीएसयू और डांगे गुट ने पहले से ही विभाजन की स्थिति तैयार कर रखी थी। डांगे गुट एकता पर बिल्कुल भी सहमत नहीं था। नतीजा यह निकला कि 1964 में पार्टी दो में बंट गई। इस बात को ध्यान में रखा जाना चाहिए कि सीपीएसयू डांगे गुट और नेहरू सरकार ने 1962 और 64 के बीच, पार्टी विभाजन के लिए पूरे तालमेल के साथ, सम्मिलित प्रयास किया था।

संक्षिप्त सारांश

तेलंगाना सशस्त्र संघर्ष से खुद को अलग कर लेने के बाद से सीपीआई का इतिहास, भारतीय सर्वहारा और भारत की उत्पीड़ित जनता की नेतृत्वकारी भूमिका से पतित होकर एक संशोधनवादी पार्टी में बदल जाने का इतिहास है।

नेहरू ने, देश के भीतर कम्युनिस्टों पर निरंतर आक्रमण से जरा भी विचलित न होते हुए, अपना समाजवादी बड़बोलापन जारी रखा था। अपनी मिश्रित अर्थव्यवस्था और योजनाबद्ध और योजनाबद्ध आर्थिक विकास की अपनी नीतियों के जरिये, वह अपनी सरकार के बारे में भ्रम निर्मित करने में सफल सिद्ध हुए थे। सक्रिय रूप से साम्राज्यवाद के हितसाधन में लगे रहने के बावजूद वे अपनी साम्राज्य
वाद विरोधी छवि बनाये रखने में कामयाब थे। उन्होंने प्रचारित मिया था कि समाजवादी देशों के साथ उनकी मित्रता उनकी घरेलू नीतियों के सही होने का परिचायक है। सीपीआई की दक्षिण की ओर फिसलन तथा अंततोगत्वा और संशोधनवाद में पतन में नेहरू की छद्मवेशी घरेलू और बाहरी नीतियों ने भी अपनी भूमिका अदा थी।

इस अवधि में पार्टी नेतृत्व नेहरू सरकार की विदेशी और घरेलू नीतियों की प्रगतिशील प्रकृति को तलाश लेने का प्रयत्न करता रहा था। नेहरू सरकार की प्रगतिशील नीतियों को समर्थन करने के नाम पर, नेतृत्व वर्ग सहयोगी संश्रय बनाने में लगा रहा था। संशोधनवाद में पतित हो चुका नेतृत्व नेहरू की घरेलू और बाह्य नीतियों की प्रगतिशीलता के आकलन को लेकर झगड़ता रहा था। उस नेतृत्व के लिए जो संसदीयतावाद के पंक में आकंठ डूबा हुआ था, पार्टी के भीतर वाम और दक्षिण धड़ों के बीच अंतहीन टकराहटों में एक मात्र सैद्धांतिक मुद्दा यह था कि क्या चुनावों में कांग्रेस को बाहर से समर्थन दिया जाय या उसके साथ गठबंधन में शामिल हुआ जाय।

पालघाट कांग्रेस में नेतृत्व बचे–खुचे क्रांतिकारी पहलुओं यथा सत्ता हस्तांतरण और नेहरू का वर्ग चरित्र आदि से छुट्टी पा लेने में समर्थ हो गई थी। कांग्रेस ने आजादी को वास्तविक माना था और इसने भारतीय सरकार और इसके नेता का चरित्रांकन बड़े पूंजीपति के रूप में किया था जो ऐसा आत्मनिर्भर पूंजीवादी विकास चाहता है जो इसे साम्राज्यवाद

के मुकाबले खड़ा रह सकने में समर्थ बनाये। इस प्रकार कांग्रेस ने सरकार की घरेलू नीतियों में भी प्रगतिशीलता के तत्व ढूंढ निकाले थे। विडंबना यह थी कि जब पार्टी ने वैचारिक एकता निश्चय ही अपेक्षतया संशोधनवादी, हासिल कर ली थी, भारतीय क्रांति से संबंधित सभी आधारभूत मुद्दों पर एकमत हो चुकी थी, तभी इसके नेतृत्व के बीच का गुटीय टकराव, चुनावों में कांग्रेस के साथ संश्रय और उसके साथ सरकार में हिस्सेदारी के मुद्दे पर राजनीतिक संघर्ष के छद्मवेश में, चरम पर वेदी पर जा पहुँचा था।

इसी अवधि में, नेहरू सरकार ने केरल सरकार को गैर जनतांत्रिक तरीके से अपदस्थ कर दिया था। इस घटना ने, पार्टी नेतृत्व को जो संसदीयतावाद के पंक में आकंठ डूबा हुआ था, आत्मनिरीक्षण की ओर नहीं धकेला बल्कि नेहरू द्वारा किये जा सकने वाले भीषण तक आक्रमण से डर कर और भी दक्षिण की ओर ढकेल दिया। विजयवाड़ा कांग्रेस के समय तक पार्टी विभाजन के कगार पर पहुँच चुकी थी।

ख्रुश्चेव के सत्ता में आने के बाद से संशोधनवादी सीपीएसयू ने सीपीआई के दक्षिणपंथी गुट के साथ संश्रय स्थापित कर लिया था। यह अपने हितों के लिए भारत के शासक वर्गों के साथ अपनी मैत्री को काफी अधिक महत्व देती थी। इसने सीपीसी पर जहरीला आक्रमण किया जो ख्रुश्चेव के संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष का नेतृत्व कर रही थी। परंतु महान बहस ने सीपीआई नेतृत्व के आपस में टकराने वाले गुटों पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं छोड़ा। यहाँ तक कि तथाकथित चीन के अनुगामी बाद के दिनों के – सीपीएम नेताओं ने भी ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के बारे में न तो ज्यादा परवाह की और न ही किसी गंभीर बहस की शुरुआत की।

इसी अवधि में भारत–चीन सीमा विवाद उभर कर सामने आ गया था। समाजवादी चीन के घेरने की साम्राज्यवादी रणनीति के हिस्से के तौर पर : नेहरू ने चीन के विरुद्ध हमलावर रुख अपना लिया था। चीन पर भारत के हमले के बावजूद सीपीआई के दक्षिणपंथी गुट ने चीन पर उसे आक्रमणकारी बताते हुए हमला बोल दिया था। तथाकथित वाम धड़े तक के अधिकांश नेता सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयता को धता बताते हुए राष्ट्रीय अंधभक्तों के समूह में शामिल हो गये थे।

चीन पर हमले के बाद, नेहरू ने, बढ़ते हुए आर्थिक संकट और जनता के मोहभंग को देखते हुए कम्युनिस्ट विरोधी मुहिम छेड़ दी थी। यद्यपि कि वाम गुट दक्षिणपंथी गुट से किसी भी तरह से भिन्न नहीं था, फिर भी इसने चुनावों में कांग्रेस के साथ गठबंधन बनाने का विरोध किया था जबकि दक्षिणपंथी इसके लिए काफी लालायित थे। इसलिए नेहरू ने इस वाम धड़े पर निशाना साधा और इनके नेताओं को जेल में ठूंस दिया। जिस दौरान वाम नेता जेलों में बंद थे, दक्षिणपंथी गुट ने पार्टी के समूचे ढांचे पर कब्जा करने के लिए तोड़–फोड़ की कार्रवाइयों में जुट गया। संशोधनवादी सीपीएसयू के पूर्ण समर्थन के साथ ये वामपंथियों को पार्टी से बाहर करने में लग गये थे। वाम धड़ा व्याकुलता के साथ 'एकता' के प्रयास में लगा हुआ था। वे अपने राजनीतिक मतभेदों को दरकिनार करते हुए केवल अपनी सांगठनिक स्थिति की वापसी की मांग कर रहे थे। दक्षिणपंथी धड़ा जिसने संगठन पर अपनी अच्छी पकड़ कायम कर ली थी, इस अवसर को गंवाना नहीं चाहते थे, जिसके लिए वे लम्बे समय से इंतजार कर रहे थे, और लगातार प्रयास कर रहे थे। 1964 में पार्टी दो हिस्सों में विभाजित हो गई और दक्षिण धड़ों के बीच गुटीय संघर्ष के अंतिम चरण में, महान बहस और भारत–चीन सीमा विवाद तथा युद्ध भी मुद्दं बन गये थे, परंतु इनकी कभी भी कोई निर्णायक भूमिका नहीं थी।

****

चारू मजूमदार, सुशीतल राय चौधरी और सरोज दत्ता तथा कई दूसरों ने महान बहस में चीनी पक्ष का समर्थन किया था। इन्होंने स्पष्ट रूप से भारत–चीन युद्ध पर अपनी अवस्थिति रखी थी और भारत को हमलावर बताया था। 1963 तक वे एक वाम राजनीतिक समूह के रूप में सक्रिय थे। जब पार्टी विभाजित हो गई थी तो वे भी सीपीएम में शामिल थे। इसी प्रकार सीपीआई में मौजूद देशभर के क्रांतिकारी ताकतें इस समूह के गिर्द सिमट देशभर के क्रांतिकारी ताकतें इस समूह के गिर्द सिमट आये थे। यद्यपि कि सीपीएम का उच्चतम नेतृत्व संशोधनवादी था फिर भी सीपीएम ने भारत के कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संशोधनवाद के विरुद्ध एकजुट होने में सहायता पहुंचाई थी। सीपीआई का भीतरी संघर्ष जो उस समय मूलतः दो अवसरवादी गुटों का आपसी संघर्ष हो गया था सीपीएम के गठन के साथ समाप्त हो गया। अब यह राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों पर दो कार्यदिशाओं के बीच क्रांतिकारी संघर्ष में बदल रहा था।

इसलिए 'सीपीएम के निर्माण के साथ ही इसके संशोधनवादी नेतृत्व के सामने मुख्य समस्या वह क्रांतिकारी धड़ा गया था, जो उनके नेतृत्व में चल रही पार्टी के भीतर एक महत्वपूर्ण गुट बन गया था। यद्यपि कि ये क्रांतिकारी एक संगठित ताकत नहीं थे, फिर भी ये सीपीएम के संशोधनवादी नेतृत्व के लिये हर जगह ही सिरदर्द बन गये थे।

विभाजन के बाद पार्टी का संगठन और ढांचा सीपीआई के साथ चला गया था, परंतु अधिकांश जुझारू कार्यकर्ता और निचले स्तर का क्रांतिकारी नेतृत्व सीपीएम में रह गया थ। इसलिए शुरुआती दिनों में सीपीएम नेतृत्व को क्रांतिकारी होने का दिखावा करना पड़ा था। वह पुनः पुनः यह दावा करता था कि सीपीआई का रास्ता संसदीय रास्ता है और इसका अपना रास्ता क्रांतिकारी रास्ता है। यद्यपि कि यह पार्टी के भीतर महान बहस पर विचार विमर्श को टालता रहा था, इसने दिखावा करने कि कोशिश की थी कि अंतर राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन में सीपीसी द्वारा निभाई जा रही क्रांतिकारी भूमिका को स्वीकारता है। और इसी समय, यह समग्रता में पार्टी को संसदीय मार्ग पर लिये जा रहा था। सीपीआई के साथ प्रतियोगिता में, यह पूरी चुनावी संघर्ष में लिप्त हो गया था। आधारभूत राजनीतिक तथा वैचारिक मुद्दों से बचते हुए क्रांतिकारी दिखावा करना, अपनी सारी व्यवहारिक गतिविधियों को चुनावों तक समेट देना और वर्ग संघर्ष को धूमिल कर देना ही, सीपीएम नेतृत्व की शुरुआती दिनों में कूटनीति बनी हुई थी।

तेनाली सम्मेलन

सीपीआई से बाहर निकल आये वाम नेताओं ने शीघ्र ही आंध्र प्रदेश के तेनाली में सम्मेलन आयोजित किया। इस सम्मेलन में विभाजन के पहले ही, बासवपुन्नैया द्वारा एक मसौदा कार्यक्रम तैयार किया गया था। परंतु अंतरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन में चल रही महान बहस पर कोई दस्तावेज नहीं तैयार किया गया था। इस तथाकथित वाम धड़े के पास, जो मात्र नेतृत्व के गुटीय संघर्षों में एकजुट होता था, महान बहस के बारे में कोई सर्वसम्मत राय मौजूद नहीं थी। इसके पास विभिन्न रायों का एक मिश्रण मात्र था। इससे बढ़कर उच्चतम नेतृत्व में खुले तौर पर अपनी अवस्थिति को स्पष्ट करने का दम ही नहीं था। दरअसल कार्यक्रम को लेकर भी उनके बीच एकता नहीं थी। इसलिए सम्मेलन ने यह निश्चय किया कि उक्त मसौदा कार्यक्रम केवल बहस चलाने का दस्तावेज होगा।

विशेषरूप से बात को ध्यान में रखते हुए कि सीपीएसयू की बाइसवीं कांग्रेस के बाद से पार्टी कार्यकर्ताओं में सोवियत रूस और सीपीआई के संशोधनवाद को लेकर असंतोष बढ़ता जा रहा है और एक क्रांतिकारी कार्यदिशा अपनाने के लिए दबाव भी बढ़ता जा रहा है, सीपीआई(एम) का नेतृत्व महान बहस पर पार्टी के भीतर विचार विमर्श में टाल मटोल करता रहा। सीपीआई (एम) में महान बहस पर मौन रहने का ही निश्चय कर लिया था; जो आधुनिक संशोधनवाद के विरुद्ध विश्वव्यापी संघर्ष का स्वरूप ग्रहण कर चुकी थी। यद्यपि उन्होंने राजनीतिक और विचारधारात्मक मुद्दों को टाल दिया था और चूँकि वे राजनीतिक ''चीन अनुगामी'' के रूप में पहले ही प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे और इसीलिए सीपीआई के क्रांतिकारी कार्यकर्ता और निचले स्तर के नेता स्वाभाविक रूप से सीपीआई (एम) के गिर्द जोश–खरोश के साथ समूहबद्ध हो गये थे। नम्बूदरीपाद और ज्योति बसु जैसे नरम नेताओं को भी अपने साथ बनाये रखने के लिए, नेतृत्व के राजनीतिक और विचारधारात्मक मुद्दों से बचने को सर्वोत्तम नीति समझो। तेनाली सम्मेलन ने कांग्रेस के आयोजन की माँग रखी।

कलकत्ता कांग्रेस (सीपीआई)

अक्टूबर–नवम्बर 1964 के दौरान कलकत्ता में सातवीं कांग्रेस आयोजित हुई। (सीपीआई ने भी जल्दबाजी में कांग्रेस के आयोजन का प्रयास शुरू कर दिया था। इसने पार्टी का नाम बदल देने का भी विचार किया था। सीपीआई ने दिसम्बर 12–13 को बाम्बे में सातवीं कांग्रेस आयोजित की थी) कांग्रेस ने (तेनाली सम्मेलन में प्रस्तुत) नया कार्यक्रम स्वीकार किया।

–भारतीय सरकार बड़े पूंजीपति के नेतृत्व में पूंजीपतियों और भूस्वामियों की सरकार है। (यह न तो राष्ट्रीय पूंजीपतियों की है जैसा कि सीपीएसयू और सीपीआई मानती है और न ही दलाल पूंजीपतियों की जैसा कि सीपीसी और क्रांतिकारियों का आकलन है)।

– भारत की आर्थिक योजना लाभ की दृष्टि से काम कर रही है और विदेशी शोषकों के अधीन है (सीपीआई ने कहा कि योजनाबद्ध आर्थिक विकास भारत की आजादी को सुदृढ़ कर रही है)।

–भारत की विदेश नीति एक हाथ से साम्राज्यवाद से विरोध प्रदर्शित कर रही है तो दूसरी हाथ से मित्रता। (सीपीआई के अनुसार यह मुख्य रूप से शांति गुट निरपेक्षता और उपनिवेशवाद का विरोध को अपने में समेटे हुए है।)

–इसने चीन को आक्रमणकारी नहीं कहा। न ही इसने भारत को आक्रमणकारी कहा बल्कि यह विचार प्रस्तुत किया कि सीमा विवाद ने, जो चीन–भारत युद्ध में परिणत हो गया, भारतीय सरकारा की गुट निरपेक्षता की नीति को अमेरिका की ओर झुकने में मदद पहुंचाई। (सीपीआई कर कहना था कि चीनी आक्रमण से उत्पन्न संकट के काल में भी भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति अक्षुण्ण रही थी।)

–जनता के जनवादी मोर्चे के माध्यम से जनता के जनवाद का निर्माण ही कार्यभार है। जनता के जनवादी मोर्चे का अर्थ है – ''सर्वहारा नेतृत्व के अधीन समस्त साम्राज्यवाद–विरोधी और समस्त सामंतवाद–विरोधी ताकतों का साझा मोर्चा'' (सीपीआई का नारा था राष्ट्रीय जनवादी राज्य के लिये राष्ट्रीय जनवादी मोर्चा जिसे शांतिपूर्ण तरीकों से निर्मित किया जाना है।)

कांग्रेस ने रणनीति और रणकौशल पर भी प्रस्ताव पारित किये। कांग्रेस ने उस बहस को टाल दिया जो उस समय विचारधारात्मक और राजनीतिक मुद्दों पर वैश्विक स्तर पर चल रही थी। संशोधनवादी नेतृत्व नवनिर्मित पार्टी पर अपनी पकड़ मजबूत कर लेने से पहले

बहस के लिए तैयार नहीं था। यह भलीभांति जानता था कि मूलभूत विचारधारात्मक और राजनीतिक मुद्दों को बहस में लाना और कुछ नहीं बल्कि विभाजन को कार्यसूची में लाना है। इसीलिए इसने कांग्रेस के प्रस्ताव को लागू नहीं किया। (नक्सलवादी संघर्ष के बसंत के वज्रनाद के साथ ही क्रांतिकारियों ने समूचे देश में ही इस बहस को गर्म कर दिया था और इस प्रकार सीपीआई(एम) के नेतृत्व को इस बहस में उतरने के लिए बाध्रू कर दिया था।)

नव संशोधनवाद का पर्दाफाश

जन्म के छः महीने के भीतर, सरकार ने सीपीआई(एम) पर देशव्यापी आक्रमण शुरू कर दिया था। करीब 1000 लीगों को जेल में डाल दिया गया। सरकार ने आरोप लगाया कि चीन भारत पर पुनः हमला करने वाला है और उसी के साथ सीपीआई(एम) देश में सशस्त्र क्रांति छेड़ देने के लिए षडयंत्र रच रही है। 1963 की ही तरह 1964 की गिरफ्तारियाँ भी चुनकर की जा रही थीं। सरकार ने नम्बूदरीपाद और ज्योति बसु जैसे ''नरम वामपंथियों'' को गिरफ्तार नहीं किया था। चूँकि सुंदरैया गिरफ्तार हो चुके थे, नम्बूदरीपाद ने तदर्थ सचिव का कार्यभार सम्हाल लिया था। (1965 में भी पाकिस्तान के साथ युद्ध छेड़ने से पहले भारतीय सरकार ने इन नेताओं और जुझारू कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार कर लिया था। बासव पुन्नैया जैसे बंदी नेताओं ने हर तरीके से सरकार के सामने यह सिद्ध करने का प्रयास किया था कि वे ''पीकिंग एजेंट'' नहीं है। उन्होंने लिखा था कि गृहमंत्री नंदा को अधिकार नहीं है कि वे उन्हें सीपीआई से भिन्न मानें क्योंकि उन पर यह आरोप लगाना उचित नहीं है कि वे सशस्त्र क्रांति करने वाले हैं और यह सीपीआई की तरह वे भी शांतिपूर्ण संक्रमण प्रतिबद्ध है।

1965 में केरल के चुनाव में सीपीएम सबसे अधिक सीटों पर विजयी पार्टी के रूप में सामने आई। जून 1966 में नेताओं के जेलों से रिहा होने के बाद और जन्म के 17 महीनों के बाद तेनाली में सीसी बैठक आयोजित हुई। सीसी ने चुनावों में सीपीआई की हार पर तथा पूरे देश में फैल रहे संकट की वजह से जन संघर्षों के फूट पड़ने पर अपनी प्रसन्नता व्यक्त की। आम चुनावों में भागीदारी के लिए अपनी पूरी ताकत इकट्ठा करने हेतु इसने खुद को तैयार कर लिया था।

1967 के आम चुनावों में सीपीआई(एम) ने केरल और बंगाल में जीत हासिल की। आठ प्रदेशों में गैर कांग्रेसी सरकारों ने शपथग्रहण किया। पूरे देश में जन संघर्षों का फूट पड़ना शुरू हो गया। आर्थिक और राजनीतिक संकट क्रांतिकारी स्थिति की ओर ले जा रहा था। इन परिस्थितियों का आकलन करते हुए क्रांतिकारियों ने 1965 से ही सीपीआई (एम) के संशोधदवादी नेतृत्व की अवहेलना करते हुए, चारू मजूमदार के नेतृत्व में क्रांतिकारी किसान संघर्ष सब्र करने की कोशिश शुरू कर दी थी। दूसरी तरफ खुद को क्रांतिकारी पार्टी घोषित करने वाली सीपीआई(एम) का नेतृत्व पूर्णरूपेण संसदीय रास्ते को अपना चुका था। इसने खुद को पूरी तरह से केंद्र में गैर कांग्रेसी सरकार का गठन करने के काम में व्यस्त कर चुका था। दूसरी ओर इसने केरल और बंगाल की वाम सरकारों को बचाने के लिए जन आंदोलनों को नष्ट करने में लग गया था। (सीपीआई (एम) के नेतृत्व ने 1957 में ही यह समझ लिया था कि जनता संघर्ष ''कानून और व्यवस्था'' की समस्या पैदा करते हैं और यह कि ''कानून और व्यवस्था'' की समस्या उनके मंत्रालय के लिए खतरा है।)

अप्रैल 1967 की सीसी बैठक ने **नई परिस्थिति और पार्टी के कार्यभार** शीर्षक वाला एक राजनीतिक प्रस्ताव सूत्रबद्ध किया। यह प्रस्ताव यह साफ साफ दिखाता था कि सीपीआई(एम) नेतृत्व संसदीय राह पर कितनी गहराई तक धंस चुका था।

रिपोर्ट में कहा गया था कि ऐसी सरकारों में पार्टी की भागीदारी जनता का जनवाद कायम करने हेतु, सर्वहारा और इसके सहयोगियों के पक्ष में अधिकाधिक जनता और अधिकाधिक सहयोगियों को जीतने के लिए किए जाने वाले संघर्ष का एक विशिष्ट रूप है।''

व्यवहार में इसने, उन सरकारों को बचाने के एकमात्र उद्देश्य के साथ यह सभी संघर्षों का दिखावा भर करने के रास्ते पर चल पड़ी थी।

''चूंकि विकास के वर्तमान चरण में, समूची पार्टी का भाग्य इन मंत्रालयों के सफल संचालन और इसमें हमारी पार्टी द्वारा निभाई जाने वाली भूमिका से नत्थी है, इसलिए देश भर में समूची पार्टी को इन दो गैर कांग्रेसी मंत्रालयों की सहमति से निर्धारित कार्यक्रमों के समर्थन में लोगों को जागरूक करना होगा और यह ध्यान रखना होगा कि ये पूरे मनोयोग के साथ संचालित हों।''

सीपीआई(एम) के प्रमुख सिद्धांतकार, बासवपुनैया, ने जब वे जेल में थे, तभी, गृह मंत्री गुलजारी लाल नंदा को पत्र लिखा था कि क्रांति के बारे में सारे तूर्यनाद के बावजूद, सीपीआई की तरह उनकी पार्टी भी सिर्फ संसदीय रास्ते से प्रतिबद्ध है।''

''ऐसा स्पष्टरुपेण इस नये आकलन के आधार पर है कि हमने अपने पार्टी कार्यक्रम में समाजवाद की ओर शांतिपूर्ण संक्रमण की नई संकल्पना प्रस्तुत की है। इस संकल्पना का सूत्रीकरण साथ ही हिंसा के खतरों के विरुद्ध सामान्य चेतावनी जो साधारणतया शासक वर्गों द्वारा प्रसारित की जाती है, ठीक–ठीक डांगे के कार्यक्रमों में ही कही गई बातों के समान हैं। फिर ''नयी दिशा (ओरियेंटेशेन)'' का हमारे द्वारा विरोध और अन्यों के द्वारा समर्थन का सवाल ही कहाँ उठता है। यह साफ–साफ कुत्सा प्रचार है।''

सीपीआई की इस संशोधनवादी प्रकृति को दृष्टिगत रखते हुए सीपीसी ने न तो 14 अप्रैल 1964 के तेनाली सम्मेलन में और न ही कलकत्ता सम्मेलन में कोई टिप्पणी रखी थी। आगे चलकर इसने सीपीआई(एम) के नेतृत्व को ''डांगे के बिना संशोधनवाद'' के रूप में वर्णित किया था। अप्रैल 1967 में पीकिंग रेडियो ने टिप्पणी की थी ''भारत की कोई कम्युनिस्ट पार्टी नहीं है। केवल कुछ सम्युनिस्ट व्यक्ति मौजूद हैं।''

1965–67 के बीच चारु मजूमदार तथा कुछ अन्य लोग मार्क्सवाद–लेनिनवाद और माओ विचारधारा के निर्देशन में नक्सलवादी क्षेत्र में किसान संघर्ष खड़ा करने का प्रयत्न करते रहे थे। मार्च 1967 तक, इस किसान संघर्ष ने एक मोड़ लिया। किसानों ने भूस्वामियों की जमीन पर कब्जा करने का फैसला कर लिया। सीपीआई(एम) के सामने यह दुविधा उठ खड़ी हुई कि क्या वह अपना क्रांतिकारी मुखौटा उतार फेंके या उस राज्य सरकार की बलि चढ़ा दे जो दिल्ली की गद्दी पर काबिज होने का आसान रास्ता है। स्वभावतः इसने नक्सलबाड़ी संघर्ष को दमित करने का निश्चय किया। नक्सलबाड़ी के सशस्त्र किसान संघर्ष ने सीपीआई(एम) नेतृत्व का नव–संशोधनवादी मुखौटा नोच डाला।

संशोधनवादी नेतृत्व के अपने आलाकमान के अनुसार भी पार्टी के 40 प्रतिशत कार्यकर्ता क्रांतिकारियों के प्रभाव में थे। इसलिए पार्टी ने हर तरह से प्रयास किया कि क्रांतिकारी ताकतें प्रभावहीन रहें। इसने पार्टी संगठन पर अपनी पकड़ बनाये रखने के लिए निम्नतम स्तर के प्रयास किये थे। दूसरी ओर महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति, जो चीन में माओ के नेतृत्व में उफान पर थी, पूरी दुनिया की क्रांतिकारी पार्टियों और ताकतों को उद्वेलित और प्रेरित कर रही थी। आधुनिक संशोधनवादियों के विरुद्ध संघर्ष तेज गति पकड़ चुका था। तीन मुख्य पहलुओं यथा नक्सलबाड़ी संघर्ष और वह क्रांतिकारी रास्ता जिसका यह प्रतिनिधित्व कर रहा था, महान बहस और सांस्कृतिक क्रांति के आधार पर मार्क्सवादी–लेनिनवादी क्रांतिकारियों का ध्रुवीकरण तेज गति से जारी था।

सीपीआई(एम) के संशोधनवादी नेतृत्व ने अपनी राजनीतिक अवस्थिति का स्पष्टीकरण करना शुरू कर दिया क्योंकि जिन विचारधरात्मक और राजनीतिक मुद्दों पर यह बहस को टालते चला जा रहा था अंततोगत्वा सामने आ खड़े थे और इनका मुकाबला करने से वे बच नहीं सकते थे। इसने **विचारधारात्मक बहस के लिए मसौदा (ड्राफ्ट)** सूत्रबद्ध किया।

इसने घोषित किया कि वे सीपीसी के साथ केवल युद्ध और शांति, शांतिपूर्ण सहअस्तित्व, शांतिपूर्ण आर्थिक प्रतियोगिता, शांतिपूर्ण संक्रमण, स्तालिन के मूल्यांकन जनता की पार्टी और समस्त जनता की सरकार के पहलुओं पर सहमत है। इसने साफ कर दिया कि वे विश्वक्रांति के संदर्भ में और पिछड़े देशों खासकर भारत में क्रांतियों के संदर्भ में सीपीसी के मूल्यांकन से मतभेद रखता है। इसने कहा कि यद्यपि सोवियत यूनियन संशोधनवादी और वर्ग शत्रु सहयोगी नीतियाँ अपना रहा है, परंतु अभी भी यह कहना गलता होगा कि वहाँ पूंजीवाद की पुनर्स्थापना हो गई है। उसने बल्कि सीपीसी से यह आग्रह भी किया कि वह सीपीसीयू के साथ मैत्री बनाये और उसके साथ संयुक्त गतिविधियाँ चलाये।

''बहरहाल, सीपीएसयू के संशोधनवादी नेतृत्व तथा सोवियत राज्य द्वारा आगे बढ़ाई जा रही समझौतावादी और वर्गशत्रु सहयोगी नीतियों की हमारी आलोचना में किसी भी तरह से यह पूर्णतया गलत विचार निहित नहीं है कि सोवियत यूनियन अमेरिकी साम्राज्यवाद का संश्रयकारी बन गया है या यह कि सोवियत यूनियन विश्वप्रभुत्व में अमेरिकी साम्राज्यवाद के साथ हिस्सा बंटाने के लिये और विश्व में प्रभावक्षेत्र के बंटवारे के लिए कार्यरत है क्योंकि ऐसा करना सोवियत यूनियन को समाजवादी शिविर से बाहर रखने के बराबर है।

इस प्रकार अभी भी अपना वामपंथी मुखौटा लगाये हुए, इसने न केवल पिछड़े देशों और भारत के क्रांतिकारी रास्ते को त्याग दिया है बल्कि आधुनिक संशोधनवाद के दुर्ग उस सोवियत यूनियन के साथ संयुक्त गतिविधियों और मित्रता का उपदेश देने लगा है, जो अंतरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन का फौरी दुश्मन बन चुका है।

बर्दवान बैठक (प्लेनम)

अप्रैल 1968 में सीपीआई(एम) की बैठक बर्दमान में आयोजित हुई। बर्दवान बैठक ऐसे समय में आयोजित हो रही थी जब पूरे देश में सच्चे क्रांतिकारी नक्सलबाड़ी के वसंत वज्रनाद के बाद से नक्सलबाड़ी के रास्ते के गिर्द समूहबद्ध हो रहे थे। सीपीआई (एम) के संशोधनवादी नेतृत्व ने, जिसने नक्सलबाड़ी किसान आंदोलन को खून की नदियों में डुबो डाला था, क्रांतिकारियों पर सांगठनिक रूप से हमला करने की स्थिति तैयार कर ली थी। इस बैठक में क्रांतिकारियोंके मसौदे को 22 मत प्राप्त हुए थे, सीसी मसौदे ने 185 मतों के साथ जीत हासिल कर ली थी। परंतु आंध्र और काश्मीर की पार्टी कमेटियों ने इस मसौदा प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया था। हम कह सकते हैं कि सीपीआई(एम) का क्रांतिकारियों के साथ संक्षिप्त सहअस्तित्व बर्दवान बैठक के साथ ही अंत हो गया।

आंध्र और काश्मीर राज्य में होने वाले विभाजन ने सीपीआई(एम) को गंभीर नुकसान पहुंचाया था। उत्तर प्रदेश और केरल में भी इसे काफी नुकसान उठाना पड़ा था। सारे ही देश में मार्क्सवादी–लेनिनवादी क्रांतिकारियों ने संशोधनवाद के साथ अपने सभी रिश्तों को भंग कर दिया और मार्क्सवादी–लेनिनवादी–माओ विचारधारा के आधार पर एक सच्ची क्रांतिकारी पार्टी निर्मित करने के प्रयास को तेज कर दिया। संशोधनवाद और नवसंशोधनवाद दोनों को ही पर मरणांतक प्रहार करते हुए तथा अतीत में सीपीआई नेतृत्व के अंतर्गत चलने वाले संघर्षों की वीरतापूर्ण परम्परा को अपनाते हुए 22 अप्रैल 1969 को सीपीआई(एम.एल.) का जन्म हुआ।

नक्सलबाड़ी ने न केवल, तेलंगाना किसान आंदोलन से उभरे उस नवजनवादी क्रांतिकारी रास्ते को पुनर्स्थापित किया, जो उस समय तक भी पार्टी नेतृत्व की विध्वंवक गतिविधियों की वजह से छायाग्रस्त था बल्कि यह उस क्रांतिकारी पार्टी के जन्म की तरफ अग्रसर एक महत्वपूर्ण घटक बन गया था। नक्सलबाड़ी संघर्ष ने भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन के इतिहास में एक गुणात्मक रूप से भिन्न एक नये अध्याय की शुरुआत कर दी थी।

संक्षिप्त सारांश

जब सीपीआईएम गठित हुई थी तो इसने क्रांतिकारी शब्दावली को तोतारटंत शुरू कर दी थी। 'चीन अनुगामियों' का लेबल जो इस पर दक्षिणपंथी धड़े ने इस पर चस्पा कर दिया था, इनके लिए सहायक बन गया था। विभाजन के समय जुझारु कार्यकर्ता और निचले स्तर का नेतृत्व सीपीआईएम के साथ समूहबद्ध हो गया था। चूँकि सीपीआईएम की स्थापना किसी सैद्धांतिक और ठोस राजनीतिक एकता पर आधारित नहीं थी, इसलिए जन्म से ही यह भारी आंतरिक मतभेदों से घिरी हुई थी। इसका नेतृत्व सीपीआई के नेतृत्व से मूलतः भिन्न नहीं था। लेकिन पार्टी में एक काफी बड़ा हिस्सा मौजूद था, जो सीपीआई के संशोधनवाद के विरुद्ध इसकी शब्दावली और बड़बोलेपन से आकर्षित था। यह क्रांतिकारी हिस्सा, उस समय तक पार्टी द्वारा अनुसरित संसदीय और वर्ग सहयोग के रास्ते से बिल्कुल ही भिन्न क्रांतिकारी रास्ते के लिये अभियान चलाने के लिए कटिबद्ध था और खुश्चेवी संशोधनवाद से लड़ने तथा महान सर्वहारा क्रांति का झंडा उठाने के लिए दृढ़ निश्चयी था। इसलिए नवसंशोधनवादी नेतृत्व इसे शांत करने, समय बिताने और धीरे–धीरे इसे संसदीय रास्ते पर ले आने की कोशिश में लगा हुआ था। इसलिए इसके लिए यह आवश्यक था कि एक और यह क्रांतिकारिता का मुखौटा लगाये रखे और साथ ही क्रांतिकारी कार्यकर्ताओं और जनता की आँखों में धूल झोंकते हुए सैद्धांतिक मुद्दों को टालता रहे तथा मूल मुद्दों पर चुप्पी बनाये रखे। क्रांति की तोता रटंत जारी रखते हुए, सीपीआई के साथ मुकाबला करते हुए यह पूरी ताकत के साथ पार्टी की संसदीय रास्ते पर बढ़ाने की कोशिश करता रहा था।

नक्सलबाड़ी ने सीपीआईएम नेतृत्व के नव संशोधनवादी नकाब को उतार फेंका। नक्सलबाड़ी ने नेतृत्व को दुविधा में डाल दिया था– कुछ और समय तक क्रांतिकारी मुखौटे को लगाये रखे था केरल तथा पश्चिम बंगाल की उन सरकारों को बचाये जिन्हें वह केन्द्र की सत्ता तक पहुँचने के लिए सीढ़ी के पत्थर समझता था। शीघ्र ही इसने अपने क्रांतिकारी मुखौटे को उतार फेंका और उस नक्सलबाड़ी को खून से नहला दिया जिसने दीर्घकालीन लोकयुद्ध का रास्ता पुनरुस्थापित कर दिया था। इस तरह से मुखौटारहित नग्न संशोधनवाद अपनी असली राजनीतिक और सैद्धांतिक अवस्थितियों को प्रकट करने लगा था।

यद्यपि कि सीपीआई(एम) के नेतृत्व द्वारा नक्सलबाड़ी को निर्दयता के साथ दबा दिया गया था, यह पूरे देश में क्रांतिकारी ताकतों के समूहन का केन्द्र बन गया था और इसने उस सीपीआई(एमएल) के गठन का मार्ग प्रशस्त किया, जिसने सीपीआई नेतृत्व के वर्गशत्रु सहयोग और अवसरवाद के लम्बे इतिहास को भंग कर डाला और जो देशव्यापी कृषि क्रांति आंदोलन निर्मित करने और उसका नेतृत्व करने के लिए आगे बढ़ चली थी।

****

माओ के निर्देशन में सीपीसी की संयुक्त मोर्चे की रणनीति, मार्क्सवाद–लेनिनवाद के रचनात्मक विकास के एक उदाहरण के रूप में सामने खड़ी थी जबकि सीपीआई के संयुक्त मोर्चे की रणनीति वर्गशत्रु सहयोग प्रवृत्ति और यांत्रिक विधि का उदाहरण पेश करती थी।

संयुक्त मोर्चे को लेकर सीपीआई की कमजोरियां इन चार मुख्य पहलुओं से संबंधित थीं। ये है :

1. संयुक्त मोर्चे पर सर्वहारा प्रभुत्व ;
2. संयुक्त मोर्चे में शामिल विभिन्न शक्तियों की प्रकृति, ताकत तथा कमजोरियाँ और उनके अंर्तसंबंध;
3. संयुक्त मोर्चे की स्वतंत्रता और पहलकदमी;
4. संयुक्त मोर्चे में एकता और संघर्ष के बीच द्वन्द्वात्मक संबंध।

1. सर्वहारा का प्रभुत्व

ऐसा लगता है कि सीपीआई ने कभी भी साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चे के संबंध में सर्वहारा प्रभुत्व के मुद्दे को ठीक से समझा ही नहीं था। यह कमजोरी, संयुक्त मोर्चे पर सर्वहारा प्रभुत्व स्थापित करने के उद्देश्य के न होने के अभाव और फलतः इस हेतु कोई समुचित रणनीति को न अपनाये जाने में ही परिलक्षित हो जाती है।

अपने गठन के समय से ही सीपीआई नेतृत्व ने अपनी अवसरवादी और समर्पणवादी प्रवृत्तियाँ प्रदर्शित करना शुरू कर दिया था। दत्त–ब्राडले थीसिस से पहले तो यह कई बार सर्वहारा प्रभुत्व की बात कर भी लेती थी। पर इसने कभी भी लेनिन और कोमिंटर्न द्वारा सुझावित उस रास्ते का अनुसरण नहीं किया जो बताता है कि राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन पर सर्वहारा प्रभुत्व स्थापित करने के लिए, सर्वहारा पार्टी को पहले विशाल कृषक जनता के नेता के रूप में स्थापित होना होगा। संयुक्त मोर्चे में शामिल विभिन्न शक्तियों का स्थान मूलतः उनकी ताकत की कमी–बेशी से तय होता है।

पिछड़े देशों में किसान वर्ग ही वह प्रबल शक्ति है, जो साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चे में सर्वहारा के लिए प्रभुत्व हासिल कर सकती है। सीपीआई ने कभी भी कृषि कार्यक्रम पर आधारित राष्ट्रव्यापी किसान आंदोलन खड़ा करने के प्रयास काम हाथ में नहीं किया, जिसके लिए लेनिन और कोमिंटर्न बार–बार इशारा करते रहे थे। इसलिए यद्यपि कि 1935 तक की अवधि में सीपीआई का उद्देश्य सर्वहारा प्रभुत्व हासिल करना था यह मात्र इसकी मनोगत इच्छा बना रहा। मात्र बुर्जुआ नेतृत्व की आलोचना करने से ऐसा नेतृत्व स्थापित कर पाने की कोई संभावना नहीं है। इसीलिए सीपीआई साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चे पर कोई निर्णायक प्रभाव नहीं डाल रही।

परंतु ठीक यही अवधि थी जिसके दौरान सीपीआई मेहनतकश वर्ग के बीच अपनी मजबूत स्थिति निर्मित कर सकती थी और किसानों के बीच कार्य शुरू कर सकती थी। छोटी होने पर भी, उस प्रभाव को महसूस करते हुए जो सर्वहारा पार्टी विशाल मेहनतकश वर्ग और किसान वर्ग पर डाल सकती थी, दलाल बुर्जुआ नेतृत्व (गाँधी) ने यह समझ लिया था कि सीपीआई इसके अपने उद्देश्यों के प्राप्त करने में उपयोगी सिद्ध हो सकती है। कांग्रेस जो कि कानपुर षड्यंत्र केस के समय खामोश थी, मेरठ केस में कम्युनिस्टों के बचाव में आगे आ गई थी। गाँधी स्वयं कम्युनिस्ट नेताओं से मिलाने जेल जा पहुँचे थे। इसका मतलब यह है कि पूंजीपति वर्ग अपने खुद के नेतृत्व के अधीन बनने वाले साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चे में सीपीआई को महत्वपूर्ण ताकत के तौर पर देखना शुरू कर दिया था।

1936 में दत्त–ब्राडले थीसिस को अंगीकृत करने के समय से दक्षिणपंथी अवसरवादी नेतृत्व पार्टी पर अपना पूर्ण नियंत्रण से आह्लादित थे और सीपीआई साम्राज्यवादी विरोधी मोर्चे में सर्वहारा प्रभुत्व स्थापित करने के कार्य से वंचित कर दी गई। और इसीलिए क्रांतिकारी कृषि कार्यक्रम भी, जो सर्वहारा प्रमुख हासिल करने का माध्यम था, अपना महत्व गवाँ बैठा।

नेतृत्व ने कांग्रेस से बाहर साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चा निर्मित करने के किसी भी प्रयास को पूरी तरह से त्याग दिया था। इसने कांग्रेस को ही साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चे अकेला संगठन मान लिया था। इसने दलाल पूंजीपतियों और भूस्वामियों के प्रतिनिधि गाँधी, नेहरु एण्ड कम्पनी के नियंत्रणहीन कब्जे को तोड़ने को कोई भी प्रयास नहीं किया। इससे बढ़कर, इसने एकता के नाम पर उनके नेतृत्व को और भी मजबूत कर दिया था। इसने यहाँ तक कह दिया कि गाँधी नेहरू दलाल पूंजीपति नेतृत्व अर्थात गांधी, नेहरू एण्ड कम्पनी के नेतृत्वाधीन कांग्रेस को साम्राज्यवाद विरोध मंच में मजबूत करना ही अपने आप में सर्वहारा प्रभुत्व का एक तरीका है। सीपीआई द्वारा अपनाई गई रणनीति में व्यवहार में साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चे के दलाल पूंजीपति की कठपुतली बना दिया था।

2. संयुक्त मोर्चे के भीतर मौजूद विभिन्न शक्तियों की प्रकृति, ताकत और कमजोरियों और उनके आपसी अंतर्संबंध।

सीपीआई, संयुक्त मोर्चा (यू.एफ.) के तमाम जटिल और गतिमान पहलुओं जैसे कि संयुक्त मोर्चे में शामिल भाग लेने वाले विभिन्न वर्गों के चरित्र, सामान्य शत्रु से इन वर्गों के संबंध, उन वर्गों के हित, हरेक वर्ग ताकत का अलग–अलग अनुमान आदि का विश्लेषण करने और समय–समय के अनुसार अपनी नीतियों को सूत्रबद्ध करने में बुरी तरह असफल रही थी।

सीपीआई नेतृत्व पर समझने में असफल रहा कि भारत में जनवादी क्रांति केवल सर्वहारा के नेतृत्व में ही सफल हो सकती है। वह यह भी पहचानने में असफल रही कि साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चे का कांग्रेसी नेतृत्व दलाल पूंजीपतियों और भूस्वामियों का प्रतिनिधि है। वह यह समझने में विफल रही कि संयुक्त मोर्चे से इन वर्गों का नेतृत्व को हटा करके और उसके स्थान पर सर्वहारा नेतृत्व स्थापित करके ही यह अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकती है। इसका अर्थ यह है कि सीपीआई उन शक्तियों के वर्ग हितों को समझने में असफल रही थी जो संयुक्त मोर्चे के नेतृत्व में शामिल थीं। इस नासमझी ने उन्हें यह अनुभव कर लेने में असमर्थ बना दिया कि सर्वहारा पार्टी और गांधी तथा नेहरू के नेतृत्व के बीच संबंध मुख्यतः संघर्ष है का है और एकता केवल सीमित और अस्थाई है और जैसे जैसे इस नेतृत्व की ताकत बढ़ती चली जायेगी और संघर्ष तेज होता चला जायेगा और अंततः यह मोर्चे से बाहर चला जायेगा और शत्रु के साथ जा मिलेगा। इस नासमझी की वजह से ही वह यह अनुभव नहीं कर सकी थी कि इसे अपनी साम्राज्यवाद विरोधी गतिविधियों को सीमित नहीं करना चाहिए, ऐसे नेतृत्व के वाली कांग्रेस तक ही सीमित नहीं रह जाना चाहिए।

लेनिन ने पिछड़े औपनिवेशिक देशों के बड़े पूंजीपतियों की समझौतावादी प्रकृति को पहचान लिया था, यद्यपि कि इसे दलाल नहीं कहा था। इसके साथ मेहनतकश वर्ग का संश्रय अस्थाई मात्र है और बुर्जुआ जनवाद के विरुद्ध अपनी ताकत को बढ़ाने के उद्देश्य से ही उन्होंने संयुक्त मोर्चे के लिये आह्वान किया था। अतः नेतृत्व की वर्ग–दृष्टि के अभाव को ही पार्टी की असफलता का मुख्य कारण समझा जाना चाहिए। इस असफलता ने अपनी बारी में वर्ग शत्रु सहयोग की नीतियों तक जा पहुँचने में अपना योगदान दिया था।

3. संयुक्त मोर्चे के भीतर स्वतंत्रता और पहलकदमी

सीपीआई अक्सर उस आधारभूत पहलू को भूल जाती कि सर्वहारा पार्टी को संयुक्त मोर्चे में अपनी स्वतंत्रता और पहलकदमी को बनाये रखना चाहिए। पहले तो यह भूल एक स्वतंत्र सर्वहारा पार्टी निर्मित करने में इसकी अनिच्छा में व्यक्त हुई थी। बाद में, तो इसने

अपनी समस्त साम्राज्यवाद विरोधी गतिविधियों को कांग्रेस के भीतर ही सीमित कर लिया था। इससे भी बढ़कर इसने यह सोच लिया था कि किसी भी संघर्ष को गाँधी के नेतृत्व में ही चलाया जाना चाहिए, इसलिए इसने इस उद्देश्य के लिए कांग्रेस के नेताओं पर दबाव डालने की अवस्थिति अपना ली थी।

युद्ध को गृहयुद्ध में बदल देने के क्रांतिकारी कार्यक्रम के भी जिसे इसने युद्ध के साम्राज्यवादी चरण के दौरान हाथ में लिया था, इसने कांग्रेसी रथ के पहियों से बाँध डाला था और अपनी पहलकदमी तथा स्वतंत्र गतिविधियों को यह खो बैठी थी। इसने एक अवस्थिति यह अपना ली थी कि मजदूर वर्ग और दूसरे उत्पीड़ित जनों को अपने रोज–रोज की समस्याओं के लिए भी संघर्ष नहीं छेड़ना चाहिए। वस्तुतः ऐसे व्यवहार को संयुक्त मोर्चे का व्यवहार नहीं कहा जा सकता।

4. संयुक्त मोर्चे में एकता और संघर्ष

हम देख सकते हैं कि सीपीआई संयुक्त मोर्चे की रणनीति को यांत्रिक तरीके से लागू कर रही थी, इस ढंग से कि या तो एकता या संघर्ष। जब कार्रवाई का मसौदा मंच (प्लेटफार्म)'' व्यवहार में था, सीपीआई पूंजीपति के साथ सिर्फ संघर्ष को देखती थी और इसने एकता को देखने से इन्कार कर दिया था। यह राष्ट्रीय आंदोलन से अलग–अलग पड़ गई थी। आरटीयूसी की स्थापना को इस श्रेणी की गलती कहा जा सकता है। जब ट्रेड यूनियन एकता प्रधान आवश्यकता बन गई थी तब इसे दीर्घगामी परिप्रेक्ष्य में लेन–देन का रुख अपनाते हुए समझौते के लिए तैयार रहना चाहिए था। लेकिन क्रांतिकारी आंदोलन को बाद की अवधि में हुए नुकसान के मुकाबले, जब केवल एकता को देखा जा रहा था और संघर्ष की उपेक्षा की जा रही थी, इस अवधि के दौरान का वाम संकीर्णता का भटकाव का नुकसान बहुत काम था।

दत्त ब्रैडलो थीसिस के बाद तो सीपीआई ने आत्मघाती रणनीति अपनाई थी। यह बुर्जुआ वर्ग के साथ मात्र एकता को देखती थी। व्यवहार में यह बुर्जुआ वर्ग का दुमछल्ला मात्र रह गई थी। ठीक इसी समय गांधी और नेहरू सीपीआई के साथ एकता और संघर्ष दोनों देख रहे थे। वे समझते थे कि उनके बीच संघर्ष ही आधारभूत है और एकता अस्थाई मात्र है। यही नहीं उन्होंने यह भी समझ लिया था कि चूंकि जनता के दबाव की आवश्यकता अब समाप्त हो गई थी और उनके वर्ग हित पूरे ही होने वाले हैं, सीपीआई के साथ एकता की जरूरत नहीं रह गई थी। युद्ध के बाद सीपीआई पर दलाल पूंजीपति का आक्रमण शुरू हो गया था और सीपीआई के पूर्णतः संशोधनवादी में बदल जाने तक चलता रहा था।

इस प्रवृत्ति ने जनयुद्ध के फासीवाद – विरोधी चरण के दौरान सीपीआई के लिए न केवल ''धोखेबाज'' की उपाधि अर्जित की थी, अपितु युद्ध बाद के क्रांतिकारी उफान के दौरान और सत्ता हस्तांतरण के वक्त इसे दर्शकदीर्घा में धकेल दिया था।

****

जहाँ तक द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान अपनाई जाने वाली रणनीति का सवाल है रूस और चीन को छोड़कर शेष दुनिया के लगभग सभी कम्युनिस्ट इस या उस समय के लिए दिग्भ्रमित रहते थें चूँकि पिलछे विश्वयुद्ध की तरह, इस युद्ध की प्रकृति शुरू से अंत तक समान नहीं थी कम्युनिस्टों को युद्ध के भिन्न दौरों के अनुसार रणनीति में आवश्यक परिवर्तन करने होते थे। एक मजबूत समाजवादी आधार की मौजूदगी, साम्राज्यवादियों के बीच मौजूद अंतर्विरोध का, फासीवादी देशों और गैर फासीवादी देशों समूहों का रूप ले लेना, द्वितीय विश्वयुद्ध की विशेष परिस्थितियां थीं। कम्युनिस्टों द्वारा युद्ध में अपनाई जाने वाली रणनीतियाँ,

प्रकृति में काफी जटिल थीं और इसलिए इन्हें बड़ी दक्षता के साथ समय–समय पर बदल देना होता था।

यद्यपि कोमिंटर्न ने युद्ध की विभिन्न अवस्थाओं में समय–समय पर सही रणनीति के सूत्रीकरण में सफलता पाई थी, परंतु युद्ध जो विभिन्न मोड़ ले सकता था, उनसे जो विभिन्न संभावनायें बन सकती थीं, उन्हें ध्यान में रखते हुए कोई विस्तृत रणकौशल रणनीति सूत्रबद्ध करने में यह असफल रहा था। इसलिए विभिन्न देशों की कम्युनिस्ट पार्टियाँ राह से काफी हट–हट जाती थीं और युद्ध में होने वाले बदलावों के अनुसार अपनी खुद की रणनीति सूत्रबद्ध करते समय घटनाओं द्वारा दिग्भ्रमित भी हो जाती थीं। निःसंदेह, यह संबंधित देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों का उत्तरदायित्व था कि वे अपनी ठोस परिस्थितियों के अनुसार भिन्न और ठोस रणनीति सूत्रबद्ध करे, फिर भी द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जटिल और ठोस निर्देशन देना कोमिंटर्न की जिम्मेदारी बनती थी। विभिन्न देशों में अंतर्राष्ट्रीय सर्वहारा की युद्ध रणनीतियों को लागू करने के लिए ऐसा ठोस निर्देशन प्रदान करने में कोमिंटर्न असफल रहा था। फिर भी सीपीआई तथा कुछ यूरोपीय पार्टियों द्वारा युद्ध के दौरान अपनाई जाने वाली गलत रणनीतियों के लिए कोमिंटर्न की असफलता को हम निर्णायक नहीं ठहरा सकते हैं। बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार सीपीसी द्वारा अपनाई गई सही रणनीति और चीनी क्रांति की विश्व को हिला देने गली विजय इस बात के अकाट्य प्रमाण के रूप में सामने मौजूद हैं।

यह देखा जा सकता है कि अनेक अन्य पार्टियों की तरह सीपीआई के पास भी कोई अग्रदृष्टि मौजूद नहीं है और तेज गति से बदलती जाती स्थितियों–परिस्थितियों से पीछे छूट जाती है। बल्कि सीपीआई कोमिंटर्न की रणनीति को, उस वर्गशत्रु सहयोगी राजनीतिक कार्यदिशा, भीतर समायोजित करते हुए लागू करती थी, जिसका वह पहले से ही परिपालन कर रही थी। युद्ध के दौर के कोमिंटर्न की प्रतिष्ठा बढ़ गई थी, वहीं सीपीआई की प्रतिष्ठा गिर गई थी। इसका कारण और कुछ नहीं बल्कि संयुक्त मोर्चे की रणनीति के प्रति सीपीआई की वर्गशत्रु सहयोगी प्रवृत्ति ही थी।

सीपीआई, कोमिंटर्न की सातवी कांग्रेस द्वारा युद्ध के पहले ही संयुक्त साम्राज्यवाद–विरोधी मोर्चे के बारे में दिये गये सामान्य निर्देश के अनुरूप अपनी स्वयं की कार्यदिशा को सूत्रबद्ध करने में असफल रही थी। कोमिंटर्न और दिमित्रोव ने स्पष्ट रूप से कांग्रेस पार्टी और पूंजीपतियों के साथ कार्य करते हुए उनके विरुद्ध संघर्ष चलाते रहने को कहा था। परंतु सीपीआई ने दत्त–ब्रैडले थीसिस को अपने कार्यक्रम का आधार बना लिया था। इसके जरिये, इसने उस दलाल पूंजीपति पर निभ्रर करते हुए एक साम्राज्यवाद विरोधी संयुक्त मोर्चा बनाने का प्रयास किया, जिसका साम्राज्यवादी युद्ध में अपना सीधा वर्गहित निहित था। इसने कोमिंटर्न द्वारा प्रतिपादित साम्राज्यवाद विरोधी संयुक्त जन मोर्चा को दत्त–ब्रैडले द्वारा सुझाये गये पूंजीपति वर्ग को अपने नेतृत्व की पीठ पर सवार कर दिया। उस समय से प्रारम्भ करके आगे आने वाली सम्पूर्ण अवधि में (1948–51 के दौर को छोड़कर) इसने मात्र इसी वर्गशत्रु सहयोग की रणनीति अपनाये रखा था।

साम्राज्यवादी युद्ध की अवधि में कोमिंटर्न के सुझावों के अनुरूप, इसने युद्ध को गृहयुद्ध में बदल डालो का नारा उठाया था। परंतु इसने इस सही रणनीति को अपनी वर्ग शत्रु सहयोग की रणनीति के अधीन कर दिया था। व्यवहार में इसने अपने ही हाथ बाँध डाले थे। सिवाय सामान्य युद्ध–विरोधी प्रचार के, इसने कोई भी जुझारू कार्यक्रम हाथ में नहीं लिया।

सीपीआई की सोच थी कि कांग्रेस के ऊपर दबाव बनाना चाहिए और कांग्रेस द्वारा जारी सिविल नाफरमानी के आह्वान को ऊँचा उठाना चाहिए और इस आंदोलन के दम पर

आम बगावत की ओर बढ़ना चाहिए। इसने युद्ध की संकटपूर्ण स्थिति का इस्तेमाल करते हुए साम्राज्यवाद–विरोधी संयुक्त मोर्चे पर दिये थे। सर्वहारा प्रभुत्व स्थापित करने के सभी मौकों को गंवा दिये थे।

सोवियत यूनियन ने युद्ध के शुरू होने से पहले ही साम्राज्यवादी खेमे में पड़ने वाली दरार से लाभ उठाने की कोशिश शुरू कर दी थी। दो साम्राज्यवादी गुटों के बीच फासिस्ट गुट सर्वहारा हितों के लिए अधिक खतरनाक था। इसलिए इसने उन आंग्ल–अमरीकी गुट जैसे साम्राज्यवादी देशों के साथ एक संयुक्त मोर्चा खड़ा करने का प्रयास किया जिनमें बुर्जुआ जनवाद अभी भी व्यवहार मैं कायम था। परंतु इन देशों को जनवादी देशों के रूप में चिन्हित करने का यह अर्थ कत्तई नहीं था कि ये देशों का बुर्जुआ वर्ग फासीवादी देशों के बुर्जुआ वर्ग से भिन्न है। बुर्जुआ जनवाद का अर्थ हैं वे अधिकार जो सर्वहारा और अन्य उत्पीड़ित जनों ने अनेकानेक संघर्षों द्वारा अर्जित किये हैं। ये अधिकार सर्वहारा आंदोलन के विकास के लिए लाभप्रद थे। अतः इन अधिकारों की रक्षा की जानी थी। फासीवादी ने अनेकानेक संघर्षों द्वारा हासिल समस्त अधिकारों की पैरों तले रौंद डाला था। इसने सर्वहारा आंदोलन को जड़ से उखाड़ डालने की कोशिश की थी। इस कोण से देखते हुए, जनवादी देशों का मतलब उन देशों से है जहाँ सर्वहारा और अन्य उत्पीड़ित जन अधिकारों से लाभान्वित हैं जो उन्होंने कड़े संघर्षों के जरिये जीते थे। इसे ध्यान में रखा जाना चाहिए कि कोमिंटर्न ने इसी कोण से फासीवाद विरोधी संयुक्त मोर्चे के लिए आह्वान किया था। परंतु फासीवादी–विरोधी संयुक्त मोर्चे को बनाने क्रम में, कोमिंटर्न तथा कई देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों के नेताओं ने यह प्रचार करना शुरू कर दिया था कि फासीवादी देश अन्य साम्राज्यवादी देशों से मूलभूत रूप से भिन्न हैं। यह प्रचारित किया गया कि आंग्ल–अमेरिकी गुट के देशों का पूंजीपति वर्ग जनवादी, शांतिप्रिय और युद्ध–विरोधी है। लेकिन यह सत्य नहीं है। आंग्ल–अमेरिकी गुट के देशों में भी राज्य का फासीकरण हो चुका था। परंतु वहाँ अभी ऐसी परिस्थिति उत्पन्न नहीं हो पायी थी कि फासीवाद को एक सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था के रूप में लागू किया जाय। इससे बढ़कर उन्हें शांतिप्रिय देश और युद्ध–विरोधी देश मानना तो निरपेक्ष रूप से पूर्णतयाः गलत है। वे केवल यह महसू करते थे कि खुद युद्ध शुरू करने की अपेक्षा हिटलर को सोवियत रुस के विरुद्ध उकसा कर, उसे रूस से भिड़ा देने के बाद, युद्ध में उतरना अधिक लाभप्रद है। यही सबकुछ था। यही वह कारण है कि ये ''जनवादी'' साम्राज्यवादी देश सोवियत रूस के सभी प्रयासों के बावजूद फासीवाद विरोधी मोर्चे में नहीं आये। वे समूचे साम्राज्यवादी शिविर को सोवियत यूनियन के विरुद्ध समूहबद्ध करने में लगे रहे।

उस समय तक, जब हिटलर ने सोवियत रुस पर आक्रमण किया था, चूंकि आंग्ल–अमेरिकन गुट को फासीवादी गुट से मरणांतक चोट पहुँच चुकी थी, इसलिए यह संभावनाओं के मद्देनजर संयुक्त मोर्चे के लिए राजी हुआ था, इसलिए नहीं कि पूंजीपति वर्ग ''जनवादी'' होता है। इसका अर्थ यह है कि आंग्ल–अमेरिकन गुट सोवियत यूनियन के साथ संयुक्त मोर्चे में एक विशेष परिस्थिति में शामिल हुआ था और वह भी अस्थाई रूप से। इसलिए यह अपरिहार्य था कि फासीवाद–विरोधी संयुक्त मोर्चे के भीतर विपरीत हितों का होगा। विभिन्न देशों के कम्युनिस्टों को इस हितों के संघर्ष को ध्यान में रखते हुए, इस संयुक्त मोर्चे में शामिल होना चाहिए था। आंग्ल–अमेरिकी गुट के औपनिवेशिक और अर्धऔपनिवेशिक देशों को कम्युनिस्टों को, अपने राष्ट्रीय शत्रु के विरुद्ध संघर्ष को बिना त्यागे, और ऐसे कार्यक्रम के आधार पर ही इस मोर्चे का हिस्सा बनना चाहिए था, जो फासीवादी को हराने और समाजवादी आधार की सुरक्षा करने में मददगार हो सके। इसे राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय कार्यभारों के बीच समुचित तालमेल के साथ लड़ाई लड़नी चाहिए थी।

यदि सीपीआई ने मसौदा घोषणापत्र (ड्राफ्ट प्लेटफार्म) में प्रतिपादित क्रांतिकारी कार्यदिशा को दृढ़ता के साथ लागू किया होता तो यह जनवादी क्रांति को आगे बढ़ाने के लिए युद्ध की परिस्थिति का लाभ उठाने की अवस्था में होती। यदि सीपीआई ने कृषि क्रांति को आवश्यक महत्व दिया होता और विशाल किसान जनता के रूप में उभर कर सामने आई होती, यदि इसने फासीवाद विरोधी मोर्चे पर सर्वहारा प्रभुत्व स्थापित करने के उद्देश्य से सही रणनीति अपनाई होती और यदि इसने युद्ध के साम्राज्यवादी चरण के दौरान युद्ध को गृह युद्ध में बदल देने के रण कौशल को लागू किया होता तो यह 1942 के क्रांतिकारी उफान का उपयोग करते हुए भारत की मुक्ति का एक प्रयास करने की स्थिति में होती। परंतु वर्गशत्रु सहयोग की कार्यदिशा और दत्त–ब्रैडले की अवसरवादी कार्यदिशा के अनुसरण की प्रक्रिया में, युद्ध और उसके बाद की अवधि के दौरान पार्टी एक निष्क्रिय दर्शक की भूमिका में धकेल दी गई थी।

जनयुद्ध के चरण के दौरान, सीपीआई, कुछ महीनों तक तो युद्ध की प्रकृति में आये परिवर्तन को समझ ही नहीं सकी थी और साम्राज्यवाद विरोधी रणनीति को बढ़ाती रही थी। युद्ध की जनयुद्ध प्रकृति को पहचान लेने के बाद भी, यह राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय दोनों ही कार्यभारों में तालमेल बिठाते हुए संघर्ष चलाने के जटिल कार्य को पूरा नहीं कर सकी थी, बल्कि इस चरण में भी यांत्रिक तरीके से अपनी वर्ग शत्रु सहयोगी रणनीति को लागू करती रही थी।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष के लिए जनतार के बढ़ती तीव्र इच्छा और चेतना को गंवाये बिना, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ ठोस कार्यक्रम के आधार पर फासीवादी विरोधी संयुक्त मोर्चा बनाने का प्रयास करना चाहिए था जिससे फासीवादी को हटाने और सोवियत यूनियन की रक्षा में मदद मिल सकती। इसकी बजाय, ब्रिटिश साम्राज्य के बिना शर्त समर्थन की स्थिति अपना ली। सोवियत रूस की रक्षा करने के नाम पर, मजदूरों और किसानों के दिन–प्रतिदिन के संघर्षों को भी त्याग दिया गया। इसने इस तथ्य की भी उपेक्षा कर दी कि युद्ध के बोझ को मेहनतकश वर्ग पर लादे जाने की प्रवृत्ति को रोके बिना, क्रूर उत्पीड़न और दमन से उन्हें कुछ राहत पहुंचाए बिना जनता को उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रेरित नहीं किया जा सकता। सीपीआई द्वारा चलाया गया उत्पादन अभियान और हड़ताल नहीं की नीति (नो स्ट्राइक पालिसी) केवल साम्राज्यवादियों, आगे बढ़ाने में ही उपयोगी थी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध किसी प्रकार के संघर्ष का विरोध करने और केवल एकता को महत्व देने की प्रक्रिया में, यह गौरवशाली साम्राज्यवाद–विरोधी जन उभार से अलग खड़ी रही, जनता से कट गई और अपनी प्रतिष्ठा गवाँ बैठी। इससे भी बढ़कर यह अपनी वर्गशत्रु सहयोग की रणनीति का बचाव करती रही, इसने सूत्रीकरण किया कि फासीवाद विरोधी संघर्ष ही भारत का राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष है। इसका अंधविश्वास था कि चूँकि साम्राज्यवाद जनता द्वारा घिर गया है, इसलिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद स्वतः भारत को स्वतंत्रता प्रदान कर देगा। यह तो युद्ध के बाद के क्रांतिकारी उफान को नेतृत्व देने के लिए भी तैयार नहीं था। सितम्बर 1945 को सी.सी. प्रस्ताव यह कहता था कि लेबर पार्टी की सरकार और संयुक्त राष्ट्रसंघ। भारत को स्वतंत्रता उपहार में प्रदान कर देंगे।

''अंतर्राष्ट्रीय स्थिति, जनवादी ताकतों की विजय, ब्रिटिश लेबर पार्टी के साथ सहयोग द्वारा और संयुक्त राष्ट्र संघ की सहायता से, भारतीय स्वतंत्रता की फौरी और शांतिपूर्ण प्राप्ति को संभव बनाने वाली है।''

****

सीपीआई भारत की राष्ट्रीयताओं के प्रश्न को और जनवादी क्रांति में इसके महत्व को कभी भी नहीं समझ नहीं सकी थी। वह लम्बे समय तक यह पहचान तक नहीं पायी थी कि भारत एक बहुराष्ट्रीय देश है। यहाँ तक कि आर.पी.दत्त भी, जो सीपीआई का विचारधारात्मक निर्देशन करते थे, यह मानते थे कि भारत एक राष्ट्र के रूप जन्म ले सकता है। मसौदा घोषणापत्र (ड्राफ्ट प्लेटफार्म) में पहली बार राष्ट्रीयताओं के आत्मनिर्णय के अधिकार पर सर्वहारा द्वारा अपनायी जाने वाली अवस्थिति के बारे में कोई ठोस बात की थी जो विभिन्न रूपों में अपने को तीक्ष्णता के साथ व्यक्त रही थी।

लीग ने मार्च 1940 में अपनी पाकिस्तान की माँग सामने रखी। इस तरह से अब सीपीआई नेतृत्व को भारत में राष्ट्रीयताओं के प्रश्न पर विचार करना और पाकिस्तान पर अपनी अवस्थिति को सूत्रबद्ध करना पड़ा था। परंतु इसने इस मुद्दे का परीक्षण उसी यांत्रिक और आध्यात्मिक विधियों से किया, जिन पर इसने पूरी दक्षता हासिल कर ली थी, और इसने भारत की राष्ट्रीय प्रश्न को समाधान वर्गशत्रु सहयोग की राजनीतिक कार्यदिशा के दायरे के भीतर तलाशा था जिस पर यह पूरी मजबूती के साथ चिपकी हुई थी।

सीपीआई की 19 सितम्बर 1942 की आयोजित सीसी बैठक (प्लेनम) में पाकिस्तान और राष्ट्रीय एकता पर एक प्रस्ताव पारित किया। इसने भारत में राष्ट्रीयता के प्रश्न पर सीपीआई की अवस्थिति को स्पष्ट कर दिया था। इस प्रस्ताव को 1943 में पार्टी की पहली कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया। इसने भारत को एक बहुराष्ट्रीय देश के रूप में पहचान पाने की अपनी असफलता को स्वीकार कर लिया था। इसने राष्ट्रों के आत्म निर्णय के अधिकार को अलग रोने के अधिकार सहित माँग रखी थी। युद्ध के दौरान और उसके बाद यह माँग, सीपीआई के प्रधान राजनीतिक नारों में से एक बनी रही। 1960 के दशक तक राष्ट्रीयताओं के आत्मनिर्णय का अधिकार सीपीआई के कार्यक्रम का एक हिस्सा बना रहा था। परंतु माउंटबेटन अवार्ड के बाद इसने इस माँग को कभी आगे नहीं किया था।

वह तरीका, जिसे सीपीआई राष्ट्रीयताओं के आत्मनिर्णय के अधिकार के मुद्दे पर भारत की ठोस परिस्थितियों में लागू करता था, इस बात का उदाहरण था कि कैसे सामान्य मार्क्सवादी–लेनिनवादी सिद्धांतों को ठोस परिस्थितियों में लागू करने के दौरान वर्गशत्रु सहयोगी अवसरवादी नीतियों में बदला जा सकता है।

यह निर्विवाद तथ्य है कि भारत, ब्रिटिश उपनिवेशवादी की ताकत के जरिए ही एक राजनीतिक इकाई के रूप में जन्म ले सका था। समूचे भारत पर एक एकीकृत बाजार के रूप में पकड़ बनाये रखने में निहित हितों को दृष्टिगत रखकर ही, हम यह देख सकते हैं कि एक एकल देश के रूप में भारत ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लिए और उसे बड़े भारतीय पूंजीपति वर्ग के लिए, जो इसके साये में पनप रहा था, एक आवश्यकता बन गया था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने बाँटो और राज करो की अपनी मैकियावोलियन नीति के जरिए भारत में राष्ट्रीयताओं के विकास में बाधा पहुँचाई थी। इसने इस बात काफी ध्यान रखा था कि एक राष्ट्रीयता के लोगों को विभिन्न प्रांतों में बाँट दिया जाय। यह इस राष्ट्रीय सचेतनता और एकता को जो विभिन्न राष्ट्रीयताओं के बीच विकसित हो सकती थी, अपने औपनिवेशिक शासन के लिए विनाशकारक मानता था। यह याद रखा जाना चाहिए कि भारतीय बड़े पूंजीपति वर्ग भी अपने हाथ में शासन की बागडोर थामने के बाद इसी नीति का अनुसरण किया था और भाषाई राज्यों के निर्माण का विरोध करने में एड़ी–चोटी का जोर लगा दिया था, जिसके लिए यह स्वयं राष्ट्रीय आंदोलन की अवधि में वकालत करता रहा था।

परंतु सीपीआई ने आत्मनिर्णय के मुद्दे को उसी ''राष्ट्रीय मोर्चे'' के हिस्से के तौर पर उठाया, जिसे वह निर्मित करना चाहती थी। उसने युद्ध के दौरान और उसके बाद भी यह

विश्वास करना जारी रखा था कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच एकता से ही राष्ट्रीय एकता संभव है और यह कि साम्राज्यवादी युद्ध के चरण के दौरान स्वतंत्रता को और जनता के युद्ध के चरण के दौरान फासीवाद पर विजय तथा मुक्ति हासिल की जा सकती है। इसके सामने फौरी समस्या कांग्रेस और लीग के बीच अलगाव की थी। यदि कांग्रेस पाकिस्तान की मांग मान लेती है तो लीगी नेतृत्व कांग्रेस पर विश्वास कर सकता है और तब राष्ट्रीय एकता हासिल हो जाएगी– यह सीपीआई की समझ। परन्तु क्या पाकिस्तान की मांग अलगाववादी नहीं है? तब कैसे इसका समर्थन किया जा सकता है? इस पहेली को हल करने के लिए सीपीआई ने ''राष्ट्रों अलगाव सहित राष्ट्रों के आत्मनिर्णय सिद्धांत का उपयोग किया। इसने इस बात की पूर्ण उपेक्षा कर दी थी कि इस सिद्धांत का पालन केवल सर्वहारा के हित के लिए किया जाता है। वर्ग शत्रु सहयोग के परिप्रेक्ष्य से, जिसका यह अनुसरण कर रही थी, यह दलाल पूंजीपतियों के दो वर्गों के बीच ''सम्पत्ति के विभाजन'' पर चल रहे झगड़े को निपटाने के लिए एक समझौता सूत्र के रूप में, राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार को आगे ले आई थी।

1940 के मुस्लिम लीग द्वारा पेश पाकिस्तान की माँग, वास्तव में राष्ट्रीयता के प्रश्न और हिंदू–मुस्लिम के प्रश्न दोनों से ही संबंधित थी। सामंतवादी सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था को उखाड़ फेंकने के कार्यभार को हाथ में लेने में पूंजीपति वर्ग की असफलता से उत्पन्न हिंदू पुनरुत्थानवाद ने धीरे–धीरे हिंदू साम्प्रदायिकता को जन्म दिया। खुद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (आईएनसी) में हिंदू पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति दिखाई देने लगी थी और कई स्थानों पर, निचले स्तर पर कांग्रेस और हिंदू महासभा एक और समान नजर आती थी। कांग्रेस ने 1935 तक अधिकारिक तौर पर अपने नेताओं को सभा के साथ संबंध रखने की अनुमति दे रखी थी। दलाल पूंजीपति ने आर्य समाज, हिंदू महासभा और आर.एस.एस. का पालन–पोषण किया था। हिंदू–मुस्लिम बंटवारा एकमात्र ब्रिटिशों की बाँटी और राज करो नीति की ही पैदाइश नहीं था। हिंदू साम्प्रदायिक संगठनों ने उन्नीसवीं सदी के अंत से ही मुस्लिम–विरोधी दंगे शुरू कर दिये थे। इन साम्प्रदायिक ताकतों ने, जो अपने ''हिंदू राष्ट्रवाद'' की डींग हाँकते थीं, साम्राज्यवाद ने उतना विरोध भी नहीं दिखाया जितना कांग्रेस करती थी। इसकी बजाय वे मुस्लिम अल्पसंख्यकों पर निशाना बनाती रही थीं। स्वाभाविक है कि मुस्लिम अल्पसंख्यक हिंदू समर्थक साम्प्रदायिकतावादी कांग्रेस के प्रति, जिसने धर्मनिरपेक्षता का मुखौटा लगा रखा था, शंकालु थे और उस ''स्वतंत्रता'' को लेकर, जो कांग्रेस ने हासिल करने का वादा किया था और उसके शासन के अंतर्गत अपनी जिंदगी को लेकर चिंतित थे। वे मुस्लिम साम्प्रदायिक संगठन जो हिन्दू साम्प्रदायिक संगठनों के उपपरिणाम थे, साम्प्रदायिक दंगे फैलाते थे। परंतु हिंदू साम्प्रदायिकता ही हिंदू–मुस्लिम तनावों और साम्प्रदायिक दंगों का मुख्य कारण थी। बहरहाल कांग्रेस अपनी हिंदू साम्प्रदायिकता की प्रकृति को धर्मनिरपेक्षता के बेश में छुपाने में और मुस्लिम लीग पर साम्प्रदायिकता का ठप्पा लगाने में कामयाब थी। सीपीआई कमोबेश हिंदू–मुस्लिम समस्या पर कांग्रेस जैसा रुख ही अपनाती थी और लीगी नेतृत्व को साम्प्रदायिक और प्रतिक्रियावादी मानती थी।

तथ्यतः पहले न तो लीग ने और न ही मुस्लिमों ने पाकिस्तान की माँग की थी। कांग्रेस एक ओर तो हिंदू साम्प्रदायिक ताकतों के बढ़ावा देती थी दूसरी ओर तो हिंदू साम्प्रदायिक ताकतों के बढ़ावा देती थी तो दूसरी ओर मुस्लिम सहित समस्त भारतीय जनता का एकमात्र प्रतिनिधि की भूमिका निभाने का प्रयास भी करती थी। कांग्रेस की हिंदू पुनरुत्थानवादी विचारधारा ने तथा मुस्लिमों और लीग के प्रति इसके द्वारा अपनाये जाने वाले गैर जनतांत्रिक–तरीकों ने मिलकर, बल्कि लीग को मजबूत ही किया और इसे पाकिस्तान

की माँग तक पहुँचाया और इससे भी बढ़कर बड़ी तादाद में मुस्लिम अल्पसंख्यकों को पाकिस्तान की माँग स्वीकार करने पर बाध्य कर दिया। 1927 में जिन्ना कांग्रेस साथ एकता के आकांक्षी थे और मुस्लिमों के लिए पृथक निर्वाचन क्षेत्र की माँग को भी त्यागने तक के लिए तैयार थे। परंतु मोतीलाल नेहरू द्वारा तैयार किये गये एकल संविधान तथा कांग्रेस द्वारा अपनाई गई हिंदू समर्थक साम्प्रदायिक मुद्रा ने उस समय की एकता को भंग कर दिया। 1937 के चुनावों के बाद मुस्लिम लीग द्वारा साझा मंत्रिमंडल के प्रस्ताव को कांग्रेस ने ठुकरा दिया था। उस कांग्रेस के शासनांतर्गत, जो हिंदू साम्प्रदायिक संगठनों के दबाव के प्रति समर्पण करने को हमेशा तैयार रहती थी, मुस्लिम अल्पसंख्यकों के लिए कुछ आश्वासन और आरक्षण की माँग को अनुचित नहीं कहा जा सकता। निःसंदेह मुस्लिम लीग का नेतृत्व सामंती और दलाल पूंजीपति वर्गों का प्रतिनिधित्व करता था। परंतु यह कांग्रेसी थी, जिसने ऐसी गैर जनतांत्रिक तरीकों को अपनाया था, जिसने मुस्लिम को पाकिस्तान की मांग आगे बढ़ाने और इस पर अड़ जाने को बाध्य कर दिया था। यह सच्चाई है कि 1940 में, जब लीग ने पहले–पहल पाकिस्तान की माँग उठाई थी, यह मुस्लिमों के बहुसंख्यकों की माँग नहीं थी। बलूचिस्तान, उत्तर–पश्चिम प्रांत तथा बंगाल में, जिन्हें जिन्ना ने मुस्लिम राष्ट्रीयताओं के रूप में श्रेणीबद्ध किया था, जहाँ जनता बहुसंख्यक थी, पाकिस्तान की माँग को अधिक समर्थन नहीं मिला था। परंतु कांग्रेस द्वारा अपनाई गई दुराग्रही प्रवृत्ति ने, और युद्ध तथा सत्ता हस्तांतरण के समय हिंदू साम्प्रदायिक ताकतों द्वारा उकसाये गये हत्याकांडों ने, हिंदू साम्प्रदायिकों के आतंक और इससे उत्पन्न असुरक्षा के परिणामस्वरूप, मुस्लिम जनों को पाकिस्तान को, यद्यपि कि यह उनकी राष्ट्रीय आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करता था, स्वीकार कर लेने के लिए बाध्य होना पड़ा।

मुस्लिम लीग के विभाजन के लिये जिम्मेवार ठहराना पूर्णतयाः गलत है। मात्र दलाल बड़े पूंजीपति वर्ग द्वारा पोषित साम्प्रदायिकता और ब्रिटिश द्वारा निर्मित भारत के अविभाजित बाजार पर, राष्ट्रीयताओं के कारागार के रूप में अपना बेलगाम एकाधिकार कायम करने की लालसा के कारण ही मुस्लिम लोगों को पाकिस्तान की माँग स्वीकार करनी पड़ी थी। दरअसल मुस्लिम लीग कुछ आश्वासनों के एक संघीय ढाँचे के तहत भारत में बने रहने को तैयार थी। परंतु कांग्रेस की गैरजनतांत्रिक प्रवृत्ति और हिंदू साम्प्रदायवादी मुद्रा ने लीग के सामने एक मात्र विकल्प पाकिस्तान ही रहने दिया था।

सीपीआई नेतृत्व पास्तिान की माँग हिंदू–मुस्लिम समस्या के पीछे निहित राष्ट्रीयताओं के प्रश्न को समझने में नाकाम रही थी। इसने एक मासूम सी व्याख्या की ली थी कि हिंदू–मुस्लिम तनावों को, उन्हें वर्ग संघर्ष के लिए आंदोलित करके हल किया जा सकता है। इससे बढ़कर, यह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को धर्मनिरपेक्ष और गैर राष्ट्रीय संगठन मानती थी, जबकि मुस्लिम को साम्प्रदायिक मानती थी। मुस्लिम लीग के नेतृत्व की प्रतिक्रियावादी के रूप में भर्त्सना करते हुए, यह कांग्रेस नेतृत्व की राष्ट्रवादी के रूप में प्रशंसा करती थी। सीपीआई की इस प्रवृत्ति ने, कांग्रेस को एक धर्मनिरपेक्ष संगठन के रूप में लोकप्रिय होने में मदद पहुंचाई थी। यह प्रवृत्ति सीपीआई को उस संघर्ष की, जो साम्प्रदायिकता के विरुद्ध उसकी सम्पूर्णता में छेड़ना चाहिए था तथा कांग्रेस नेतृत्व और हिंदू साम्प्रदायिकता के आपसी संबंध को उद्घाटित करने की आवश्यकता की, उपेक्षा करने की और ले गई थी।

सीपीआई ने, मुस्लिम राष्ट्रीयताओं की अपनी धारणा के अनुसार पाकिस्तान की माँग का समर्थन किया। उस समय, उन राष्ट्रीयताओं का, जिसे यह मुस्लिम राष्ट्रीयताओं के रूप में चिन्हित करती थी, मात्र एक छोटा सा हिस्सा ही पाकिस्तान बनाने की मांग उठा रहा था। दरअसल, यह केवल कांग्रेस को ही समूचे ''भारतीय राष्ट्र'' का एकमात्र प्रतिनिधि मानती

थी। बड़ी मासूमियत के साथ, यह उम्मीद करती थी कि यदि कांग्रेसी नेतृत्व राष्ट्रीयताओं के आत्मनिर्णय के अधिकार को मान्यता दे देगी तो लीग स्वेच्छा से पाकिस्तान के भारत में रहने के लिए सहमत हो जायेगा और इस प्रकार राष्ट्रीय एकता हासिल हो जायेगी। यह चिंतित थी कि देश के विभाजन से डरकर, कांग्रेस पाकिस्तान को न तो एक तथ्य के रूप में और न ही कांग्रेस तथा लीग के बीच एक सिद्धांत के तौर पर देख पा रही है। सीपीआई ने उन तमाम राष्ट्रीय प्रवृत्तियों पर ध्यान ही नहीं दिया था, जो अपना हित कांग्रेस और लीग, दोनों से भिन्न रूप में देखती थीं और जिन्हें इन दोनों को अपना ''राष्ट्रीय प्रतिनिधि'' मान लेने पर मजबूर कर दिया गया था। इसने उनकी राष्ट्रीय आकांक्षाओं के महत्व ही नहीं दिया था। उसने कांग्रेस–लीग एकता के जरिए ''राष्ट्रीय एकता'' के अलावा किसी और चीज के बारे में विचार ही नहीं किया। उसने अलगाव की माँग करने वाली उन प्रवृत्तियों पर, जो पंजाब, बंगाल, सिंध, उत्तर–पश्चिमी सीमा प्रांत और काश्मीर में उभार पर थीं, गंभीर अध्ययन का कोई भी प्रयास नहीं किया। उसने आंध्रा, केरल तथा अन्य स्थानों में चल रहे राष्ट्रीयता आंदोलन पर भी अध्ययन नहीं किया। उसने राष्ट्रीयताओं के संबंध में एक व्यापक नीति सूत्रबद्ध करने की कोशिश भी नहीं की। समय–समय पर, प्रत्येक ठोस मुद्दे पर, यह दोलायमान और आपस में विरोधी अवस्थितियों को अपनाती रहती थी। यह लगातार इसी बात पर अड़ी हुई थी कि राष्ट्रीयताओं को आत्मनिर्णय का अधिकार दे देने से, सारा भारत एकल संयुक्त संघ में बंधा रहेगा और ठोस रूप से उभरने वाले राष्ट्रीय मुद्दे, राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के अधिकारों को मान्यता देकर सुलझा लिये जायेंगे।

इसी अवधि में राजगोपालचारी तथा कुछ दूसरों ने भी पाकिस्तान की माँग को स्वीकार कर लिया था। सीपीआई जमीनी सच्चाई से बिना की संबंध के यह दलील पेश की थी कि राजगोपालचारी देश का विभाजन स्वीकार कर रहे हैं जबकि सीपीआई राष्ट्रीयताओं के ऐच्छिक संघ की अपनी वकालत द्वारा देश के विभाजन से बचा रही है। युद्ध से पहले सीपीआई कांग्रेस को ''धर्मनिरपेक्ष'' और ''जनतांत्रिक'' संगठन परंतु लीगी नेतृत्व को ''साम्प्रदायिक'' और ''प्रतिक्रियावादी'' मानती रही थी। परंतु इस नई नीति के साथ, लीग एक 'देशभक्त' पार्टी में बदल गई थी। इसकी साम्प्रदायिकता विलुप्त हो गई थी। अब सीपीआई मानती थी कि जिस तरह कांग्रेस शेष भारत का प्रतिनिधित्व करती है, उसी तरह लीग सभी मुस्लिमों का प्रतिनिधित्व करती है। हम कह सकते हैं कि सीपीआई ने जिस रूप में आत्मनिर्णय के अधिकार को उठाया है, वह इसकी वर्गसहयोगी मित्रता का लीग तक विस्तार है। (यह याद रखा जाना चाहिए कि जनयुद्ध और साम्राज्यवाद–विरोधी संयुक्त मोर्चे की रणनीति के नाम पर, इसने दूसर इसी तरह से ब्रिटिश साम्राजयवाद तक अपनी मित्रता का विस्तार कर लिया था)। राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार के नाम पर, सीपीआई द्वारा पाकिस्तान की माँग के समर्थनों स्वाभाविक रूप से कांग्रेस को नाराज कर दिया था।

युद्ध के तुरंत बाद, कांग्रेस पूरी आक्रामकता के साथ, सीपीआई के प्रति शत्रुतापूर्ण रुख अपनाये हुए थी। आर.पी.दत्त ने कांग्रेस के साथ अपनी मित्रता पुनर्स्थापित करने के लिए सीपीआई को सलाह दी थी कि इसे लीग के प्रति अपने रुख को बदल लेने की जरूरत है। तब से लीग पुनः ''साम्प्रदायिक'' और ''प्रतिक्रियावादी'' बन गई थी। देश के विभाजन पर सहमति बन जाने के बाद, सीपीआई ने राष्ट्रीयता के सवाल पर अपनी बहस को निष्कर्ष तक पहुँचाया। आत्मनिर्णय का अधिकार एक औपचारिक इच्छा मात्र बना रह गया था।

आर.पी.दत्त ने 1946 में काश्मीर का दौरा किया और यह कहते हुए कि भारत के राजवंशीय प्रांतों में संघर्ष का उनका रास्ता ही अनुकरणीय है, शेख अब्दुल्ला की प्रशंसा की। उन्होंने सीपीआई को काश्मीर के संघर्ष का अध्ययन करने की सलाह दी थी। लेकिन सीपीआई

का ध्यान कभी इस तरफ नहीं गया कि तेलंगाना का किसान आंदोलन, जो उस समय सशस्त्र संघर्ष में बदलता जा रहा था, स्वयं ही राजवंशीय प्रांतों में या राष्ट्रीयता आंदोलनों में संघर्ष का निर्देशन क सकता था। न केवल तेलंगाना आंदोलन का बल्कि अपने खुद के नेतृत्व में चलने राष्ट्रीयता आंदोलनों का अध्ययन करने के लिए यह तैयार नहीं थी।

सीपीआई 1953 से राष्ट्रीयताओं के प्रश्न की अपनी समझ को, नेहरु सरकार के प्रति अपनी बदलती हुई नीति के अनुरूप संतुलित करने का प्रयास करती रही थी। 1964 में सीपीआई ने अपनी आत्मालोचना की थी कि 'राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार' की इसकी माँग देश को विभाजन तक ले गई थी और 'राष्ट्रीय एकता' के सवाल को अपने सर पर सवार कर लिया था। सीपीएम ने 1972 की नौवीं कांग्रेस में सूत्रीकरण किया कि 'अलगाव के अधिकार सहित राष्ट्रों का आत्मनिर्णय का अधिकार' भारत की ठोस परिस्थितियों में लागू नहीं होता है।